



**POLITICAL STRUCTURES AND STATE
FORMATION IN ANCIENT INDIA**
EDITED BY
Dr. MANU SHARMA

Printed by
LAXMI PUBLICATIONS (P) LTD.
113, Golden House, Daryaganj,
New Delhi-110002
for
Lovely Professional University
Phagwara

(Units)	(CONTENTS)	(Page No.)
1. पूर्व-राज्य से राज्य (Pre-State to State) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		1
2. गणराज्यों से साम्राज्य (Territorial State to Empire) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		24
3. राज्य व्यवस्था 200 ई. पू. से 300 ई. तक (Polities from 2nd B.C. to 3rd A.D.) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		39
4. राज्य व्यवस्था 300 ई. से 600 ई. तक (Polities from 3rd A.D. to 6th A.D.) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		57
5. मौखरी-वर्द्धन युग (Maukhary-Vardhan Age) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		89
6. उत्तर-भारत में प्रारंभिक-मध्यकालीन राज्य -व्यवस्था (700 से 1200 ई. तक) (Early-Medieval Polities in North-India) (7th to 12th A.D.) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		97
7. प्रायद्वीपीय भारत में प्रारंभिक राज्य -व्यवस्था (600 से 800 ई. तक) [Early Medieval Polities in Peninsular India (6th to 8th A.D.)] <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		113
8. प्रायद्वीपीय भारत में प्रारंभिक मध्यकालीन राज्य व्यवस्था (नवीं से बारहवीं सदी तक) (Early Medieval Polities in Peninsular India) (9th to 12th A.D.) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		120
9. दिल्ली सल्तनत के राज्य (State Under Delhi Sultanate) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		128
10. विजयनगर और बहमनी काल (Vijaynagar and Bahamani Period) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		133
11. भारत में पुर्तगालियों का आगमन (Portuguese Arrival in India) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		145
12. उत्तर-भारत में साम्राज्य के लिए संघर्ष (लगभग 1400-1525) (Conflict from Empire in North-India) (Near 1400-1525) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		152
13. 18वीं सदी की राज्य-व्यवस्था (The 18th Century Polities) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		156
14. औपनिवेशिक शक्तियाँ (Colonial Powers) <i>Manu Sharma, Lovely Professional University</i>		166
15. ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य (The British Colonial State) <i>Santosh Kumar, Lovely Professional University</i>		173

नोट

इकाई-1: पूर्व-राज्य से राज्य

(Pre-State to State)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 1.1 राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त (Theory of Origin of State)
- 1.2 विभिन्न प्रकार के राज्य (Different Types of State)
- 1.3 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त (Saptang Theory of State)
- 1.4 प्राचीन भारत में प्रभुता का सिद्धान्त (Theory of Sovereignty in Ancient India)
- 1.5 प्राचीन भारत में राज्य की अन्य विशेषताएँ (Other Features of State in Ancient India)
- 1.6 राज्य के उद्देश्य व कार्य (Function and Purpose of State)
- 1.7 सारांश (Summary)
- 1.8 शब्दकोश (Keywords)
- 1.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 1.10 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त एवं विभिन्न प्रकार के राज्य को समझने में;
- राज्य का सप्तांग सिद्धान्त एवं प्रभुता का सिद्धान्त को समझने में;
- राज्य के उद्देश्य एवं कार्य को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मानव समाज के विकास और उत्कर्ष में राज्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस विषय में शुक्रनीति में कहा गया है—“जैसे कि इन्द्र की पत्नी कभी भी विधवा नहीं हो सकती, (क्योंकि इन्द्र का पद कभी रिक्त नहीं होता और उसका सम्बन्ध पद से होता है) उसी प्रकार धर्म-विमुख लोग भी, जो शासन को ही नहीं चाहते, राजा (राज्य) के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते।” **सोमदेव** कहता है कि “प्रजाजन अपना मूल राजा में पाते हैं, ऐसे वृक्ष के लिए जिसका मूल ही न हो, मानव-बुद्धि और प्रयत्न क्या कर सकते हैं।” “नीतिवाक्यामृत” के लेखक सोमदेव ने अपने ग्रन्थ के प्रथम सूत्र में ही राज्य को नमस्कार किया है, क्योंकि राज्य ही धर्म और अर्थ का फल देने वाला वृक्ष है (अथ धर्म्मार्थफलाय राज्याय नमः)। इसी प्रकार शुक्र ने भी कहा है—“राज्य रूपी वृक्ष को नमस्कार है,

नोट

षाड्गुण्य जिसकी शाखाएँ हैं, सामादि जिसके चार फूल हैं और जो त्रिवर्ग फल देने वाला है। (नमोस्तु राज्य-वृक्षाय षाड्गुण्याय प्रशाखिने। सामादि-चारु-पुष्पाय त्रिवर्ग फल दायिने।) ”

राज्य का महत्व इस बात से भी सहज ही समझा जा सकता है कि विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में अराजक-राजहीन दशा का भयावह रूप चित्रित है, जिससे त्राण पाने के लिए संगठन और क्रमिक रूप से राज्य का विकास हुआ। मनुस्मृति में बतलाया गया है कि राजा के न होने पर जब प्रजा इधर-उधर भागने लगी तब भगवान ने चराचर की रक्षा हेतु राजा की सृष्टि की। कुछ लेखकों ने राजा (अथवा राज्य) की उत्पत्ति से पूर्व की दशा को मत्स्य न्याय की स्थिति बताया है। वाल्मीकि रामायण में अराजक दशा का सजीव चित्र अंकित किया गया है—



उदाहरण ‘जैसे बिना जल की नदी अथवा घास-फूस के बिना वन अथवा बिना चरवाहे गौएँ होती हैं वैसे ही बिना राजा का राज्य है। अराजक राष्ट्र में कोई किसी का नहीं होता, मछलियों की भाँति मनुष्य एक-दूसरे का भक्षण करते हैं।’

इससे स्पष्ट होता है कि अव्यवस्था से व्यवस्था अर्थात् राजनीतिक संगठन उत्पन्न हुआ। व्यवस्था बनाये रखने तथा जनता के सुख व समृद्धि के लिए हिन्दू राजनीतिक विचारकों ने राज्य को अति आवश्यक एवं उपयोगी माना है। प्राचीन भारत में इसी कारण अराजकवादी विचारधारा का किसी भी विचारक ने समर्थन नहीं किया।

1.1 राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त (Theory of Origin of State)

पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारों में उन चारों ही सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है, यद्यपि किसी भी हिन्दू राजशास्त्री ने उनमें से किसी एक सिद्धान्त का भी क्रमबद्ध अथवा विस्तारपूर्वक प्रतिपादन नहीं किया है। इन सिद्धान्तों का सारांश तथा उनसे सम्बन्धित भारतीय विचारकों के मतों का विवेचन संक्षेप में निम्नलिखित है—

दैवी सिद्धान्त

यह प्राचीन सिद्धान्त है, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि राज्य की स्थापना आरम्भ में ईश्वर द्वारा हुई। यहूदी धर्म ग्रन्थों में उल्लेख है कि ईश्वर ने स्वयं आकर राज्य स्थापित किया; अन्य धर्म ग्रन्थों के अनुसार ईश्वर ने किसी दैवी पुरुष को प्रेरित कर राज्य की रचना की। बाइबिल में उल्लेख है कि प्रत्येक आत्मा-मनुष्य सर्वोच्च शक्तियों के अधीन है, क्योंकि सभी शक्तियों का स्रोत ईश्वर है। प्राचीन भारत में अधिकतर संस्थाओं की उत्पत्ति दैवी मानी जाती थी और राज्य की उत्पत्ति के विषय में भी ऐसी ही धारणा थी। प्राचीन भारत में राजा को देवांश माना जाता था, अर्थात् राजा की उत्पत्ति विभिन्न देवों के अंश से हुई। इस सिद्धान्त का उल्लेख ऋग्वेद और यजुर्वेद आदि वैदिक साहित्य, ब्राह्मण ग्रन्थों, स्मृति, साहित्य, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। मत्स्य-पुराण में उल्लेख है कि ब्रह्मा ने राजा की सृष्टि की जिससे कि वह सभी प्राणियों की रक्षा कर सके (दण्ड प्रणयनार्थं राजा सृष्टः स्वयंभुवा)। मनु ने यहाँ तक कहा है कि बालक राजा का भी इस विचार से अपमान नहीं करना चाहिए कि वह साधारण मनुष्य होता है। वह देवता है यद्यपि रूप में वह मनुष्य ही है। वेदों के अनुसार भी राजा को स्वयं इन्द्र समझना चाहिए और उसका इन्द्र के ही समान आदर करना चाहिए। महाभारत के शान्तिपर्व में यह वर्णन है कि प्राचीन काल में जब अराजकता फैली हुई थी, मनुष्यों ने आपस में एक समझौता किया और वे ब्रह्मा के पास गये और प्रार्थना की कि वह किसी को राजा बना दे। ब्रह्मा ने मनु को प्रथम राजा बनाया।

वैदिक परम्परा के अनुसार राजा में इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर-विभिन्न देवों के अंश विद्यमान रहते हैं, परन्तु महाभारत के अनुसार कोई भी राजा केवल अभिषेक समारोह के उपरान्त ही राजा बनता है। इस विषय में दीक्षितार ने लिखा है—“जब कि स्टुअर्ट राजाओं का दैवी अधिकार में विश्वास था, राजा की शक्ति के विषय में हिन्दू संकल्पना यह थी कि प्रजा की रक्षा करना ईश्वर द्वारा विहित कर्तव्य है। प्रमथनाथ बनर्जी का विचार है कि केवल धार्मिक राजा ही दैवी समझा जाता था और राजा देवता नहीं वरन् नरदेवता माना जाता था। परन्तु डा. घोषाल ने शान्ति पर्व के अध्याय 58 के अन्तिम श्लोक को उद्धृत करते हुए यह तर्क दिया है कि राजा केवल

नोट

मात्र देवता नहीं वरन् देवता के तुल्य होता है। शुक्राचार्य के अनुसार राजा नरदेवता ही है। वह इस अर्थ में देवता है कि वह अपनी प्रजा को अभय प्रदान करता है।”

प्राचीन भारत में प्रतिपादित दैवी सिद्धान्त सम्बन्धी विचारों की पाश्चात्य विचारों से तुलना करते हुए डॉ. घोषाल ने कहा है—‘पश्चिम में प्रतिपादित दैवी सिद्धान्त की मुख्य बातें ये हैं—1. राजतन्त्र ईश्वरकृत संस्था है; 2. राजाओं को शासन का आनुवंशिक अधिकार है; 3. राजा केवल ईश्वर के ही प्रति उत्तरदायी है; 4. राजाओं का विरोध नहीं करना चाहिए; और 5. राजतन्त्र ही शासन का अनन्य उचित रूप है। परन्तु प्राचीन भारत में दैवी सिद्धान्त के सम्बन्ध में भिन्न धारणाएँ थीं। प्राचीन भारतीय विचारक यह नहीं मानते कि राजा केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी होता है; इसके विपरीत स्मृतियों की धारणा तो यह है कि राजा धर्म और कानूनों के अधीन होता है। जहाँ तक राजा का विरोध न करने के सिद्धान्त का सम्बन्ध है जैन ग्रन्थ नीतिकाव्यामृतम तथा शुक्रनीतिसार से ऐसे उद्धरण निकाले जा सकते हैं जो बुरे राजा के प्रति भी आज्ञा-पालन का परामर्श देते हैं, परन्तु इससे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मनु और भीष्म ने बुरे राजा के विरुद्ध विरोध को न्यायोचित ठहराया है। अन्त में, प्राचीन भारतीय सिद्धान्त में ऐसा कोई समानान्तर सिद्धान्त नहीं है कि जन्म द्वारा प्राप्त अधिकार छीना नहीं जा सकता। इस विषय में प्राचीन भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण भीष्म ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—“लोगों को ऐसे राजा का जो प्रजा की रक्षा न करता हो, राज्य वैसे ही छोड़कर चले जाना चाहिए जैसे समुद्र में यात्री सुराख वाली नाव को छोड़ देते हैं।” डेक्कीयर के मतानुसार राजा के अर्द्ध-देव की धारणा का (प्राचीन भारत में) यह कभी भी उद्देश्य नहीं रहा कि अनुत्तरदायी शासन को न्यायोचित ठहराया जाये; इसने सत्ता के प्रति आदर की भावना को प्रोत्साहन दिलाने वाले साधन का काम किया। रामायण, महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे अनेक राजाओं के उदाहरण हैं जिन्हें उनकी प्रजा ने सिंहासन से अलग किया तथा हत्या भी की, यथा वेण और राजा सगर का पुत्र असमंज। आधुनिक राजशास्त्री इस सिद्धान्त को बुद्धिसंगत नहीं मानते और इसे सर्वथा त्याग दिया गया है। वास्तव में, आज के युग में तो राजतन्त्र का स्थान ही प्रजातन्त्र अथवा अन्य प्रकार के शासन ने ले लिया है।

शक्ति द्वारा अथवा युद्ध में उत्पत्ति का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के नाम से ही स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति शक्ति-प्रसार की भावना या आधिपत्य प्रयोग से हुई। इसके अनुसार शक्तिशाली कबीलों, जनों के सरदारों ने दुर्बल कबीलों अथवा जनों पर विजय प्राप्त कर राज्य की स्थापना की। विजयी कबीले का सरदार शासक बना और शेष जन शासित रहे। दूसरे शब्दों में, राजा की उत्पत्ति युद्ध से हुई। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन है कि देवासुर संग्राम में देव पराजित हुए। उन्होंने अपनी पराजय का कारण यह माना कि उनका कोई राजा न था जबकि असुरों का राजा था। अतः उन्होंने भी एक राजा चुनने का संकल्प किया। इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ. जयसवाल ने लिखा है कि यदि इसका कोई ऐतिहासिक महत्व है तो यही कि आरम्भ में आर्यों ने द्रविड़ों से, ‘राजपद’ की संस्था को ग्रहण किया जिन्हें वे असुर कहते थे और उनकी तुलना में अपने को सुर। यह तो एक माना हुआ सत्य है कि प्राचीन आर्य प्रारम्भ में जनों में संगठित थे और प्रत्येक जन का सबसे ज्येष्ठ अथवा शक्तिशाली पुरुष नेता होता था। वही अपने जन का युद्ध में भी नेतृत्व करता था। अतः प्रारम्भिक राज्यों के निर्माण में शक्ति और युद्ध का अवश्य ही महत्वपूर्ण भाग रहा होगा। डॉ. सिन्हा ने राष्ट्र (अथवा प्रथम राज्य) की उत्पत्ति के विषय में लिखा है—“जब आर्यजन (कबीले) निश्चित भूभाग पर रहने लगे तो उन्हें उस भूमि से अवश्य ही प्रेम उत्पन्न हुआ होगा; उस प्रेम के साथ उनमें आदिवासियों के प्रति घृणा और अपने वर्ण (रंग) तथा विजित प्रदेश के रक्षण के लिए गहरी चिंता उत्पन्न हुई होगी। इस प्रकार आर्यों के मन में उसी भूमि के प्रति जहाँ के वे निवासी थे एक सुदृढ़ भावना पैदा हुई होगी, क्योंकि उस भूमि से वह कभी हटना नहीं चाह सकते थे। इस भावना ने, जिसे प्रतिरक्षा व आक्रमण की आवश्यकता ने अधिक सुदृढ़ बनाया होगा, प्रारम्भिक राजनीतिक चेतना का रूप धारण किया होगा और इस प्रकार प्रथम राज्य, जिसे वैदिक आर्यों ने राष्ट्र कहा, उत्पन्न हुआ होगा।



नोट्स

पाश्चात्य विद्वान जैक्स ने कहा है कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्ध करने में कोई कठिनाई नहीं कि आधुनिक ढंग के सभी राजनीतिक समुदायों का अस्तित्व सफल युद्ध-क्रिया का परिणाम है।

नोट

अन्य राजनीतिक विचारक भी यह स्वीकार करते हैं कि राज्य की उत्पत्ति में शक्ति का प्रयोग अथवा युद्ध एक महत्वपूर्ण योग देने वाला कारण रहा है, परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारत में शक्ति सिद्धान्त का किसी विचारक ने प्रतिपादन नहीं किया।

अनुबन्ध (संविदा) का सिद्धान्त

पाश्चात्य जगत में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मुख्यतः 17वीं शताब्दी में हॉब्स, लॉक और रूसो ने किया। उनके अनुसार एक अवस्था ऐसी थी जबकि मनुष्यों का कोई राजनीतिक संगठन न था, जिसे उन्होंने 'प्राकृतिक अवस्था' (State of Nature) कहा है। हॉब्स के मतानुसार वह अवस्था अति भयावह थी, सभी मनुष्य आपस में जंगली पशुओं की भाँति लड़ते थे और न्याय व व्यवस्था का कोई स्थान न था। सभी का जीवनकाल थोड़ा और जीवन घृणित था। ऐसी दशा में सभी ने संतुष्ट हो परस्पर एक समझौता किया और एक व्यक्ति-लिवियाथन-को अपने सारे अधिकार सौंपकर सर्वशक्तिमान राजा बनाया। लॉक की दृष्टि में प्राकृतिक अवस्था साधारण रूप में अच्छी और शान्तिपूर्ण थी; परन्तु उसमें कुछ असुविधाएँ थीं; जिनके कारण प्रथम समझौते से सामाजिक संगठन और दूसरे से सरकार की स्थापना की। प्रभुता समुदाय में निहित रही और सरकार को सीमित सत्ता प्रदान की गई। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था के प्रारम्भिक काल में मानव जीवन अति सुन्दर, सुखमय और शान्तिमय था; मनुष्य स्वतन्त्र तथा सम थे। अतः वह काल एक प्रकार का स्वर्णिम युग था; परन्तु कालान्तर में जनसंख्या बढ़ी, सम्पत्ति का उद्भव हुआ और समाज में अनेक दोष उत्पन्न हो गये। ऐसी परिस्थितियों में मनुष्यों ने आपस में एक ऐसा समझौता किया, जिसके परिणामस्वरूप प्रभुता समुदाय में निहित हो गई, किन्तु व्यक्तियों की स्वतन्त्रता कम नहीं हुई। समुदाय की इकाई होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति प्रभुता के प्रयोग में भागीदार रहा, परन्तु समुदाय द्वारा सामान्य इच्छा के आधार पर बनाये गये कानूनों को मानना सभी सदस्यों के लिए आवश्यक हो गया।

भारत के प्राचीन साहित्य में संविदा सिद्धान्त और प्राकृतिक (राज्यहीन) अवस्था का उल्लेख मिलता है। कुछ लेखकों ने प्राकृतिक अवस्था का चित्रण मत्स्य न्याय की अवस्था के रूप में किया है; साथ ही उससे पूर्व शान्तिपूर्ण और धर्ममय अवस्था के युग का भी वर्णन मिलता है। इस सम्बन्ध में **बन्धोपाध्याय** का कथन है—'प्राकृतिक अवस्था के बारे में दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। एक समूह के विचारकों के अनुसार, सृष्टि के आरम्भ से ही धर्म का अस्तित्व था, किन्तु राजा का नहीं। उनकी दृष्टि में उस अवस्था में जीवन की दशा आदर्श सुख की थी। मनुष्य अपने ऊपर धर्म का शासन मानते थे और एक-दूसरे के अधिकारों का आदर करते थे, यद्यपि उस काल में न कोई राजा था और न दण्ड अथवा दण्ड देने वाला ही था, परन्तु इस प्रकार की आदर्श अवस्था दीर्घकाल तक न चली; सामाजिक संगठन में लोभ जैसे दोष आ गये, समाज विघटन की स्थिति में आने को था, देव महादेव के पास गये और उसने मनुष्यों के मार्गदर्शन हेतु उन्हें एक सम्पूर्ण कानून-संग्रह दिया। बाद में विष्णु ने उन्हें अपना एक मानस-पुत्र-विरजस-राजा के रूप में दिया। उसके एक उत्तराधिकारी ने राजा के कर्तव्यों को स्वीकार किया और उसके कुछ वंशजों ने अच्छे ढंग से शासन किया, परन्तु जब उनमें से एक वेण अत्याचारी हुआ तो उसे ऋषियों ने मार दिया। अत्याचारी के शरीर से जब यज्ञ किया गया तो उसकी दाहिनी बाहु से पृथु उत्पन्न हुआ। उसने अच्छी प्रकार से शासन करने की शपथ ली; इस प्रकार राजपद की स्थापना हुई और राजा के कर्तव्य विहित किये गये।' दूसरे सिद्धान्त के प्रतिपादक यह मानकर चले कि प्राकृतिक अवस्था में न राजा था और न धर्म के नियम ही थे। परिणामस्वरूप उस समय एक युद्ध की अवस्था का अस्तित्व था; मनुष्य एक-दूसरे को ऐसे खाते थे जैसे बड़ी मछली छोटी को खाती है। अधिक शक्तिशाली दूसरों की सम्पत्ति और स्त्रियों को छीन लेते थे। इस शक्ति के शासन से मानव समाज प्रायः अन्त के निकट पहुँच गया था, उस समय उन्होंने कुछ अभिसमयों (conventions) को स्वीकार किया, जिससे दुष्टों को दण्ड दिया जा सके। उसके बाद वे ब्रह्मा के पास गये और प्रार्थना की कि वह उनके ऊपर राजा नियुक्त करे जिसे वे रक्षा के बदले में निष्ठा, अनाज, स्वर्ण और अन्य वस्तुएँ देने को तैयार हुए। आरम्भ में मनु ने मना किया, किन्तु बाद में वह मनुष्यों का प्रथम राजा बना। प्राकृतिक अवस्था के इन दोनों रूपों को दीक्षितार ने भी स्वीकार किया है। वह लिखता है कि अर्थशास्त्र और इतिहासों में प्रतिपादित मूल प्राकृतिक अवस्था आदर्श सुख की थी जो कालान्तर में असुरक्षा व जंगलीपन की अवस्था में बदल गई।

नोट

संविदा-सिद्धान्त का उल्लेख बौद्ध धर्म ग्रन्थों में भी मिलता है। दीर्घ निकाय में वर्णन है कि आरम्भ में मूल प्राकृतिक अवस्था थी, जबकि प्रत्येक वस्तु पूर्ण थी और लोग सुख से रहते थे। जब उस आदर्श अवस्था में पतन होना शुरू हुआ तो लोक एकत्रित हुए और उन्होंने अपने में से एक शक्तिशाली व्यक्ति को राजा चुना, जिसे महासम्मत (The Great Elect) कहा गया। महावस्तु अवदान में भी कुछ ऐसी ही धारणा अभिव्यक्त हुई है। यहाँ कर और रक्षा के विचार अन्तर्गुह्य हैं। डा. घोषाल का कथन है कि संविदा का बौद्ध सिद्धान्त हिन्दू राजनीतिक विचारों में वस्तुतः अकेला उदाहरण है; परन्तु उसके उत्तर में डा. जयसवाल का कथन है कि संविदा पर आधारित राजतन्त्र के सिद्धान्त का समर्थन वैदिक प्रार्थना गीतों और राजा के निर्वाचन सम्बन्धी गीतों से तथा अभिषेक समारोह पर ली जाने वाली शपथ से होता है। बौधायन धर्म सूत्र में भी कहा गया है कि राजा प्रजा की रक्षा और उसके कल्याण के बदले में कर रूप में 1/6 भाग का दावा कर सकता था। महाभारत (शान्ति पर्व अध्याय 66) में भी अनुबन्ध का विचार मिलता है। वास्तव में, ऐतरेय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी संविदा सिद्धान्त का वहाँ अस्पष्ट आभास मिलता है जहाँ यह उल्लेख है कि राजपद की उत्पत्ति देवताओं में निर्वाचन द्वारा हुई, जिससे कि वे असुरों के विरुद्ध युद्ध को सफलतापूर्वक चला सकें। श्री रामशरण शर्मा के अनुसार महाभारत के शान्ति पर्व में दिये गये दोनों सिद्धान्तों में सामान्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि उनमें से एक भी बौद्ध सिद्धान्त की भाँति, राजा के निर्वाचन का उल्लेख नहीं करता। इस प्रकार निर्वाचन का तत्व जो ब्राह्मणों व कौटिल्य में दिखाई पड़ता है, शान्ति पर्व से निकाल दिया गया है। इस अर्थ में राजा की उत्पत्ति के सिद्धान्तों को उद्भव में अलोकप्रिय समझा जा सकता है। प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में पूर्व वर्णित दो सिद्धान्तों के विवेचन से बन्धोपाध्याय ने ये निष्कर्ष निकाले हैं—

1. समाज के अस्तित्व के लिए राजत्व आवश्यक है;
2. राजा की सत्ता की अनुपस्थिति का परिणाम हिंसा है;
3. यद्यपि राजा में शक्ति और अधिकार निहित हैं, तथापि उसे सीमा के भीतर रहना आवश्यक है; और
4. राजा की उत्पत्ति में दैवी हस्तक्षेप रहा (कदाचित् इसका कारण यह है कि भारतीय मस्तिष्क पुराने धार्मिक विचारों से स्वतन्त्र न हो सका था)। परन्तु दोनों सिद्धान्तों के बीच विवाद की बात यह है कि प्रथम सिद्धान्त में राजपद को दैवी संस्था समझा जाता है, यद्यपि बाद में राजा के अधिकारों पर बन्धन लगा दिये गये और उसे शपथ लेनी पड़ी, जबकि दूसरे सिद्धान्त के अनुसार राजपद को मानव संस्था समझा जाता है जिसका मूल्य उसकी उपयोगिता में है। संक्षेप में, इस सिद्धान्त में ये बातें अभिरुचिपूर्ण हैं—प्रथम, राजा की अनुपस्थिति में युद्ध की अवस्था का अस्तित्व था। दूसरी, प्राचीनतम राजाओं ने वर्ण के आधार पर शासन किया।



क्या आप जानते हैं? प्रभुता जनता में निहित है और वह अत्याचारी शासक को हटाकर नये राजा का निर्वाचन कर सकती है।

तीसरी, राजा को अधिकार दो पक्षों के बीच हुए संविदा से प्राप्त हुए हैं। जैसा कि आरम्भ में ही बताया गया है हॉब्स के मतानुसार, मनुष्यों ने आपस में समझौता किया और अपने सारे अधिकार राजा को सौंप दिये। इस प्रकार राजा सर्वशक्तिमान बन गया और प्रजा के कोई अधिकार नहीं रहे। भारतीय विचारकों के अनुसार समझौता दो पक्षों के बीच हुआ, जिसके अनुसार राजा के भी कुछ दायित्व हैं। भारतीय विचारकों ने प्राकृतिक अवस्था का चित्रण एक ओर हॉब्स और दूसरी ओर लॉक व रूसो द्वारा किये गये चित्रण से मिलता-जुलता किया है। परन्तु लॉक व रूसो द्वारा प्रतिपादित संविदा सिद्धान्त के अनुसार प्रभुता समुदाय में निहित रहती है। लॉक कहता है कि समुदाय सरकार को स्थापित करता है, जिसकी सत्ता सीमित रहती है। रूसो कहता है कि समुदाय स्वयं कानून बनाता है। इस प्रकार लॉक और रूसो लोकप्रिय प्रभुता व प्रजातन्त्रवाद का समर्थन करते हैं इसके अतिरिक्त लॉक ने मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों पर भी बल दिया है। इन विचारों के विपरीत भारतीय विचारकों ने केवल राजपद की स्थापना के लिए संविदा सिद्धान्त को माना है। साथ ही भारतीय विचारकों ने राजपद की स्थापना में दैवी हस्तक्षेप को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इसी कारण अलतेकर का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

“प्राचीन भारतीय आचार्य लॉक और हॉब्स की भाँति बुद्धिवाद के युग में नहीं रहते थे। उन्होंने इन प्रश्नों पर अर्द्ध-लौकिक दृष्टि से ही विचार किया था। अतः न तो वे इस समस्या के तल तक पहुँच सके और न वे

नोट

शासन-संस्था तथा प्रजा के अधिकारों की ही स्पष्ट सीमा निर्धारित कर पाये। उन्होंने यह तो कह दिया कि राज्य द्वारा अपने संरक्षण और सेवा के बदले ही प्रजा राजा को कर देती तथा उसका अनुशासन मानती है और राजा के कर्तव्यच्युत होने पर उसे हटाने और मार डालने का भी प्रजा को अधिकार है, पर उन्होंने यह कहीं नहीं बताया कि किन-किन परिस्थितियों में राजा इकरारनामा तोड़ने का दोषी समझा जाये और किन व्यावहारिक विधानयुक्त साधनों द्वारा प्रजा उसके इकरारनामे की शर्तों का पालन बाध्य रूप से कराए। आततायी राजा को हटाने या वध करने का अधिकार प्रजा को देना ही इस बात का प्रमाण है कि प्रजा ही राजसत्ता की मूल अधिकारी है और उसी का अधिकार सर्वोच्च है। डा. घोषाल के मतानुसार भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों में मूल अन्तर इस बात का है कि भारतीय विचारक उसे राज्य के दार्शनिक सिद्धान्त के उस स्तर तक न उठा सके जिसे कि पाश्चात्य विचारक प्राप्त कर सकें। चूँकि जबकि पाश्चात्य विचारकों ने अनुबन्ध की शर्तों का इस प्रकार से निर्वचन किया है कि वे राजनीतिक संघ के मूल तक जाते हैं और उससे प्रभु की सत्ता के बारे में सिद्धान्त निकालते हैं, भारतीय विचारक साधारणतः इसी बात से सन्तुष्ट हैं कि उन्होंने (कर व रक्षा के पारस्परिक दायित्वों की शब्दावली में) सविदा का प्रजा के प्रति राजा के दायित्वों के पेचीदा सिद्धान्त के रूप में विवेचन किया।”

विकास का सिद्धान्त

आधुनिक विचारकों के अनुसार, सर्वाधिक मान्य तथा सन्तोषजनक सिद्धान्त यही है। इसके अनुसार राज्य विकास का फल है। राज्य का आरम्भ मनुष्य जीवन के साथ-साथ अर्थात् परिवार के रूप में हुआ; अस्तु के अनुसार तो मनुष्य सामाजिक प्राणी है, एक अर्थ में राज्य का अस्तित्व मनुष्य स्वभाव में निहित है। परिवारों से मिलकर गाँव बने और गाँवों से मिलकर राज्य बने। प्रारम्भिक परिवारों का रूप कैसा था इस सम्बन्ध में दो मत हैं—कुछ विचारकों की दृष्टि में प्रारम्भिक परिवार पितृप्रधान थे और कुछ की दृष्टि में मातृप्रधान। प्राचीन आर्यों के सामाजिक संगठन का आधार परिवार था, जिसका बड़ा रूप कुल था। कुलों से मिलकर गाँव बने और गाँवों के समूह से विशः तथा जन बने। उनके अध्यक्ष क्रमशः कुलपति, ग्रामपति, विशपति और जनपति कहलाये। अथर्ववेद में इसी सिद्धान्त का समर्थन दिखाई पड़ता है। **अलतेकर** ने लिखा है—“तुलनात्मक भाषा-विज्ञान से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि अपने आदि देश में भी आर्य सम्मिलित कुटुम्बों में रहते थे।” इस परिवार के गृहपति का परिवार के सदस्यों पर पूर्ण प्रभुत्व था। ..प्रागैतिहासिक काल में आर्य जातियों में कुटुम्ब के गृहपति के अधिकार और पद प्रायः राजा के ही समान थे।.. ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्य-जन कुटुम्बों, विशों और जनो में विभाजित थे। जन्मन् सम्भवतः एक ही पूर्वज के वंशजों का ग्राम था। इस प्रकार के कई ग्रामों का समूह विश कहलाता था और इनका मुखिया विशपति। कई विशों को मिलाकर जन बनता था जिसके प्रमुख को जनपति या राजा कहते थे। शामशास्त्री ने भी इसी मत का समर्थन किया है, किन्तु उसका यह कहना है कि अविकसित अवस्था में परिवारों का रूप मातृप्रधान रहा होगा। इसका प्रमाण यह है कि प्राचीनकाल में बच्चों के नाम पिता की अपेक्षा माता के नाम पर चलते थे, यथा दिति के पुत्र दैत्य, कुन्ती के पुत्र कौन्तेय कहलाते थे। किन्तु जब आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया तो उनके परिवारों का संगठन पितृप्रधान बना जैसा कि अथर्ववेद से प्रकट होता है। **नरेन्द्र नाथ ला** ने भी कहा है— “हो सकता है कि मानव समाज की सभी शाखाएँ संयुक्त परिवारों से विकसित हुई हों या न हुई हों, परन्तु जहाँ कहीं भी यह आर्य जाति की संस्था रही है, हम देखते हैं कि परिवार का मुखिया ही राजनीतिक अध्यक्षता तक उठ सका।”

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the Blanks)–

1. मानव समाज के विकास और उत्कर्ष में का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।
2. पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है।
3. सिद्धांत के अनुसार राज्य की स्थापना आरंभ में ईश्वर द्वारा की गई।
4. आधुनिक विचारकों के अनुसार राज्य का फल है।

1.2 विभिन्न प्रकार के राज्य (Different Types of State)

नोट

प्राचीन भारत में साधारणतः राज्य (अथवा शासन) का प्रचलित रूप राजतन्त्र था, परन्तु अन्य प्रकार के भी राज्य पाये जाते थे। इनके अतिरिक्त प्राचीन साहित्य में 'वैराज्य' शब्द भी मिलता है और राजतन्त्र के अनेक रूप थे, जिन्हें एक अर्थ में विभिन्न प्रकार के राज्य कहा गया है और माना जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्टतः कहा गया है—'सब जनता का कल्याण हो, साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय, सामन्त-पर्यायी राज्य शासन के विभिन्न प्रकार हैं। सार्वभौम सम्राट पूर्ण आयु तक जीवित रहे, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एक राजा हो। अतः यहाँ पर विभिन्न प्रकार के राज्यों (अथवा शासन के रूपों) का संक्षिप्त विवेचन देना आवश्यक समझते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

वैराज्य—प्रारम्भिक राजविहीन शासन भी, जिसे वैराज्य कहा गया है, एक प्रकार की शासन व्यवस्था थी और वह 'अराजक' दशा से भिन्न थी। वैराज्य में राजा नहीं होता, अतः सब लोग मिलकर अपना शासन प्रबन्ध करते हैं। यह उस प्राथमिक अवस्था का द्योतक है जब राजा नहीं था और राजा नियुक्त करने की व्यवस्था समाज में नहीं आई थी। जब सतयुग था और सभी मनुष्य धर्मात्मा थे वे स्वयं शासित थे, अतः किसी प्रकार के शासक की आवश्यकता न थी। उसमें सम्पूर्ण जाति अथवा सब मिलकर अपनी व्यवस्था करते थे; इसमें शासन का कोई एक अध्यक्ष नहीं होता। इस विषय में श्री रामशरण शर्मा ने लिखा है कि कौटिल्य के अनुसार कुछ प्रदेशों में वैराज्य शासन था, जिसमें राजा का कोई पद न था और जनता में 'मेरा व तेरा' की भावना उत्पन्न न हुई थी। ऐतरेय ब्राह्मण में विभिन्न प्रकार के शासनों को वर्गीकृत करने का प्रथम प्रयास किया गया है, जहाँ 'स्वराज्य' और 'वैराज्य' को गणतन्त्रीय संविधान के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। वे प्रदेश जहाँ कि ये दोनों प्रकार के शासन पाये जाते थे, यह संकेत देते हैं कि आर्यन-भारत के अधिकांश भाग—उत्तरी व पश्चिमी भारत में अनेक प्रकार के गणतन्त्रीय संविधान थे, जो आगे चलकर राजतन्त्र में बदले गये।

स्वराज्य (अथवा स्वाराज्य)—इसके विषय में, वाजपेयी के अनुसार, ऋग्वेद में एक मन्त्र और अथर्ववेद में भी एक मन्त्र मिलता है, जिनमें पहले का अर्थ है—'हे मित्रों, जिनकी दृष्टि विशाल हुई है तुम और हम सब विद्वान मिलकर अनेकों की सहायता से पालन होने वाले स्वराज्य में भली-भाँति यत्न करें।' दूसरे का अर्थ है—'जो अज या नेता पहले उत्पन्न हुआ, उसी ने उस स्वराज्य को प्राप्त किया, जिससे श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है।' इन दोनों मन्त्रों से स्पष्ट है कि स्वराज्य पद्धति के लिए बहुत कुशल मनुष्यों की अपेक्षा होती है और इससे बढ़कर कोई पद्धति नहीं है। स्वराज्य पद्धति नीच्यों व अपाच्यों में प्रचलित थी। (जयसवाल के अनुसार सिन्धु नदी के मुहाने के आसपास नीच्य और उसके ऊपर अपाच्य बसते थे)। इसी सम्बन्ध में वाजपेयी का कथन है कि पश्चिम में सौराष्ट्र है, जो सम्भवतः पहले सुराष्ट्र या स्वराट् कहलाता होगा, जिससे बिगड़कर सुराट् या सूरत बन गया हो। स्वराट् का अर्थ स्वयं प्रकाशवान् या स्वयं शासन करने वाला है। यह वहाँ के राजा की पदवी थी और राज्य स्वराज्य या स्वाराज्य कहलाता था। डॉ. जयसवाल ने वैराज्य और 'अराजक' (राजा-हीन राज्य) दोनों के विषय में लिखा है। वैराज्य का शाब्दिक अर्थ है 'राजा-हीन संविधान'। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ऐसे राष्ट्रीय संविधान उत्तर के कुछ राष्ट्रों में थे, परन्तु डॉ. जयसवाल के मतानुसार यजुर्वेद, के काल में ऐसे संविधान का अनुसरण दक्षिण में भी होता था। लेखक ने 'अराजक' राज्य उसे बताया है जहाँ एक प्रकार का आदर्श संविधान था। इसका आदर्श यह था कि धर्म (Law) को शासक माना जाता था। राज्य का आधार नागरिकों में आपसी सहमति अथवा सामाजिक संविदा था। यह एक प्रकार से प्रजातन्त्र का अतिवादी रूप था। महाभारत (शान्ति पर्व अध्याय 59) में इस प्रकार के सतयुग का वर्णन मिलता है। दूसरे स्थान पर (अध्याय 67 में) इसका वर्णन कुछ भिन्न प्रकार से किया गया है।

भौज्य—प्रजा-जनों को भोजन आदि आवश्यक उपभोगों की सुव्यवस्था जहाँ राज्य द्वारा की जाती है उस राज्य को 'भौज्य' कहते हैं। प्रजा को काम मिले और काम पर उचित दाम मिले जिससे उसका योगक्षेम सुचारु रूप से चले, यह देखना ऐसे राज्य का मुख्य कर्तव्य है। रहने के लिए घर, धारण करने के लिए वस्त्र, पीने के लिए शुद्ध जल, खुली हवा, रुग्ण होने पर उपयुक्त औषधि, पूर्ण सुरक्षा की व्यवस्था, शक्ति क्षीण होने की अवस्था में सरकार की ओर से उत्तम प्रबन्ध हो। यह जिस राज्य शासन में होता है, वही भौज्य है। वर्तमान काल में ऐसे राज्य को

नोट

कल्याणकारी राज्य (Welfare State) कहते हैं। इस सम्बन्ध में **वाजपेयी** का मत इस प्रकार है—“विदर्भ या बराबर के राजा महाभारत के समय में कुन्तिभोज कहलाते थे। मालवा की धारा नगरी के राजा भी भोज ही प्रसिद्ध थे। इससे यह सिद्ध हुआ कि भोज दक्षिण देश के राजाओं की उपाधि थी और राज्य भोज कहलाता था। कच्छ के पास भुज है और इसलिए वहाँ के राजा को भोज और राज्य को भौज्य कहा जा सकता है। सम्भवतः दक्षिण से ही राजा भुज गये हों और वहाँ उसे भौज्य नाम दिया गया हो।” परन्तु **डा. जयसवाल** का कथन है कि महाभारत (शान्ति पर्व अध्याय 67) में विभिन्न प्रकार के शासक वर्गों में ‘भोजा’ का उल्लेख है। बाद के शिला-लेखों में ‘भोजा और महाभोजा’ साधारण और उच्चतर वर्गों के नेताओं की ओर संकेत करते हैं। प्रभुता भोजा नेताओं में निहित थी। संविधान ‘भौज्य’ कहलाता था, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण में है। अपने विशेष प्रकार के संविधान के कारण पश्चिमी भारत में एक जन-समूह का नाम ही भोजा पड़ गया।

वेदों में अन्य प्रकार के राज्य—अथर्ववेद में ‘परमेष्ठी प्रजापति’ कई स्थानों पर आया है। परमेष्ठी शब्द का अर्थ है—परम अथवा श्रेष्ठ स्थान में रहने वाला, प्रजा-पालन के श्रेष्ठ कार्य में नियुक्त शासक। ऐसा शासक प्रजाजन द्वारा नियुक्त होता है और यदि वह योग्य रीति से शासन कार्य न करे तो उसे शासक के स्थान से हटाया भी जा सकता है। ऐसे राज्य को परमेष्ठ्य राज्य कहा गया है। इसके अतिरिक्त वेदों में और भी कई प्रकार के राज्य-शासनों का उल्लेख है यथा जान-राज्य, विप्र-राज्य, समर्थ-राज्य, जिनके विषय में कुछ बताना उपयुक्त होगा। जो राज्य-शासन प्रजा की सम्मति से प्रजा की भलाई के लिए, प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है, वह **जान-राज्य** कहलाता है। इसमें शासन के सभी अधिकार प्रजा के अधीन रहते हैं। प्राचीन भारत में अनेक छोटे और बड़े गणराज्य थे। **विप्र-राज्य** वह राज्य होता था जहाँ विशेष ज्ञानी मनुष्य राज्य-शासन का संचालन करते थे। ऐसे राज्य का शासन ब्राह्मणों अथवा धर्मगुरुओं के हाथ में रहता था। आजकल ऐसे राज्य को कुलीनतंत्र अथवा बुद्धितन्त्र कह सकते हैं।



नोट्स

समर्थ-राज्य वह राज्य कहलाता था जहाँ राज्य-शासन धनपति अथवा पूँजीपतियों के हाथ में होता था। आजकल इसे धनिकतन्त्र कहते हैं।

उपरोक्त राज्य-शासनों के विषय में **अलतेकर** का कथन इस प्रकार है—राज्याभिषेक में कभी-कभी कहा गया है कि इस संस्कार से शासक को एक साथ राज्य, स्वराज्य, भौज्य, वैराज्य, महाराज्य और स्वाराज्य पद प्राप्त होंगे। इससे सन्देह होता है कि ये उपाधियाँ विभिन्न प्रकार के राज्यों की सूचिका हैं या नहीं। यह भी हो सकता है कि राज्याभिषेक-संस्कार का महत्त्व दिखाने के लिए ही पुरोहित ने कह दिया हो कि उससे सब विभिन्न पदों की प्राप्ति हो सकती है। इस धारणा का समर्थन ऐतरेय ब्राह्मण के इस कथन से भी होता है कि देश के विभिन्न भागों में राज्य, भौज्य, वैराज्य और साम्राज्य आदि विविध प्रकार के राज्य थे। पूर्ववर्णित विभिन्न प्रकार के राज्य-शासनों के अतिरिक्त प्राचीन भारत में अन्य प्रकार के राज्य-शासन अथवा संविधान भी थे। उनमें राष्ट्रिका, पेतानिका, द्वैराज्य, साम्राज्य, करद राज्य, नगर राज्य व एक प्रकार के मिले-जुले संघ राज्य भी थे। उनके विषय में अति संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है—

राष्ट्रिका और पेतानिका—इनके विषय में डा. जयसवाल ने लिखा है—अशोक के शिलालेखों में भोजा को ‘रथिका’ अथवा ‘राष्ट्रिका’ के सम रखा गया है। अंगुत्तर निकाय पर टिप्पणी में स्पष्ट किया गया है कि पेतानिका आनुवंशिक नेतृत्व है—पितरादत्त सापतेय्य, जो पूर्वजों से चला आया हो। पेतानिका के विपरीत राष्ट्रिका और भोजा से ऐसे नेतृत्व का अर्थ था जो आनुवंशिक नहीं था। यह स्पष्ट है कि अशोक के शिलालेखों में उल्लिखित राष्ट्रिका अराजक (non-monarchical) समुदाय था। उनके शासन का रूप गणतंत्री था। ऐसा प्रतीत होता है कि पेतानिका, राष्ट्रिका अथवा भोजा शासन का ही विकृत रूप था, जहाँ शासक आनुवंशिक आधार पर होने लगे थे।

द्वैराज्य अथवा दो-रज्जनी—कौटिल्य ने द्वै-राज्य को दो का शासन बताया है। इस विषय में **अलतेकर** ने लिखा है—‘स्पार्टा’ की भाँति भारत में भी द्वैराज्य या दो राजाओं द्वारा शासित राज्य थे। सिकन्दर के समय में पाटल राज्य (आधुनिक सिन्ध) में पृथक् वंशों के दो राजाओं का संयुक्त शासन था। अर्थशास्त्र में भी ऐसे राज्य का उल्लेख

नोट

है। ऐसे राज्यों का सूत्रपात शायद इस प्रकार हुआ हो, जब दो भाइयों अथवा उत्तराधिकारियों ने राज्य के विभाजन के बजाय सम्पूर्ण राज्य पर शासन करना ही पसन्द किया हो। परन्तु जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं उसी प्रकार एक ही राज्य में दो राजा भी मिलकर नहीं रह सकते। अर्थशास्त्र इसके पक्ष में नहीं है और जैन साधुओं को ऐसे राज्य में रहने या जाने का निषेध किया गया है। द्वैराज्य शासन-पद्धति किसी समय अवन्ति में थी, जहाँ बिन्दु और अनुविन्द राज्य करते थे। इन्हें विजय करते हुए सहदेव ने हराया था। छठी और सातवीं ई. शताब्दी में नेपाल में भी ऐसी शासन-पद्धति का प्रशस्तियों से पता लगता है।

साम्राज्य—एक शक्तिशाली राजा अथवा राज्य के अधीन कई राज्यों से मिलकर साम्राज्य बनता है और साम्राज्य के शासक को सम्राट कहा जाता है। प्राचीन भारत में सामर्थ्यवान राजा अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए अश्वमेघ यज्ञ करता था। एक घोड़ा छोड़ा जाता था और उसके साथ सेना चलती थी। इसका अभिप्राय यह था कि जहाँ वे जाते थे उनके शासक सम्राट को कर देना स्वीकार कर लें और उसके करद सामन्त बन जायें, अन्यथा उन्हें युद्ध करना पड़ता था। विजयी राजा अपने को सम्राट अथवा सार्वभौम कहता था और उसके अधीन राजा माण्डलिक या करद बन जाते थे। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि अश्वमेघ करके सब राजाओं का पराभव करने से साम्राज्य होता है (राष्ट्रं वा अश्वमेघ : श. ब्रा. 13.1.6.3)। डा. जयसवाल ने साम्राज्य पद्धति को 'सार्वभौम और आधिपत्य' से पुराना बताया है। ऐतरेय ब्राह्मण में इसे राजतन्त्री पद्धतियों से भिन्न बताया गया है। इसका कारण यह है कि साम्राज्य एक ऐसे राज्यों का एक समूह होता था, जो किसी एक राज्य को सर्वोपरि मानते थे। आधुनिक शब्दावली में इसे संघीय साम्राज्यशाही पद्धति (Federal-Imperial-system) कह सकते हैं। संघात्मक रूप के कारण यह 'एक-राजा' वाली पद्धति से भिन्न था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार प्राची (पूर्व) के शासक साम्राज्य के लिए अभिषेक करते थे और मगध (आगे चलकर ऐतिहासिक) साम्राज्य का केन्द्र बना।

डॉ. सिन्हा के मतानुसार प्राचीन भारतीय साम्राज्य न तो एकात्मक थे और न सामन्ती (feudal) संघ वरन् करद पद्धतियाँ (tributary systems) वाले थे। उन साम्राज्यों में एकीकृत नियन्त्रण अथवा प्रभाव क्षेत्र (sphere of influence) अर्थात् चक्र की सीमाओं तक विस्तृत प्रशासनिक तन्त्र नहीं हो सकता था। वे सैनिक शक्ति पर आधारित साम्राज्य थे, जिनमें जीते गये राज्यों अथवा प्रदेशों का शासन उन्हीं के शासकों को लौटा दिया जाता था। उन्हें सामन्ती संघ राज्य भी नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि सामन्तवाद के सिद्धान्त का अभाव था। सामन्ती संगठन का दुहरा स्वरूप होता है—राजनीतिक व सामाजिक। भूमि व्यवस्था पर आधारित होने के कारण यह जनता के राजनीतिक व सामाजिक पद को विनियमित करता है। प्राचीन भारत में सामाजिक संगठन जाति पर आधारित होने के कारण ऐसा होना सम्भव न था। प्राचीन भारतीय साम्राज्य एक प्रकार की करद-पद्धतियों वाले थे और उस काल की शब्दावली में 'चक्र' अथवा अर्थशास्त्र की भाषा में 'मण्डल' थे अर्थात् प्रभाव क्षेत्र के चक्र जिनके ऊपर चक्रवर्ती, एक अधिपति राजा शासन करता था।

सम्राट, अधिपति, सार्वभौम से मिलते-जुलते अन्य विशेषणों अथवा राजाओं की उपाधियों व पदवियों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर मिलता है। इनमें चक्रवर्ती, परमेश्वर, महाराजाधिराज, अखण्ड-भूमिप, विश्वराजा, चतुरान्तेस आदि उल्लेखनीय हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में अनेक सर्वोपरि शासकों के नाम दिये हैं यथा जन्मेजय, सुदास, मरुत, अंग, भरत, पांचाल आदि। इनमें से कुछ पर बी. के. सरकार की टिप्पणियाँ महत्वपूर्ण और अभिरुचिपूर्ण हैं, जिनका सारांश यहाँ देना उचित होगा। यूरोप में सर्वव्यापी साम्राज्य का विचार 14वीं शताब्दी में साकार हुआ, परन्तु भारत में विश्व प्रभुता की संकल्पना वैदिक काल से है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि राजतन्त्र का उच्चतम रूप वह है जिसमें साम्राज्य स्वाभाविक सीमाओं तक विस्तृत हो। शायद प्राचीन विचारक भारतीय महाद्वीप को ही सम्पूर्ण विश्व के रूप में मानते थे। विश्व-राष्ट्रवाद के सिद्धान्त ने हिन्दुओं के राजनीतिक विचारों पर शक्तिशाली प्रभाव डाला। प्राचीन भारतीय शासकों की महत्वाकांक्षा यही रहती थी कि वे सभी शासकों के ऊपर शासक बनें। वे सार्वभौम अथवा एकराट बनना चाहते थे। विश्व-राज्य के विचार को हिन्दू सैद्धान्तिकों ने चक्रवर्ती के सिद्धान्त द्वारा भी अभिव्यक्त किया। इसका आशय यह है कि राज्य के रथ का पहिया (चक्र) बिना रुकावट के सभी ओर घूमता है। चक्र प्रभुता का प्रतीक है; या चक्र से बोध होता है कि समुद्र से समुद्र तक। अतः चक्रवर्ती वह शासक हुआ

नोट

जिसका शासन समुद्रों की सीमा तक फैला हो। महाभारत में वर्णन आता है कि सार्वभौम का पद केवल युधिष्ठिर ने ही प्राप्त किया; अन्य शासक अपने-अपने राज्य के शासक थे।

डी. आर. भण्डारकर के मतानुसार प्राचीन भारत में राजतन्त्र के दो रूप अवश्य थे—प्रथम, अधिपति अथवा सम्राट और दूसरा, करद-शासक अथवा सामंत। दोनों के बीच अन्तर को ऐसे राजाओं की उपाधियों से स्पष्ट किया जाता था। सर्वोच्च शासक को चक्रवर्ती, महाराजाधिराज, सार्वभौम, अधिपति आदि नाम दिये जाते थे। अतः यह मानने में कोई कठिनाई नहीं कि चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व काल में भी भारतीय सर्वव्यापी राजाओं से परिचित थे। शुक्रनीतिसार में राजपद की विभिन्न श्रेणियाँ अथवा शासकों के पद इस प्रकार दिये हैं—सामन्त, माण्डलिक, राजन, महाराजा, सम्राट, सार्वभौम इत्यादि। राजत्व के विभिन्न पदों में उच्चतम को सामंत पर्यायी कहा गया है; ऐसा शासक सार्वभौम होता है; वह सम्पूर्ण प्राणियों का स्वामी (सर्वयुश) होता है; और महासागरों से सीमित सम्पूर्ण अर्थ का एक-राट् होता है। इस प्रकार सामन्त पर्यायी सर्वव्यापी शासक का बोधक है। पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिन्हें विभिन्न प्रकार के राज्य माना जाता है, वास्तव में वे राजत्व की विभिन्न श्रेणियाँ हैं।

अन्त में, दो प्रकार के राज्यों का संक्षिप्त विवेचन देना शेष है। प्रथम, नगर-राज्य और दूसरे, राज्य-संघ अथवा सम्मिलित राज्य। प्राचीन भारत में नगर-राज्य थे, जिनका शासन राजधानी के नगर तथा पड़ोस के क्षेत्र पर था। कई ग्रीक लेखकों ने उनके बारे में लिखा है। एरियन का कथन है कि न्यासा में नगर-राज्य था। जब एलेक्जेंडर ने उस राज्य से 100 प्रतिष्ठित नागरिक जामिन (hostages) के रूप में माँगे थे, तो उनके अध्यक्ष ने कहा था कि 'यदि किसी नगर से एक सौ प्रतिष्ठित और कार्यकुशल नागरिक छीन लिए जायें, तो उसका प्रशासन बिगड़ जाएगा, अन्य नगर-राज्यों में शिवि व पाताल के नाम उल्लेखनीय हैं।' डॉ. बेनी प्रसाद ने भारत पर ग्रीक प्रभाव को बताते हुए लिखा है कि अश्वघोष ने अपने ग्रन्थ 'सौन्दर्य नन्दम काव्यम्' में कहा है कि कुछ राजपुत्रों ने नगर स्थापित किया, परन्तु देखा कि यदि उसके मामलों को सुचारु रूप से चलाना है तो राजा का होना आवश्यक है। अतः उन्होंने अपने में से एक को, जो आयु, अनुशासन तथा गुणों में ज्येष्ठ था, शासक बना दिया। यहाँ नगर का तात्पर्य राज्य से है, इसका शासन निर्वाचित है और इसकी उत्पत्ति लौकिक है, परन्तु यहाँ भी हिन्दू विचारों के लिए कोई नई बात नहीं है, कोई ऐसी बात नहीं है जो कि बौद्ध दर्शन के प्रभाव से उत्पन्न न हुई होती।

राज्य-संघ और सम्मिलित राज्य (Federal State and Composite State)—प्राचीन भारत में राज्य-संघ तथा सम्मिलित राज्य भी थे। 'उत्तर-वैदिक काल में कुरु-पांचालों ने मिलकर एक शासक के अधीन अपना सम्मिलित-राज्य कायम किया था। पाणिनि के समय में क्षुद्रक और मालव राज्य अलग-अलग थे, परन्तु महाभारत में बहुधा इनका एक साथ ही उल्लेख मिलता है। सिकन्दर के आक्रमण का सामना करने के लिए इन्होंने दोनों राज्यों का एक संघ बनाया था, जो एक शताब्दी तक कायम रहा। इसे सुदृढ़ करने के लिए क्षुद्रकों और मालवों में परस्पर 10 हजार विवाह हुए थे। यौधेय गणराज्य भी तीन उपराज्यों का संघ था। अक्सर से संघ अल्पकालीन ही हुआ करते थे। डा. बेनीप्रसाद ने लिखा है कि कलिंग के उदय के साथ दक्षिण में आन्ध्र शक्ति का उदय हुआ। आन्ध्र साम्राज्य, पूर्वगामी और उत्तरगामी साम्राज्य की भाँति एकात्मक राज्य न था; इसने विभिन्न राज्यों की स्थानीय स्वायत्तता को अव्यवस्थित नहीं किया और यह स्वरूप में एक प्रकार का अर्द्ध-संघ (confederation) था। 7वीं शताब्दी का वर्धन साम्राज्य भी एक प्रकार का अर्द्ध-संघ था। इन अर्द्ध-संघात्मक साम्राज्यों के अतिरिक्त विभिन्न जनों ने भी कभी-कभी अस्थायी अर्द्ध-संघों का निर्माण किया। लिच्छवियों ने एक बार मल्लों के साथ संघ बनाया और दोनों ने मिलकर 18 व्यक्तियों की एक कार्यपालिका स्थापित की, जिसमें दोनों के 9-9 सदस्य थे। एक दूसरी बार लिच्छवियों ने विदेहों और अन्य जनों से मिलकर संघ बनाया। अर्द्ध-संघ के सदस्य (confederates) पूर्णरूप में समवर्जिन कहलाते थे। राजाओं के अर्द्ध-संघ का और भी निश्चित प्रमाण 8वीं शताब्दी में राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय के इतिहास में मिलता है। जैसा कि उस के ताम्रपत्रों से पता लगता है, अपने पिता की मृत्यु के बाद उसे 12 राजाओं के अर्द्ध-संघ का मुकाबला करना पड़ा। प्राचीन भारत के राज्य-संघ आजकल के संघ राज्य से सर्वथा भिन्न थे, जैसा कि डा. बेनीप्रसाद ने कहा है उन्हें अर्द्ध-संघ (confederation) अथवा सम्मिलित राज्य (Composite State) कहना अधिक उचित होगा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. प्राचीन भारत में साधारणतः राज्य का प्रचलित रूप था।
 (क) प्रजातंत्र (ख) राजतंत्र
 (ग) शक्तितंत्र (घ) विकासतंत्र
6. विप्र-राज्य वह राज्य होता था जहाँ विशेष मनुष्य राज्य-शासन का संचालन करते थे।
 (क) मूर्ख (ख) पुजारी
 (ग) ज्ञानी (घ) मंत्री
7. एक शक्तिशाली राजा के अधीन कई राज्यों से मिलकर बनता है।
 (क) प्रांत (ख) खंड
 (ग) राज्य (घ) साम्राज्य
8. चक्रवर्ती वह शासक हुआ जिसका शासन की सीमा तक फैला हो।
 (क) समुद्रों (ख) पृथ्वी
 (ग) आकाश (घ) पाताल

1.3 राज्य का सप्तांग सिद्धान्त (Saptang Theory of State)

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों ने राज्य के स्वरूप (अथवा प्रकृति) के विषय में मुख्यतः सप्तांग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। राज्य के स्वरूप के विषय में अन्य मुख्य बातों तथा विशेषताओं का विवेचन आगे के खण्डों में किया जायेगा। हिन्दू समाज और हिन्दू राज्य के पीछे यह संकल्पना रही है कि ये दोनों सावयव (organisms) हैं; इनके द्वारा राज्य की धारणा में, कम से कम, आंगिक एकता (organic unity) पर तो बल दिया ही गया है। कौटिल्य ने राज्य को 'प्रत्यङ्गभूत' कहा है, जिससे राज्य-शरीर के अंगों का बोध होता है। धर्मशास्त्रों (मनुस्मृति व याज्ञवल्क्य स्मृति), अर्थशास्त्रों तथा नीतिशास्त्रों में राज्य के 7 अंगों का वर्णन मिलता है। राज्य के 7 अंगों अथवा अवयवों को मनु, बृहस्पति, भीष्म, कौटिल्य, शुक्र आदि सभी आचार्यों ने माना है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में एक प्रकार से राज्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि राज्य 7 अंगों अथवा तत्वों से मिलकर बना है। उसके अनुसार सात अंग अथवा प्रकृतियाँ ये हैं—स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड, और मित्र। मनु के अनुसार उनके नामों में थोड़ा सा अन्तर है—दुर्ग के स्थान पर पुर, जनपद के स्थान पर राष्ट्र और मित्र के स्थान पर सुहृद।

कौटिल्य तथा मनु ने इन अंगों को राज्य प्रकृतियाँ भी कहा है। दिक्षितार के मतानुसार भारतीय राजनीतिक साहित्य में 'प्रकृति' एक प्राविधिक शब्द (technical term) है, जिसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है यथा मन्त्रिगण, प्रजाजन, युद्ध में विभिन्न प्रभु और राज्य के आवश्यक तत्व (अंग)। 'प्रकृति: सहजे यानो अमात्ये परमात्मनि' इति विश्वः। शुक्र ने कई स्थानों पर इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। मनु ने इसे तीसरे अर्थ में प्रयुक्त किया है—'एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः' (अध्याय 7, 156)। 7 प्रकृतियों में अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और न्याय को द्रव्य-प्रकृति, राज्य का आधार-स्तम्भ कहा गया है; इन पाँच द्रव्य-प्रकृतियों के ऊपर स्वामी (राजा) है। भण्डारकर कहता है कि चूँकि राज्य के 7 तत्वों (अंगों) में से प्रत्येक को प्रकृति कहा जाता है और चूँकि शब्द का साधारण अर्थ 'प्रकृति, संविधान, प्राथमिक सार' (nature, constitution, primary substance) है, अतः इन प्रकृतियों को राज्य के प्राकृतिक अंगों (तत्वों) के अर्थ में समझना चाहिए। मनुस्मृति के टीकाकार मेघतिथि के अनुसार प्रकृति से कारण अथवा स्वभाव दोनों अर्थ लिए जा सकते हैं; प्रथम के अनुसार ये सात प्रकृतियाँ राज्य के आवश्यक निर्माणकारी अंग हैं और दूसरे के अनुसार ये राज्य की विशेषतायें हैं।

सप्तांग राज्य के विषय में शुक्र ने बड़ा ही सुन्दर रूपक दिया है। वह कहता है कि राज्य-शरीर के अंगों में राजा सिर है, मन्त्री नेत्र हैं, मित्र कान हैं, कोष मुख, बल मन, दुर्ग हाथ और पैर राष्ट्र हैं। एक दूसरे अभिरुचिपूर्ण रूपक

नोट

में शुक्र ने राज्य को वृक्ष बताते हुए कहा है कि राजा उसका मूल है, मन्त्री उसका तना है, शाखायें सैनिक अधिकारी हैं, फूल व पत्तियाँ सैनिक हैं, राष्ट्र (भूमि) बीज है और जन फल हैं।

रंगा अयंगर ने राज्य के सात अंगों पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि प्राचीन भारतीय लेखकों के अनुसार राज्य की 7 विशेषताएँ इस प्रकार हैं—1. एकता जिसका प्रतिनिधित्व एक ही सामान्य शासक (राजा) करता है। 2. स्थिर प्रशासन जैसा कि मन्त्रियों के अस्तित्व से प्रकट होता है। 3. कर-व्यवस्था की एक निश्चित पद्धति जो कि राज्य के कोष का आधार है। 4. सेना जो राज्य की शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। 5. एक निश्चित भू-भाग जिस पर राजा और प्रजा अपने शत्रुओं से रक्षा कर सके 6. दुर्ग और 7. बाह्य नियन्त्रण से स्वतन्त्रता के द्वारा (जैसा कि दूसरे राज्यों से मित्रता या सन्धि करने अथवा युद्ध करने की स्वतन्त्रता से पता लगता है) अपना अधिकार रखते थे। अब हम विभिन्न अंगों के विषय में अति संक्षिप्त विवेचन करेंगे जो कि निम्नलिखित हैं—

1. स्वामी (राजा)—प्राचीन भारत में राजा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया और उसे 'दण्डधरो गुरुः' कहा गया, क्योंकि समाज को मर्यादा में रखने वाला राजा ही है, परन्तु राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था, वह भी धर्म के अधीन था। राजा धर्म का पालन करके प्रजा को धर्म पर चलने की प्रेरणा देता था और वह प्रजा का सभी बातों में नेतृत्व करता था। प्रजा-पालन उसका सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य था। कौटिल्य ने कहा है कि 'राजा राज्य में इतने महत्वपूर्ण कार्य करता है तो भी उसकी स्थिति ध्वजमात्र है'—'ध्वजमात्रः अयं भवन्त स्व स्वामिनः।' परन्तु कौटिल्य तथा अन्य विचारकों ने 'राजा' शब्द का प्रयोग न करके 'स्वामी' का किया है, जिसका अर्थ है मालिक। उसे राज्य-शरीर का 'सिर' भी कहा है। इससे स्पष्ट है कि सातों अंगों में स्वामी का स्थान सर्वप्रमुख है।

2. अमात्य—राज्य के शासन में अमात्यों का विशेष महत्व है। कौटिल्य के अनुसार राज्य के प्रायः सभी कार्य अमात्यों द्वारा संचालित होते हैं। यद्यपि आदेश देने का कार्य राजा का है, (क्योंकि प्रभुता का प्रयोग वही करता है) तथापि वह सभी कार्य 'अमात्यों की सहायता व उनके परामर्श से करता है। बिना अमात्यों के राजा पंगु है; शुक्र ने कहा है कि अमात्यों को मन, वचन तथा कर्म से स्वामी के कार्य का सम्पादन करना चाहिए। यहाँ पर यह कहना उपयुक्त होगा कि 'अमात्य' शब्द का अर्थ केवल मन्त्री नहीं है। महाभारत (शान्ति पर्व) के एक संस्करण में 'अमात्य' शब्द का प्रयोग हुआ है और उनकी संख्या 37 बताई है, किन्तु दूसरे संस्करण में 'मन्त्रियों' का जिनकी संख्या 8 विहित की गई है। अर्थशास्त्र में अमात्य शब्द का प्रयोग राज्य के नियमित उच्च अधिकारी वर्ग के लिए हुआ है, जिसमें पुरोहित, मन्त्री, संग्रहता, कोषाध्यक्ष, दूत, विभिन्न विभागों के अध्यक्ष तथा अन्य प्रशासन अधिकारी सम्मिलित हैं। परन्तु उसने मन्त्री व अमात्यों में भी अन्तर किया है। कामन्दक ने, ऐसा प्रतीत होता है, अमात्यों को सचिव कहा है और उन्हें मन्त्रियों से भिन्न बताया है। मन्त्रियों का कार्य मुख्यतः राजा को परामर्श (मंत्रणा) देना तथा उसे गुप्त रखना है और अमात्यों का कार्य प्रशासन का संचालन। राज्य के अंग रूप में 'अमात्य' शब्द से मन्त्री व उच्च अधिकारी दोनों का ही तात्पर्य लिया जाना उचित है।

3. जनपद—कौटिल्य के अनुसार जनपद को अपनी जनता के लिए पर्याप्त धान्य-सम्पन्न, आत्म-निर्भर तथा पर्वत व नदियों से आत्मरक्षा में समर्थ होना चाहिए। इसके अतिरिक्त जनपद ऐसा हो कि जिसमें थोड़े परिश्रम से पर्याप्त अन्न उत्पन्न हो सके, जो शत्रुओं को पराजित कर सके, जिसमें भूमि, खनिजों तथा वनों की प्रचुरता हो, जो जल व स्थल मार्गों से सुसम्पन्न हो और जिसकी जलवायु बलवर्धक हो, इत्यादि। 'जनपद' का अर्थ है जन (कबीले) के रहने का स्थान अर्थात् राज्य के अधीन भू-भाग (territory), जिसका बोध राष्ट्र शब्द से अधिक अच्छी प्रकार से होता है, क्योंकि जन का अर्थ जनसंख्या से है। परन्तु अर्थशास्त्र में जनपद शब्द को जिस प्रकार परिभाषित किया गया है, वह भूमि तथा जनसंख्या दोनों का ही द्योतक है।

4. दुर्ग (अथवा पुर)—प्राचीन भारत के राज्यों में जनपद (राष्ट्र) के मध्य में पुर या राजधानी होती थी जिसे दुर्ग से सुरक्षित बनाया जाता था। कौटिल्य के अनुसार सैन्य शक्ति का प्रयोग दुर्ग से ही भली-भाँति सम्भव है; जिसका दुर्ग सुदृढ़ होता है उसे परास्त करना सुगम नहीं होता (अर्थशास्त्र, 8-1)। महाभारत में राजधानी के रूप में ऐसे दुर्ग का विधान किया गया है जिसमें राजपुरुष, ब्राह्मण, शिल्पी, व्यापारी आदि सब प्रकार की जनता का निवास हो और जहाँ धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र आदि काफी मात्रा में संचित रहें। शुक्रनीति में भी विभिन्न प्रकार के दुर्गों के वर्णन के

नोट

अतिरिक्त राजधानी का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। मनु ने दुर्ग को तीसरा स्थान दिया है। दुर्ग से पुर के पर्यायवाची शब्द के रूप में 'दुर्ग से सुरक्षित राजधानी' का अर्थ लिया जाना चाहिए। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि दुर्ग (या पुर) को जनपद अथवा राष्ट्र से पृथक् रूप में आवश्यक तत्व बताया गया है। शान्ति पर्व में जनपद और पुर का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—जनपद राजधानी (पुर) को छोड़कर शेष भू-भाग का सूचक है और पुर राजधानी का।

5. कोष—कौटिल्य के मतानुसार, कोष धर्मपूर्वक एकत्रित किया गया होना चाहिए; वह मात्रा में इतना अधिक हो कि उससे विपत्ति काल में भी दीर्घ समय तक निर्वाह हो सके। उसने यह भी कहा है कि सेना पूर्णतया कोष पर निर्भर होती है; उसके अभाव में सेना या तो शत्रु के अधीन हो जाती है या वह अपने स्वामी का वध कर डालती है। लोक में धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग का मूल कारण कोष ही है।

6. दण्ड अथवा सेना—राज्य की सुरक्षा के लिए सेना का विशेष महत्त्व है। कौटिल्य का कथन है कि जिस राजा के पास अच्छा सैन्य-बल होता है, उसके मित्र तो मित्र बने ही रहते हैं, किन्तु शत्रु तक भी मित्र बन जाते हैं। महाभारत में कहा गया है कि सैनिक सन्तुष्ट और राज्य के प्रति अनुरक्त रहने चाहिए। शूक्रनीति में भी सेना के महत्त्व व संगठन का विशद वर्णन है। प्राचीन भारत में चतुरंगिणी सेना का बहुधा प्रयोग होता था। सेना के चार अंग—पैदल, घोड़सवार, हाथी तथा रथ पर सवार होकर लड़ने वाले योद्धा होते थे। किसी-किसी स्थान पर नाविक बल का भी उल्लेख मिलता है। कुछ विचारकों ने अष्टांग बल का भी उल्लेख किया है, जैसा कि महाभारत के शान्ति पर्व (अध्याय 121.43) में हुआ है। सेना में मुख्यतः क्षत्रियों को ही भरती किया जाता था; परन्तु कौटिल्य ने उसमें वैश्यों व शूद्रों को भरती करने की बात कही है, क्योंकि उनकी संख्या काफी बड़ी होती थी।

7. मित्र अथवा सुहृद—कौटिल्य के अनुसार मित्र आनुवंशिक होना चाहिए न कि कृत्रिम; वह ऐसा हो जो जब भी सहायता की आवश्यकता पड़े सहायता के लिए आये तथा जिससे सम्बन्ध-विच्छेद की सम्भावना न हो। आचार्य वातव्याधि का मत है कि अपनी सेना और अपने मित्र पर एक साथ पड़ी विपत्ति में मित्र पर पड़ी विपत्ति अधिक कष्टकर है, क्योंकि मित्र दूर रहते हुए भी विजिगीषु राजा के लिए कार्य करता रहता है।

विभिन्न अंगों का महत्त्व—महाभारत में भीष्म का कथन है कि राजा के बिना देश (राज्य) नहीं होता और देश के बिना राजा नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा और राज्य की सत्ता एक-दूसरे पर निर्भर होती है। कौटिल्य के अनुसार राज्य की सातों प्रकृतियों में मुख्य राजा है। विभिन्न प्रकृतियों पर आई हुई विपत्तियों के प्रतिकार तथा उनकी उन्नति का कारण राजा ही होता है। जिस प्रकार का आचरण राजा का होता है, उसके अमात्य आदि भी उसी प्रकार का आचरण करते हैं (राजतन्त्र में प्रजा भी वैसा ही आचरण करती है)। प्रजा की उन्नति और अवनति राजा पर ही निर्भर करती है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि शूक्रनीति के अनुसार राजा राज्य का सिर है, अमात्य नेत्र, सुहृद कान, कोष मुख, बल मन, दुर्ग हाथ और राष्ट्र पैर हैं। शूक्र ने राजा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है; परन्तु राष्ट्र को पैर कह कर नीचा स्थान नहीं दिया है, प्रत्युत उसे सभी अङ्गों का मूलाधार बताया है। राजा से राष्ट्र नहीं होता, राष्ट्र से राजा होता है।

वाजपेयी के अनुसार दूसरा स्थान बल का है, क्योंकि बल को मन के समान बताया गया है। शरीर में इन्द्रियों का राजा मन है, क्योंकि उन्हें किसी में प्रवृत्त अथवा निवृत्त यही करता है। राज्य में भी यदि बल या सेना न हो, तो वह कुछ नहीं कर सकता और तो क्या अपने अंगों से अपनी आज्ञा का पालन भी नहीं करा सकता। कोष की उपमा मुख से दी गई है, इसलिए उसका स्थान तीसरा है। कौटिल्य ने सच कहा है कि कोष और बल ही राजा की शक्ति है—'कोषदण्डबलं प्रभुशक्तिः।' महाभारत में कहा गया है कि राजा का मूल कोष-बल है और कोष का मूल बल है। यही सब धर्मों का मूल है और फिर धर्म का मूल प्रजा है।

विभिन्न अंगों के दोष तथा व्यसन—यह कहा जाता है कि यदि राज्य-शरीर के किसी भी अंग में दोष उत्पन्न हो जाये तो उससे सारे शरीर अर्थात् राज्य का संचालन बिगड़ जाता है। कामन्दक के अनुसार तो पूर्णरूप से कुशल संचालन के लिए ऐसे दोषी अंग के दोष को तुरन्त ही ठीक करने के प्रयत्न करने चाहिए। शूक्र तथा मनु ने भी इस प्रकार का समर्थन किया है। मनु का कथन है कि ये अंग एक-दूसरे से इस प्रकार जुड़े हैं कि उनसे मिलकर ही राज्य-शरीर पूर्ण होता है, परन्तु यह स्वाभाविक है कि किसी भी अंग में दोष आ जाये।

नोट



सावधानी

साधारण दोष के आने पर शरीर का संचालन किया जा सकता है; परन्तु यदि व्यसन अथवा रोग गम्भीर होता है, तो अंग चाहे कितना ही कम महत्वपूर्ण हो, सम्पूर्ण शरीर प्रभावित होता है। राज्य रूपी-शरीर के सुचारु तथा संतोषजनक संचालन के लिए सभी अंग स्वस्थ अथवा दोषहीन होने चाहिए।

डा. घोषाल के अनुसार कौटिल्य ने राज्य के विभिन्न अंगों (तत्वों) पर आने वाली विपत्तियों को उनके महत्व की दृष्टि से ऊपर से नीचे की ओर चलने वाले क्रम में रखा है, जिसमें राजा की विपत्तियों का स्थान सबसे ऊपर है। उसने अर्थशास्त्र (6.1) में राज्यों के सातों अंगों के गुणों का परिगणन करते हुए यह भी कहा है कि जब वे शरीर के अंगों की भाँति कार्य करते हैं तो उनसे राजा को शक्ति मिलती है जबकि राजा स्व-स्वामित्व के गुणों से किसी भी दोषी अंग को सुधार सकता है, किन्तु यदि राजा स्वयं दोषयुक्त हो तो विभिन्न अंगों के गुणों को भी नष्ट कर सकता है। डा. घोषाल का मत है कि इन विचारों में राज्य के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों की दुहरी संकल्पना अन्तर्गुप्त है। यह इकाइयों के बीच है। यह इकाइयों के बीच अन्तर तथा एकीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है और साथी उनके गुणों के ऊपर से नीचे की ओर चलने वाले क्रम के स्तरों पर भी, जिसमें राजा का स्थान सबसे ऊपर है।

भारतीय सिद्धान्तों की पाश्चात्य सिद्धान्तों से तुलना—भारत के प्राचीन राजशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सप्तांग सिद्धान्त में तीन बातें अन्तर्गुप्त हैं—प्रथम, राज्य 7 तत्वों से मिलकर बना है; दूसरा, राज्य-शरीर के 7 अंग अथवा अवयव हैं; और तीसरा राज्य के विभिन्न अवयवों के बीच आंगिक एकता है। इन्हीं से प्रायः मिलते हुए, किन्तु विस्तार की बातों में भिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन पाश्चात्य जगत में हुआ। जहाँ तक प्रथम बात का सम्बन्ध है, सभी पाश्चात्य तथा अर्वाचीन विचारक राज्य के 4 प्रमुख अंग बताते हैं, जिनके नाम ये हैं—जनसंख्या, भू-भाग, सरकार और प्रभुता। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार राज्य के 7 तत्व हैं, जिनमें जनसंख्या और प्रभुता को स्पष्टरूप से सम्मिलित नहीं किया गया है। वैसे भी आधुनिक विचारधारा के अनुसार स्वामी (राजा), कोष, मित्र व दुर्ग राज्य के आवश्यक तत्व नहीं माने जाते; परन्तु प्राचीन भारत की तत्कालीन ऐतिहासिक और भौगोलिक दशाओं का ध्यान करने पर उन सभी तत्वों का महत्व स्पष्ट हो जाता है। विश्लेषण करने पर प्राचीन भारतीय सिद्धान्त में आजकल माने गये चारों तत्व मिल जाते हैं। सर्वप्रथम जनसंख्या को लें तो जनपद व राजधानी में जनसंख्या का विचार सम्मिलित है। इन दोनों से मिलकर भू-भाग का विचार पूर्ण हो जाता है। अमात्य, कोष, सेना (दण्ड) शासन के प्रमुख अंग हैं और ये तीनों मिलकर शासन का स्थान लेते हैं। स्वामी प्रभुता का प्रतीक है, जिसके पीछे सेना की शक्ति है।

जहाँ तक राज्य की शरीर से तुलना और उसके विभिन्न अंगों का प्रश्न है, पाश्चात्य जगत में जॉन आफ सेलिसबरी ने (मध्य युग में) और ब्लंशली, लीकॉक तथा हर्बर्ट स्पेन्सर ने (आधुनिक युग में) राज्य की शरीर से तुलना की है। ब्लंशली तथा हर्बर्ट स्पेन्सर ने तो राज्य को सावयव प्राणी कहा है। ब्लंशली ने राज्य को पुल्लिंग बताया है जबकि चर्च स्त्रीलिंग है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने दोनों ही प्रकार के प्राणियों में जीवित रहने वाली व्यवस्था, वितरण व्यवस्था, नियमन व्यवस्था आदि बताई हैं। जैसे शरीर के लिए खाना है, राज्य-शरीर में उत्पादन व्यवस्था है। जैसे मानव शरीर में रक्त-वितरण की व्यवस्था है, राज्य-शरीर में संचार के साधन हैं और जैसे मानव-शरीर में नाड़ी-व्यवस्था है, राज्य शरीर में शासन और सेना है। उसने व्यक्तियों को राज्य-शरीर के कोषाणु (cells) बताया है। इस प्रकार भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों में विस्तार की बातों का अन्तर है। भारतीय विचारकों ने राज्य-शरीर की मनुष्य-शरीर तथा वृक्ष से तुलना की है, किन्तु उसे जीवित प्राणी नहीं माना है। जहाँ तक राज्य के विभिन्न अंगों के बीच आंगिक एकता की बात है, पाश्चात्य विचारकों ने उस पर बल दिया है। परन्तु उनका, विशेषकर हर्बर्ट स्पेन्सर का बल, राज्य और उनकी इकाइयों व्यक्तियों के बीच आंगिक एकता तथा उनकी अन्तर्निर्भरता पर है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है, भारतीय विचारकों ने भी आंगिक एकता को स्वीकार किया है, परन्तु उनमें से किसी ने भी राज्य और नागरिकों के बीच आंगिक एकता व अन्तर्निर्भरता के विचार को व्यक्त नहीं किया है।

अन्त में, जहाँ तक सप्तांग राज्य के सिद्धान्त के महत्व का सम्बन्ध है, यह राजशास्त्र के लिए भारतीय विचारकों की महत्वपूर्ण देन है। यह राज्य के विभिन्न अंगों के बीच आंगिक एकता पर बल देती है और यह भी बताती है

नोट

कि विभिन्न अंगों में से कोई भी दोषयुक्त नहीं होना चाहिए। एक अंग के भी रोगी होने पर राज्य के शासन का संचालन पूर्णतया कुशल नहीं रह सकता। यह सिद्धान्त विभिन्न अंगों के भिन्न-भिन्न कार्यों पर भी बल देता है, जिनके बीच समन्वय रहना आवश्यक है। राज्य की संरचना के सम्बन्ध में कौटिल्य और उसके पूर्वगामी विचारकों के विचारों पर टिप्पणी करते हुए डा. घोषाल ने लिखा है—‘यजु-संहिताओं और ब्राह्मणों ने तो आने वाली पीढ़ियों को राजनीतिक संगठन के तत्वों के रूप में राजा और उसके दरबारी व अधिकारी, उसकी आय, सेना और निश्चित भू-भाग विरासत में दिए। परन्तु उसके बाद के काल की ऐतिहासिक दशाओं में राज्य के तत्वों का विकास हुआ और उनमें संगठित अभिजात तंत्र, स्थायी आय, स्थायी सेना, भू-भाग का दो भागों में विभाजन (जनपद और पुर) तथा न्यूनाधिक निश्चित मित्र आदि तत्व जुड़ गये। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि राज्य के 7 तत्वों के सिद्धान्त में आधुनिक मान की दृष्टि से कमियाँ हैं फिर भी इसका दार्शनिक महत्त्व है। इस सिद्धान्त ने हमारे राजनीतिक विचारकों के विचारों में राजतंत्री राज्य की धारणा को निश्चित करने में सहायता दी, यद्यपि अर्थशास्त्र में दी गई राज्य की परिभाषा राजतन्त्रों के साथ गणतन्त्रों पर भी लागू होती है।

भंडारकर का कथन है कि हिन्दू राज्य के तत्व केवल राज्य की आधुनिक परिभाषा की पूर्ति ही नहीं करते, वरन् हमें यह भी बताते हैं कि इस परिभाषा में क्या कमी है। आधुनिक राजनीतिक विचारक राज्य को स्थिर रूप में देखते हैं, उसकी गतिशीलता पर विचार नहीं करते। उनकी परिभाषा राज्य का आन्तरिक दृष्टि से वर्णन करती है। इसके विपरीत हिन्दू विचारकों ने राज्य की रचना को पूर्णता की दृष्टि से देखा है, अर्थात् राज्य का अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध जोड़कर। यह बात इससे स्पष्ट है कि राज्य के विभिन्न तत्वों में एक मित्र है, जिसका स्थान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ही हो सकता है। राज्य के वैदेशिक पहलू को भारतीय सिद्धान्तकारों ने प्रमुख स्थान दिया है।

1.4 प्राचीन भारत में प्रभुता का सिद्धान्त (Theory of Sovereignty in Ancient India)

राज्य के स्वरूप के विषय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त, जिसका पाश्चात्य जगत में आधुनिक युग में प्रतिपादन किया गया, प्रभुता (Sovereignty) का है। अधिकतर विचारक इसे राज्य का आवश्यक तत्व भी मानते हैं। प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन फ्रांसीसी लेखक **बोदां** ने 16वीं शताब्दी में किया; उसके अनुसार, “प्रभुता नागरिकों तथा प्रजाजनों के ऊपर वह सर्वोपरि शक्ति है जो कानून द्वारा सीमित नहीं होती।” वर्तमान काल में प्रभुता की सबसे अधिक मान्य परिभाषा **जॉन आस्टिन** की है, जो इस प्रकार है—“यदि किसी समाज के अधिकांश व्यक्ति किसी निश्चित उच्चतर व्यक्ति की आज्ञाओं का आदतन पालन करते हों और वह स्वयं अपने ही जैसे किसी दूसरे उच्चतर व्यक्ति की आज्ञापालन न करता हो तो वह निश्चित उच्चतर व्यक्ति उस समाज का प्रभु है और उसके सहित वह समाज एक स्वतन्त्र तथा राजनीति समाज है। उसके आदेश कानून होते हैं।”

आधुनिक विचारकों के अनुसार प्रभुता के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं—(1) यह प्रभु का मौलिक अधिकार होता है, वह इसे किसी से प्राप्त नहीं करता। (2) प्रभुता पर सीमाएँ नहीं होतीं, यह पूर्ण होती है। (3) यह अविभाज्य होती है। (4) यह अदेय है, राज्य का प्राण है। (5) प्रभुता स्थायी रूप से राज्य में निवास करती है। उन्होंने प्रभुता के विभिन्न प्रकार बताये हैं, कानूनी प्रभुता उस या उन संस्थाओं में रहती है जो राज्य का सर्वोच्च कानूनी बनाती है। उसके पीछे जनता की प्रभुता होती है, क्योंकि प्रजातन्त्र में अन्तिम सत्ता जनता के हाथों में रहती है। इसे ही राजनीतिक अथवा लोकप्रिय प्रभुता कहते हैं। प्रभुता का अधिवास राजा, संसद या जनता में से किन्हीं में भी हो सकता है, क्योंकि यह राज्य-शासन के रूप पर निर्भर करता है।

डा. सिन्हा ने ‘प्राचीन भारतीय राज्य में प्रभुता’ नामक शोध-ग्रन्थ में प्रभुता की धारणा का ऐतिहासिक दृष्टि से विस्तारपूर्वक विवेचन किया है, जिसका अति संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है—प्राचीन भारतीय विचारक प्रभुता की धारणा से अनभिज्ञ न थे; परन्तु इसका स्वरूप और सार आजकल के स्वरूप व सार से बहुत भिन्न थे। भारतीय-आर्य-समाज में राजपद साधारणतः निर्वाचित था, यद्यपि कालांतर में यह पद आनुवंशिक हो गया। वैदिक काल में ‘सभा’ और ‘समिति’ नाम की दो लोकप्रिय संस्थाएँ भी थीं जो राज्य के महत्वपूर्ण मामलों पर विचार और निर्णय

नोट

करती थीं। विशाल राज्यों के उदय के साथ उनके भौतिक साधन बढ़े राजाओं की सैनिक शक्ति में अपार वृद्धि हुई और समिति व सभा का स्थान क्रमशः राजसभा व मंत्रि-परिषद् ने लिया। इस प्रकार राजाओं की शक्तियाँ व प्रतिष्ठा बढ़ती गई और उन्होंने अपनी शक्तियों पर बल देना आरम्भ किया। चौथी शताब्दी ई. पूर्व में मौर्य वंश की स्थापना के परिणामस्वरूप भारत में प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य की स्थापना हुई, जो सर्वोपरिता के लिए संघर्ष का फल था। प्राचीन भारत में प्रभुता राजा में समाविष्ट थी और शाही प्रभुता राज्य की सत्ता का प्रतीक थी। बौद्धिक साहित्य में प्रभुता के भारतीय रूपान्तर 'क्षत्र' और 'क्षत्रश्री' थे। (The word kshatra or kshatrasri or the lustre of kshatra, is found in the Vedas. Keith translates the word by sovereignty) अर्थशास्त्र में उसके लिए 'स्वामित्व' शब्द का प्रयोग हुआ है। कौटिल्य के मतानुसार राज्य के 7 आवश्यक तत्वों में से एक, किन्तु प्रथम तत्व था; वह यथार्थ में प्रभु था और राज्य का चिह्न भी। स्वामी राज्य का नेता अथवा अध्यक्ष था। उसने राज्य पर शासन करने का एक नया अधिकार-दैवी अधिकार अर्जित किया। इससे क्षत्रश्री अथवा प्रभुता के सार में बड़ा योग मिला और गुप्त काल में तो उसने विभिन्न धर्मों का एक दूसरे के प्रति क्या दृष्टिकोण रहे इसे भी विनियमित किया। उसने आदेश दिया कि उनके बीच में पूर्ण समता रहे और सभी धर्मों को सहन किया जाय। साम्राज्य के उदय से करद पद्धति (tributary system) की उत्पत्ति हुई चक्र अथवा राज्य मण्डल में सम्राट की प्रभुता का अर्थ अधिराज सत्ता (paramountcy) हुआ; परन्तु उसके अपने राज्य-क्षेत्र के भीतर उसकी प्रभुता साम्राज्य के अन्य प्रदेशों से अधिक वास्तविक थी। प्राचीन भारत में प्रभुता का स्वरूप ऐसा था; यह उस राजा की अधिराजसत्ता के सदृश थी जो चक्रवर्ती था।

उसी लेखक ने अपने नये ग्रंथ में भी उपरोक्त मत का समर्थन किया है। उसका कथन है—'गुप्त सम्राट और हर्ष शक्तिशाली विजेता और कुशल शासक थे। उन्होंने समझा कि धार्मिक असहिष्णुता का सर्व-साधारण के कल्याण से मेल नहीं खाता। इस कारण से उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई। इसमें उनका धर्म के प्रति दृष्टिकोण समाविष्ट था, अर्थात् सार्वजनिक हित व प्रशासन के मामलों में वे अपने धार्मिक सम्बन्धों से विचलित नहीं हुए। यह बात राज्य की धर्म के ऊपर सर्वोच्चता की सबसे अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति थी। यथार्थ प्रशासन में इस सर्वोच्चता को समझने में राजा को कानून के प्रति रुख में परिवर्तन से सहायता मिली, चूँकि जो कानून अभी तक सार और स्वरूप में धार्मिक व नैतिक थे, उनसे क्रमशः ये तत्व निकलते गए और वे अधिकाधिक धर्म-निरपेक्ष होते गये। इस प्रकार विध्यात्मक कानून (राजा द्वारा निर्मित कानून) का विकास हो रहा था। गुप्त काल में राजा ने विभिन्न धर्मों के एक दूसरे के प्रति रुख को विनियमित किया और उसने आदेश दिया कि उनके बीच आपसी शत्रुता न हो और सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार हो। धर्म और द्रोह (धर्म का अतिक्रमण) भी राजा की सत्ता के अधीन आ गये। बी.के. सरकार के मतानुसार भी धर्म को (कानून के रूप में) इसलिए माना जाता है कि उसके पीछे राज्य की दण्ड शक्ति है। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि राज्य की सत्ता धर्म के ऊपर है।

परन्तु अधिकतर हिन्दू विचारकों का मत इससे भिन्न है; वे एक प्रकार से धर्म को ही प्रभु अथवा राजा (व राज्य) के ऊपर सर्वोपरि मानते हैं। डा. वी. पी. वर्मा के मतानुसार प्राचीन भारत में धर्म अथवा नैतिक कानून की प्रभुता का विचार पाया जाता था। हिन्दू राजनीतिक विचारकों ने माना है कि प्राचीन भारत में धर्म की प्रभुता थी। कुछ लेखकों ने 'धर्म' का अर्थ 'विधि या कानून' से लिया है और वे यह मानते हैं कि 'विधि की प्रभुता' के विचार को प्राचीन हिन्दू स्वीकार करते थे। धावन के अनुसार प्राचीन भारत में राज्य का कार्य धर्म में परिवर्तन करना नहीं वरन् उसे स्थिर रखना था। डा. राधाकृष्णन का मत है कि धर्म उन सभी संस्थाओं के योग का प्रतिनिधित्व करता था जिनके द्वारा सामान्य कल्याण को प्राप्त किया जाता था। बन्धोपाध्याय का विचार है कि प्राचीन भारत में राजा कभी भी धर्म से ऊपर नहीं रहा। वह कहता है कि धर्म-शास्त्र, धर्म अथवा विधि को राजा और समाज से ऊपर मानते हैं। जयसवाल ने मनु का निर्वचन करते हुए कहा है कि विधि अर्थात् धर्म ही वास्तविक प्रभु है, न कि राजा। धर्म की प्रभुता के विचार का जोरदार समर्थन डा. मुकर्जी ने भी किया है। चन्द्रगुप्त मौर्य के ऊपर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में उन्होंने कहा है—“हिन्दू विचारों के अनुसार तो विधि के रूप में धर्म राज्य का सच्चा प्रभु है। राजा कार्यपालिका है, जिसे दण्ड कहते हैं और जो आध्यात्मिक प्रभु के रूप में धर्म के आदेशों को स्थिर रखता है तथा उन्हें लागू

नोट

करता है।” प्रभुता के विषय में डा. वर्मा ने आगे कहा है—“धर्म की प्रभुता के प्रश्न का दो स्तरों पर विवेचन किया जा सकता है। प्रथम, ऐतिहासिक दृष्टि से हमें ऐसे साक्ष्य नहीं मिलते कि प्राचीन भारत में कोई ऐसा राजा था जहाँ धर्म अथवा उसके आदेशों को प्रभु समझा जाता था। दूसरे, जहाँ तक विचारात्मक दृष्टि का प्रश्न है, हम पहले ही यह अस्वीकार कर चुके हैं कि प्राचीन भारतीय प्रभुता के क्रमबद्ध और अमूर्त विचार को रखते थे। वे राजा की शक्ति अथवा राजा के दण्ड की बात कहते थे, किन्तु उन्होंने किसी अन्तिम राजनीतिक प्रभु की संकल्पना नहीं की थी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राचीन भारत में प्रभुत्वपूर्ण राज्य न थे।”

इस विषय में **अलतेकर** का मत अधिकांशतः सत्य और माननीय है। वह लिखता है—“आजकल जिसे हम सर्वोच्च शासन-सत्ता कहते हैं, उसकी ठीक कल्पना प्राचीन काल में न थी। अर्थशास्त्र में इस विषय पर स्वामित्व शब्द का प्रयोग आता है, लेकिन उसका सम्बन्ध राजा के वैयक्तिक अधिकारों से था, न कि शासन-सत्ता से।... सिद्धान्त की दृष्टि से यह माना गया था कि धर्म राजा से परे है, वह उसका अनादर नहीं कर सकता। वह उसके अधीन है। अतः धर्म को हम एक दृष्टि से शासन-सत्ता का सर्वोच्च अधिष्ठान मान सकते हैं। किन्तु हमारे विचारकों ने धर्म को ठुकराने वाला राजा का प्रतिवाद या नियन्त्रण कैसे करना चाहिए, इसका कुछ दिग्दर्शन नहीं किया है, इसलिए धर्म को शासन-सत्ता का अन्तिम अधिष्ठान समझना उचित नहीं होगा।” यह निर्विवाद सत्य है कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने प्रभुता की धारणा को परिभाषित तथा विकसित नहीं किया था। उन्होंने प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। वास्तव में, पाश्चात्य जगत में भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन 16वीं शताब्दी में हुआ। अतः प्राचीन भारत में इसका अभाव कोई विशेष कमी की बात नहीं है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें

(State whether the following statements are True/False)–

9. प्राचीन भारत में राजा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया।
10. जनपद का अर्थ है जलवायु।
11. प्रजा की उन्नति एवं अवनति राजा पर निर्भर करती है।
12. प्राचीन भारत में प्रभुता राजा में समाविष्ट थी एवं शाही प्रभुता राज्य की सत्ता का प्रतीक थी।

1.5 प्राचीन भारत में राज्य की अन्य विशेषताएँ (Other Features of State in Ancient India)

राज्य की अन्य विशेषताओं में हम सर्वप्रथम यह देखेंगे कि प्राचीन भारत में राज्य धर्म-निगडित (Theocratic) था या नहीं अर्थात् राज्य का स्वरूप धर्मतन्त्री था या धर्मनिरपेक्ष। आजकल प्रायः सभी प्रगतिशील धर्मनिरपेक्षता (Secularism) के आदर्श को मानते हैं प्राचीन भारत में धर्म और राजनीति में निकट सम्बन्ध था और राज्य में पुरोहित राजगुरु होता था तथा ब्राह्मणों का विशेषाधिकार प्राप्त वर्ण (वर्ग) था। अतः ऐसा समझा जाता है कि प्राचीन भारत में राज्य धर्म-निगडित था। परन्तु वास्तव में राज्य ऐसा था या नहीं, यह देखने के लिए हमें धर्मतन्त्र का अर्थ तथा प्राचीन भारतीय राज्यों के बारे में कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। यूरोप में मध्य युग में प्रायः सभी ईसाई राज्य धर्म-निगडित थे; क्योंकि वे ईसाई धर्म के सर्वोच्च अधिकारी (पोप) की सर्वोपरिता के अधीन थे। सैद्धान्तिक दृष्टि से पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) ईसाई साम्राज्य था और सभी शासक सम्राट के अधीन थे। विशेषरूप से धार्मिक मामलों में वे सभी सम्राट पोप की सर्वोपरिता को मानते थे। व्यवहार में भी कई शताब्दियों तक प्रायः सभी राज्य पोप की सर्वोपरिता के अधीन रहे, इस कारण से उन्हें धर्मतन्त्र अथवा धर्म-निगडित कहा जाता है। ऐसे ही खलीफाओं के अधीन बहुत समय तक तुर्की में इस्लामी-राज्य धर्मतन्त्र रहा।

प्राचीन भारत के राज्य को धर्म-निगडित कहने के पक्ष में अलतेकर के अनुसार ये बातें कही जा सकती हैं। गौतम धर्म-सूत्र में कहा गया है कि ब्राह्मण वर्ग की सहायता के बिना राजा का अभ्युदय नहीं हो सकता। ऐतरेय ब्राह्मण

नोट

में कहा गया है कि यदि राजा योग्य ब्राह्मण पुरोहित की सहायता नहीं लेता तो देवता उसके हवन को स्वीकार नहीं करेंगे। राज्याभिषेक के समय राजा 3 बार ब्राह्मण को नमस्कार करता है और उसका वशवर्ती होना स्वीकार करता है। ब्राह्मणकृत वाङ्मय में साधारणतः यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि राजा और राजतन्त्र ब्राह्मण और धर्मतन्त्र के ही वश में चलते थे। पुरोहित अपने अनुष्ठानों द्वारा राजा और राज्य का इष्ट या अनिष्ट कर सकता था। राज्य का लक्ष्य धर्म की रक्षा करना था, वह जो कानून व्यवहार में लाता था वे ईश्वर-कृत या ईश्वर प्रेरित माने जाते थे। ब्राह्मण और पुरोहित अपने को सरकार से वरिष्ठ समझते थे और वे कर-दान और शारीरिक दण्ड से बरी होने का दावा भी करते थे। इन कारणों से यह कहा जा सकता है कि कुछ सीमा तक प्राचीन भारतीय राज्य धर्म-निगडित था, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं था, ब्राह्मणों के पूर्वोक्त दावे में बहुत कुछ अतिशयोक्ति थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे स्थल भी हैं जिनसे स्थिति भिन्न प्रतीत होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थल पर स्वीकार किया गया है कि राजा जो चाहता है ब्राह्मणों को वही करना पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि राजा जब चाहे ब्राह्मण को निकाल सकता है। अतः यह समझना ठीक न होगा कि वैदिक काल में भी राज्य की बागडोर पूर्णतया या विशेषरूप से पुरोहित अथवा धर्मतन्त्र के हाथ रही।

इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि शासन कार्य क्षत्रिय वर्ग के हाथ में था और साधारणतया अधिकतर राजा क्षत्रिय ही होते थे। पुरोहित के हाथ में कोई शासन-सत्ता न होती थी। वह तो अधिक से अधिक राजा का धार्मिक तथा अन्य मामलों में परामर्शदाता होता था। परामर्शदाताओं में अन्य मन्त्री भी होते थे, जो राज्य शासन का संचालन भी करते थे। पुरोहित तथा ब्राह्मणों के हाथ में शासकों पर नियन्त्रण शक्ति प्राप्त नहीं थी, उनका मान अवश्य ही बहुत था, क्योंकि राजा धर्मपालक व धर्मभीरु भी थे। वैदिक काल में राज्य शासन में सभा व समिति जैसी लोकप्रिय संस्थाओं का बड़ा हाथ रहा। आगे चलकर वे राजसभा व मन्त्रिपरिषद् में परिवर्तित हो गईं। जैसा कि प्रभुता के सम्बन्ध में बताया जा चुका है क्रमशः राजाओं की शक्तियों और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। राज्य क्षेत्र का विस्तार हुआ और बड़े-बड़े शक्तिशाली राज्य अथवा साम्राज्य बनने पर राजाओं व सम्राट को प्रभुत्व प्राप्त हुआ। इसी आधार पर **डा. सिन्हा** ने कहा है कि राजा की सत्ता धर्म से भी सर्वोपरि थी। महाराजा अशोक तथा अन्य सम्राटों ने धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को अपनाया। अतः यह कहना उचित नहीं कि प्राचीन भारत में राज्य धर्म-निगडित था।

बी. के. सरकार का कथन है कि हिन्दू राज्य पूर्णतया धर्म-निरपेक्ष थे। भारत में, यद्यपि ऐसा कुछ पूर्वमान्य विचारों में विरोधी सा लगता है, धर्म ने राजनीति, इतिहास व दर्शन पर कभी भी प्रभुत्व नहीं रखा। राजनीति अनिवार्यतः धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र थी, न ही पुरोहित वर्ग अधिकार के रूप में नागरिक प्रशासन में हस्तक्षेप करता था। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि हिन्दू राजनीतिक विचारों में ऐसे धर्मतन्त्र का लेशमात्र भी वर्णन नहीं जैसा कि सन्त ऑगस्टीन की पुस्तक (The City of God) के सामाजिक दर्शन में वर्णित है। अर्थशास्त्रों और नीतिशास्त्रों ने लौकिक अथवा धर्म निरपेक्ष परम्परा का समर्थन किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, कामन्दकीय नीतिसार आदि ग्रन्थों के आधार पर यह नहीं माना जा सकता कि प्राचीन भारतीय राज्य धर्म निगडित थे अथवा धर्मतन्त्र में विश्वास करते थे, यद्यपि सामाजिक व राजनीतिक मामलों में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान था।

प्राचीन भारतीय राज्यों की अन्य विशेषताओं का संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है—

एकात्मक राज्य—प्राचीन भारत के राज्य एकात्मक (unitary) थे, इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। यूरोप में भी संघराज्य (Federation) का विकास आधुनिक युग में हुआ; प्राचीन भारतीय संघीय-राज्य (federal states) से अनभिज्ञ थे। किसी भी राजनीतिक विचारक ने संघीय सिद्धान्त की चर्चा तक भी नहीं की है। परन्तु एकात्मक होते हुए भी स्थानीय स्वायत्तता की मात्रा अधिक थी और ऐसा होना उस काल की परिस्थितियों में स्वाभाविक ही था। जैसा कि दूसरे खण्ड में बताया गया है प्राचीन भारत में कुछ सम्मिलित राज्य (composite states) अवश्य थे और विशेष अर्थ में ही उन्हें संघ राज्य कह सकते थे। **अलतेकर** ने कहा है—“साधारणतः भारत में एकात्मक या एकछत्र राज्य व्यवस्था ही प्रचलित थी। राजा ही सत्ता का स्रोत था; मन्त्री और प्रान्तीय अधिकारी उसी से अधिकार ग्रहण करते थे। ग्राम-पंचायत, पौर-जनपद और श्रेणी-निगम आदि भी केन्द्रीय सत्ता के नियंत्रण और निरीक्षण में काम करते थे।”

नोट

जन-राज्य (Tribal State)—प्रारम्भिक काल में भारतीय आर्यों के सभी राज्य जन-राज्य थे, इस तथ्य को तो सभी लेखक मानते हैं। जब तक बड़े राज्य अथवा साम्राज्य बने अधिकतर राज्यों का स्वरूप ऐसा ही रहा। प्रायः सभी गणराज्य जन-राज्य ही थे और उनके नाम भी उसमें बसने वाले जनों पर पड़ते थे। प्राचीन ग्रीस में भी नगर-राज्य जन-राज्य थे। परन्तु राज्यों के क्षेत्र में विस्तार होने पर उनका स्वरूप बदल गया। एक राज्य में विभिन्न प्रदेशों के निवासी सम्मिलित हुए। उन सभी की राजतन्त्रीय शासन व्यवस्था होने के कारण उनमें आनुवंशिक आधार पर राजतन्त्र चला। यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि वैदिक काल में राज्य को राष्ट्र कहा जाता था, प्राचीन भारतीय राज्य आधुनिक अर्थ में राष्ट्रीय राज्य (Nation State) न थे। यूरोप में भी राज्यों का विकास 16वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ। प्राचीन भारतीय जन-राज्यों की जनता को अपने देश अथवा राष्ट्र से प्रेम था, किन्तु उनकी राष्ट्रीयता की भावना बहुत ही सीमित थी।



टास्क राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

1.6 राज्य के उद्देश्य व कार्य (Function and Purpose of State)

राज्य के उद्देश्य

आरम्भ में ही यह कहना उचित होगा कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य के उद्देश्यों के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया वह सर्वथा व्यवहारिक था और दोनों अतियों से बचाने वाला था। कहने का अभिप्राय यह है कि एक ओर हिन्दू राजशास्त्रियों ने राज्य को अनावश्यक तथा अनुपयोगी मानकर अराजकवादी (Anarchist) अथवा व्यक्तिवादी (Individualist) दृष्टिकोण नहीं अपनाया। अराजकवादियों के अनुसार तो राज्य सर्वथा अनावश्यक और अनुपयोगी है; यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करता है, अतः उसे उखाड़ फेंकना चाहिए। व्यक्तिवादी राज्य को आवश्यक बुराई (necessary evil) मानते हैं; उनके मतानुसार राज्य बुरा है, किन्तु आवश्यक भी है; अतः उसके कार्यों का क्षेत्र अत्यधिक सीमित होना चाहिए। दूसरी ओर हीगल जैसे विचारकों ने पाश्चात्य जगत में राज्य को ही सब कुछ माना है; संक्षेप में, वे राज्य को स्वयं में ध्येय मानते हैं और नागरिकों को उसकी प्राप्ति का साधन मात्र, यथा फासिस्टवादी अथवा सर्वाधिकारवादी। परन्तु प्राचीन भारत में इस अति को भी नहीं अपनाया गया। प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य की आवश्यकता तथा महत्त्व को स्वीकार किया है और कई राजशास्त्रियों ने तो इन पर विशेष बल दिया है।

वैदिक काल तथा बाद के काल में धर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म का प्रत्येक वर्ण तथा निवासियों से पालन करवाना राज्य का प्रमुख लक्ष्य था। राजा इस बात का भरसक प्रयत्न करते थे कि वे स्वयं धर्म का पालन करें तथा अपनी प्रजा से भी धर्म का पालन करावें। जो धर्म का पालन नहीं करते थे उन्हें दण्ड दिया जाता था; क्योंकि राज्य के कानूनों का प्रधान आधार ही धर्म था, जिसमें प्रथाएँ भी सम्मिलित समझी जा सकती हैं। महाकाव्य के विचारक इस बारे में एकमत हैं कि राज्य मनुष्य के सर्वोच्च ध्येय की प्राप्ति का साधन है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति स्वयं में ध्येय था और उसका आत्मिक-विकास सामाजिक जीवन का सर्वोच्च ध्येय था। **रंगा अयंगर** ने लिखा है—“राज्य का प्रथम कर्तव्य धर्म, विशेष रूप से साधारण और वर्णाश्रम धर्म—को स्थिर रखना था। राज्य की उत्पत्ति-विषयक पवित्र धारणा, दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त और अपने देश के इतिहास में पुरोहित-व्यवस्था का उद्भव, जनता का वर्णों में विभाजन, इन सब बातों ने धर्म को स्थिर बनाये रखना राज्य का प्रथम कर्तव्य बनाया था। राज्य के इस दायित्व को धार्मिक भावना से प्रेरित लेखकों यथा मनुस्मृति के रचयिता ने ही नहीं अपितु कौटिल्य जैसे अन्य लेखकों ने भी—जो राजनीति को लौकिक दृष्टिकोण से देखते थे—माना है। कौटिल्य का कथन है कि राजा जनता को उसके निर्धारित कर्तव्यों अर्थात् धर्म से नहीं हटने देगा, जो कोई भी अपने कर्तव्यों का पालन करता है, आर्यों की प्रथाओं को मानता है और वर्णाश्रम के अनुसार चलता है वह इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त करेगा।”

नोट

वैदिक वाङ्मय में राज्य के उद्देश्यों का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता, किन्तु यत्र-तत्र बिखरे हुए विचारों से हम जान सकते हैं कि धर्म-पालन, शान्ति-व्यवस्था, सुरक्षा और न्याय को राज्य का आधारभूत उद्देश्य समझा जाता था। राजा को वरुण जैसा कानून और व्यवस्था का रक्षक अथवा धृतव्रत होना चाहिए; उसे दुष्टों को दण्ड देने वाला और सज्जनों का सहायक होना चाहिए और उसे धर्म एवं नैतिकता को प्रोत्साहन तथा संरक्षण प्रदान करना चाहिए। राज्य को निवासियों के नैतिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक कल्याण के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जनता का सर्वांगीण विकास राज्य का मुख्य ध्येय माना जाता था। प्राचीन भारत के साहित्य में धर्म, अर्थ और काम अर्थात् त्रिवर्ग को प्रोत्साहन देने का उल्लेख राज्य के उद्देश्यों के रूप में बहुधा प्राप्त होता है। राजा को सदैव सर्वभूतहित में तत्पर रहना चाहिए अर्थात् उसे जनता के सांसारिक व आध्यात्मिक सभी प्रकार के कल्याण हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि धर्म का संवर्द्धन, सदाचार को प्रोत्साहन देना, प्रजा का संरक्षण व कल्याण राज्य के प्रधान उद्देश्य थे; क्योंकि धर्म-संवर्द्धन व कार्य संवर्द्धन भी राज्य के कर्तव्य थे। राज्य में अर्थ की वृद्धि के हेतु कृषि, व्यापार, उद्योग-धन्धे आदि की प्रगति होनी चाहिए। राष्ट्रीय साधनों का विकास, खानों की खुदाई, वनों का संरक्षण, कृषि के लिए सिंचाई आदि का प्रबन्ध आवश्यक समझा जाता था।

महाभारत (शान्ति पर्व, अध्याय 58) और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि राज्य का कार्य-क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था। इनके अनुसार तो राज्य के कार्यों का क्षेत्र जीवन के सभी पहलुओं—सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक—तक विस्तृत था। प्रजारंजन तथा प्रजा के योग-क्षेम के लिए राजाओं द्वारा सभी प्रकार के प्रयत्न किये जाते थे। महाभारत में राजा के कर्तव्यों के सम्बन्ध में ये बातें उल्लेखनीय हैं—“वह राजा सर्वश्रेष्ठ होता है जिसके राज्य में मनुष्य ऐसे निर्भय होकर चलते-फिरते हैं जैसे बेटे अपने पिता के घर में।” (शान्ति पर्व, 57.33) “मनु ने राजा के ये सात गुण बताये हैं—राजा माँ है, वह पिता, उपदेशक, रक्षक, अग्नि, वैश्रवण और यम है। जो राजा अपनी प्रजा के प्रति दयालु होता है, वह वास्तव में प्रजा का पिता है।” (शान्ति पर्व, अध्याय 133)। अनेक प्राचीन विचारकों ने राजा को प्रजापालक कहा है और प्रजारंजन अर्थात् प्रजा को सुखी बनाना राज्य का मुख्य कर्तव्य बताया है।

कौटिल्य ने संक्षेप में कहा है कि राजा का प्रधान कर्तव्य प्रजा का योग-क्षेम (कल्याण) करना है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इसी विचार को अभिव्यक्त किया गया है। ‘योग’ का अर्थ है उसे प्राप्त करना जो अर्जित न हुआ हो और ‘क्षेम’ का अर्थ है उसकी रक्षा करना जो अर्जित हो गया है। दोनों शब्दों का संयुक्त रूप में अधिकार-अधीन वस्तुओं या सम्पत्ति की सुरक्षा तथा उसकी वृद्धि करना और प्रजा की कुशलता बढ़ाना है। कौटिल्य ने जिस प्रशासन अधिकारियों और विभागों का वर्णन किया है, उनसे स्पष्ट है कि उस काल में राज्य का कार्य-क्षेत्र अति व्यापक था और राज्य आर्थिक क्षेत्र में अनेक कार्य करता था। इसी आधार पर कुछ लेखकों ने कहा है कि कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य समाजवादी था। डा. घोषाल ने कौटिल्य द्वारा अर्थशास्त्र में मुख्य नीतियों का विवेचन करते हुए कहा है कि लेखक ने सार्वजनिक हित में सुरक्षा की तीन-सूत्री नीति विहित की है। इसमें तीन बातें अन्तर्ग्राह्य हैं—प्रथम, कण्टक-शोधन-न्यायालयों तथा प्रशासनिक विनियमों द्वारा जनता की विभिन्न प्रकार के समाज विरोधी तत्त्वों से रक्षा; दूसरी, सभी प्रकार के दैवी प्रकोपों के विरुद्ध जनता की राज्य द्वारा सहायता; और तीसरी, पुलिस द्वारा जनता के गुप्त (छुपे हुए) शत्रुओं का दमन। इस नीति में मोटे रूप से उन प्रवृत्तियों और विशेषताओं का पूर्वाभास मिलता है जो आजकल समष्टिवादी (राजकीय समाजवादी) राज्यों में पाई जाती हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना अत्युक्ति न होगी कि प्राचीन भारत में राज्य कल्याणकारी थे, क्योंकि उनका उद्देश्य जनता का सभी प्रकार से कल्याण करना था। दूसरे शब्दों में, वे केवल शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने वाले पुलिस राज्य न थे। इस विचार को डा. जयसवाल ने इस प्रकार व्यक्त किया है—कर के सिद्धान्त, अभिषेक की शपथ और अन्य बातों को देखने से स्पष्ट है कि हिन्दुओं की दृष्टि में राजपद एक प्रकार का न्यास (trust) था। न्यास का उद्देश्य अभिषेक की शपथ में बताया गया है—“तुझे यह राज्य दिया जा रहा है, तू इसका निदेशक, नियामक और इसके उत्तरदायित्व का भार सहनकर्ता है—कृषि की भलाई, कल्याण, समृद्धि, जनता के विकास अर्थात् सफलता के लिए।” इस प्रकार से स्थापित न्यास का उद्देश्य जनता की समृद्धि होता था। डा. घोषाल ने धर्म-सूत्रों में निहित शासन-सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि उनमें हमें सर्वप्रथम कल्याणकारी राज्य

नोट

(welfare state) की संकल्पना का परिचय मिलता है; ऐसा राज्य केवल अपने प्रजाजनों के जीवन और सम्पत्ति की ही पूर्ण रक्षा नहीं करता, वरन् उसमें कमजोर और दरिद्र वर्गों के लिए राज्य-सहायता की विस्तृत पद्धति है। अपने समय के विख्यात फार्मुलों के पूर्वाभास के रूप में उनमें राज्य का दुहरा लक्ष्य बताया गया है—भय और अभाव से स्वतन्त्रता (freedom from fear and want)। इसी प्रकार हितकारी स्वेच्छाचारिता के आदर्श के पूर्वाभास रूप में धर्मशास्त्र के लेखक ने युक्ति दी है कि शासक और प्रजा के हितों में पूर्ण साम्य रहना चाहिए।

राज्य के कार्य

राज्य के उद्देश्यों से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से राज्य के कार्यों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। संक्षेप में, उन्हें इस प्रकार परिगणित किया जा सकता है—जनता की रक्षा (सुरक्षा), शान्ति और व्यवस्था, प्रचलित नियमों या कानूनों का पालन, न्याय, वर्णाश्रम धर्म का पालन, सुख और समृद्धि की वृद्धि और व्यक्ति के पूर्ण विकास में सहायता, अनेक प्रकार के आर्थिक कार्य तथा युद्ध व शान्ति आदि। राज्य के कार्य-क्षेत्र के विषय में बन्द्योपाध्याय के ये विचार जानने योग्य हैं—‘दण्डनीति को लागू करने का आधारभूत विचार मुख्यतः व्यवस्था बनाये रखना था, आधुनिक विचारकों की भाँति व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बढ़ाना नहीं। इसके संचालन का अर्थ राज्य के प्रत्येक सदस्य को समुचित अवसर प्रदान करना था। इस व्यवस्था के प्राप्त करने का अर्थ था कि व्यक्ति अपने जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति कर सके। आरम्भ से ही ‘जीवित रहना और दूसरों को जीवित रहने देना’ राज्य का आदर्श था। फलतः भौतिक दृष्टिकोण से राज्य के कार्यों का क्षेत्र पूर्णतया विस्तृत हो गया था और इसमें उद्योगों तथा व्यक्ति के यत्नों को सक्रिय सहायता व प्रोत्साहन देना सम्मिलित था। जीवन कलाओं, कृषि, व्यापार और वाणिज्य आदि का विनियमन राज्य के कार्य-क्षेत्र में आता था और ऐसी स्थिति अति प्राचीनकाल से ही थी। वैदिक काल के समारम्भ प्रार्थना गीतों में ऐसे विचार मिलते हैं और महाकाव्यों, जातकों तथा पुराणों में इनके व्यावहारिक उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार राज्य पुलिस संगठन से कुछ अधिक हो गया था। इसका मुख्य उद्देश्य सदस्यों के लिए सभी प्रकार के भौतिक हितों को प्राप्त करना था। राज्य नैतिक जीवन में भी मार्गदर्शन करता था; परन्तु राज्य ध्येय नहीं साधन ही रहा। राज्य के विभिन्न प्रकार के कार्यों का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत सुविधापूर्वक विवेचन किया जा सकता है—

1. **रक्षण**—जनता की रक्षा करना राज्य (अथवा राजा) का प्राचीन काल में भी आज की भाँति सबसे प्रमुख कर्तव्य था। इसमें निवासियों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा के साथ देश (राष्ट्र) की सुरक्षा भी सम्मिलित थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य सेना रखता था। साथ ही राज्य सामान्य कानूनों की व्यवस्था को मनवाता था। उसी के फलस्वरूप राज्य में शान्ति और व्यवस्था रहती थी। अपराधियों को राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता था, अतः न्याय दान की उचित व्यवस्था थी।
2. **सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखना**—सामाजिक व्यवस्था का आधार धर्म था। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करना आवश्यक था। राजा (राज्य) सभी व्यक्तियों से वर्णाश्रम धर्म का पालन कराता था। कौटिल्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि “जो राजा अपनी प्रजा की रक्षा नहीं करता अथवा सामाजिक व्यवस्था को भंग करता है, वह दण्ड का प्रयोग व्यर्थ में ही करता है।” उसके अनुसार धर्म और सामाजिक व्यवस्था बनाये रखना राज्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। अन्य विचारकों ने भी इस कर्तव्य पर बल दिया है।
3. **कर लगाना**—मनु ने कहा है कि जो राजा अपनी प्रजा की उचित रूप में रक्षा करता है, तो वह उनके पुण्य का छटा भाग पाता है; (यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे उनके पापों अथवा दोषों का छटा भाग मिलता है)। राज्य को पैदावार का छटा अंश तक कर रूप में लेने का अधिकार था। राज्य की आय के अन्य साधन भी थे, यथा खनिज पदार्थ, वन, जुमाने आदि। कर वसूल करने वाले तथा कोषाध्यक्ष आदि अनेक अधिकारियों के नाम प्राचीन राजनीतिक साहित्य में मिलते हैं।
4. **जन कल्याण को प्रोत्साहन**—उपर्युक्त समूहों में तो राज्य के अत्यन्त आवश्यक कार्यों का वर्णन किया गया है; जिनके बिना कोई भी राज्य सच्चाई में राज्य नहीं कहला सकता। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है—“प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है; उसके कल्याण में राजा का कल्याण है; जो कुछ राजा को स्वयं को

नोट

आनन्ददायक लगे उसे अच्छा नहीं सोचना चाहिए; परन्तु जो कुछ उसकी प्रजा को आनन्द दे राजा को उसे ही अच्छा सोचना चाहिए (प्रजा सुखे सुखम् राजनः प्रजा नाम का हिते हितम् ना आत्मप्रियम् हितम् राजनः प्रजानाम तु प्रियं हितम्)।” प्रजा के सुख के लिए राजा को अपने कर्तव्यों का उचित रूप से पालन करना चाहिए। राजा के कर्तव्यों में प्रजारंजन और प्रजापालन को सभी प्राचीन विचारकों ने आवश्यक बताया है। जनकल्याण के कार्यों में इन्हें मुख्य समझा जा सकता है—कृषि की उन्नति, उद्योगों को प्रोत्साहन, शिक्षा कलाओं को प्रोत्साहन, व्यापार तथा वाणिज्य आदि का विनियमन।

5. **आर्थिक कार्य**—जैसा कि इस खण्ड के आरम्भ में ही बताया गया है प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों ने राज्य के प्रति व्यक्तिवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया; उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप के सिद्धान्त (principle of laissez faire) का कभी भी समर्थन नहीं किया। सार्वजनिक हित में राज्य को अनेक प्रकार के आर्थिक कार्य करने चाहिए, यह विचार मनु, कौटिल्य आदि महत्वपूर्ण आचार्यों के ग्रंथों में मिलता है। मनु घोषित करता है कि जबकि चोर और डाकू छुपे हुए धोखेबाज हैं, व्यापारी खुले रूप से धोखा देते हैं, जिन्हें राज्य को कठोरतापूर्वक नियंत्रण में रखना चाहिए। इसलिए उसने अनेक प्रकार के व्यापारियों को राज्य के नियन्त्रण-अधीन रखा है। कौटिल्य ने श्रमिकों के लिए विस्तृत नियम विहित किये हैं। उसके अनुसार राज्य को सदैव सार्वजनिक निर्माण-कार्य करने चाहिए। कौटिल्य ने तो वेश्यालयों, मदिरापान के स्थानों, जुआघरों, मनोरंजन कम्पनियों और सभी प्रकार के व्यापारियों तथा व्यावसायियों को राज्य के नियन्त्रण तथा विनियमन अधीन रखा है। राज्य की ओर से नाप-तोल आदि भी विनियमित होने चाहिए और राज्य को आवश्यक वस्तुओं के मूल्य भी निर्धारित करने चाहिए। खानों तथा नमक व्यवसाय पर राज्य का एकाधिकार था।
6. **अन्तर्राज्य सम्बन्ध**—प्राचीन भारत में अनेक छोटे राज्य थे; जिनके बीच अन्तर्राज्य सम्बन्ध स्थापित थे। बाद के काल में बड़े राज्य और साम्राज्य भी अस्तित्व में आये। अन्तर्राज्य सम्बन्धों का भी विकास हुआ। प्राचीन भारत में दूत पद्धति काफी विकसित थी। युद्ध और सन्धि के विभिन्न प्रकार थे और उनके लिए अनेक नियम निर्धारित किये गये थे। साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति, षाड्गुण्य सिद्धान्त, मण्डल सिद्धान्त आदि का विकास इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारत के राज्यों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध विकसित अवस्था में थे।

अन्त में, विभिन्न ग्रन्थों में राज्य के कार्यों का वर्णन मिलता है, जिसका विवेचन पूर्वगामी अध्यायों में यथास्थान किया जा चुका है। ऐसे ही इस सम्बन्ध में कौटिल्य, मनु, याज्ञवल्क्य, कामन्दक व शुक्र आदि राजशास्त्रियों के विचारों का विस्तृत विवेचन उनसे सम्बन्धित अध्यायों में किया जा चुका है। इस बात को फिर एक बार दोहराना अनुचित न होगा कि प्राचीन भारत में राज्य के कार्यों का क्षेत्र विस्तृत था और राज्य प्रायः सभी प्रकार के ऐसे कार्य करता था जिनसे प्रजा की रक्षा हो, उसके सुख व समृद्धि में वृद्धि हो और व्यक्ति को सर्वांगीण विकास के लिए समुचित अवसर मिले।

1.7 सारांश (Summary)

- मानव समाज के विकास और उत्कर्ष में राज्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस विषय में शुक्रनीति में कहा गया है—“जैसे कि इन्द्र की पत्नी कभी भी विधवा नहीं हो सकती, उसी प्रकार धर्म-विमुख लोग भी, जो शासन को ही नहीं चाहते, राजा (राज्य) के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते।”
- पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है—दैवी सिद्धान्त, शक्ति का सिद्धान्त, अनुबंध (संविदा) का सिद्धान्त तथा विकास का सिद्धान्त।
- प्राचीन भारत में साधारणतः राज्य (अथवा शासन) का प्रचलित रूप राजतन्त्र था, परन्तु अन्य प्रकार के भी राज्य पाये जाते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्टतः कहा गया है साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठय राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय, सामन्त-पर्यायी राज्य शासन के विभिन्न प्रकार हैं।

नोट

- राज्य के स्वरूप के विषय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त, जिसका पाश्चात्य जगत में आधुनिक युग में प्रतिपादन किया गया, प्रभुता (Sovereignty) का है। अधिकतर विचारक इसे राज्य का आवश्यक तत्व भी मानते हैं।
- प्राचीन भारत में प्रभुता राजा में समाविष्ट थी और शाही प्रभुता राज्य की सत्ता का प्रतीक थी। बौद्धिक साहित्य में प्रभुता के भारतीय रूपान्तर 'क्षात्र' और 'क्षत्रश्री' थे।

1.8 शब्दकोश (Keywords)

- वैराज्य**—राजविहीन शासन, जिसमें राजा नहीं होता, सभी लोग मिलकर शासन-प्रबन्ध करते हैं।
- सप्तांग राज्य**—सात अंगों अथवा तत्वों से बना राज्य (स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड और मित्र)।

1.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

- राज्य के उत्पत्ति के सिद्धांत का विशद वर्णन करें।
- अनुबंध (संविदा) सिद्धांत की विवेचना करें।
- प्राचीन भारत के विभिन्न प्रकार के राज्यों का वर्णन करें।
- सप्तांग राज्य के सिद्धांत की समीक्षा करें।
- प्राचीन भारत में प्रभुता के सिद्धांत पर प्रकाश डालें।
- राज्य के उद्देश्य एवं कार्यों का वर्णन करें।
- भारतीय सिद्धांतों एवं पाश्चात्य सिद्धांतों की तुलनात्मक समीक्षा करें।
- टिप्पणी लिखें—
(क) प्राचीन भारत में साम्राज्य (ख) प्राचीन भारत में स्वराज्य।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|-----------------|---------------|------------------|---------------|
| 1. राज्य | 2. चार | 3. दैवी | 4. विकास |
| 5. (ख) राजतंत्र | 6. (ग) ज्ञानी | 7. (घ) साम्राज्य | 8. (क) समुद्र |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. सत्य | 12. सत्य। |

1.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

- भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
- प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
- 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
- औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
- मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशनस।

नोट

इकाई-2: गणराज्यों से साम्राज्य (Territorial State to Empire)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 2.1 विदेह में गणतंत्र की स्थापना (Establishment of Ganatantra in Videh)
- 2.2 काशी और कोसल का उत्कर्ष (Rise of Kosal and Kashi)
- 2.3 मगध साम्राज्य की राजनीतिक स्थिति (Political Condition of Magadha Empire)
- 2.4 मगध साम्राज्य का उत्थान (Rise of Magadha Empire)
- 2.5 भारत में आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन (Economic and Social Changes in India)
- 2.6 सारांश (Summary)
- 2.7 शब्दकोश (Keywords)
- 2.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 2.9 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- विदेह में गणतन्त्र की स्थापना को समझने में;
- काशी और कोसल के उत्कर्ष को समझने में;
- मगध साम्राज्य की राजनीतिक स्थिति और राज्य के उत्थान को समझने में;
- आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

वैदिक युग में भारतीय आर्यों के विविध राज्यों में राजतन्त्र शासन विद्यमान थे, पर कतिपय राज्य या जनपद ऐसे भी थे, जिनमें वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन नहीं था। ऐसे राज्यों को गणराज्य कहा जाता है। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से कुछ ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनसे वैदिक काल में भी गणराज्यों की सत्ता सूचित होती है। वीतहोत्र जन यादवों की एक शाखा थी, और अनेक विद्वानों के मत में वहाँ गण-शासन विद्यमान था। यादवों की ही अन्यतम शाखा अन्धक और वृष्णि थे। महाभारत के अनुसार इनमें भी गण-शासन था। एक प्राचीन इतिहास का उल्लेख महाभारत में किया गया है, जिसमें नारद और कृष्ण (वृष्णिगण के मुख्य) का संवाद है। इस संवाद में वासुदेव कृष्ण ने मुनि नारद के सम्मुख वे कठिनाइयाँ उपस्थित की हैं, जो गणशासन के मुख्य (प्रधान व अध्यक्ष) के रूप में उन्हें अनुभव हुआ करती थीं। नारद ने इन कठिनाइयों पर विजय पाने के उपायों का उपदेश दिया है। नारद के अनुसार कृष्ण की

नोट

कठिनाइयाँ आभ्यन्तर आपदों के कारण थी और इन पर काबू पाने के उपाय थे—मृदुवाणी और गणराज्य के निवासियों व नेताओं का यथायोग्य सत्कार। इस सत्कार के अंगरूप अन्नदान (भोजन आदि द्वारा सम्मान) का भी नारद ने उपदेश दिया है। नारद ने यह भी कहा है, कि गणराज्यों का विनाश परस्पर फूट द्वारा होता है और उनके मुख्यों को ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे उनमें फूट न पैदा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत के समय में अन्धक, वृष्णि भोज आदि विविध यादव जनों में गणराज्य स्थापित थे और इन गणों का एक संघ भी संगठित था। महाभारत युद्ध में किस पक्ष में सम्मिलित हुआ जाये, इस विषय पर इस संघ के अंतर्गत विविध राज्य परस्पर सहमत नहीं हो सके थे। महाभारत युद्ध की समाप्ति के बाद भी यादवों का यह आन्तरिक मतभेद व विरोध कायम रहा था और उनमें परस्पर संघर्ष भी हुए थे। इन लड़ाइयों के कारण यादवों की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी थी और कृष्ण का अन्तिम जीवन निराशा में व्यतीत हुआ था।



नोट्स मगध के सम्राट् जरासन्ध की हत्या कराके कृष्ण पाण्डवों के उत्कर्ष में तो सहायक हुए थे, पर अपने यादव-संघ की शक्ति व एकता को कायम रखने में उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी।

2.1 विदेह में गणतन्त्र की स्थापना (Establishment of Ganatantra in Videh)

बौद्ध-युग में भारत के बहुत-से जनपदों में गणतन्त्र शासन भी विद्यमान थे। वैदिक काल के अनेक ऐसे जनपद, जिनमें पहले वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, बौद्ध-युग तक गणतन्त्र हो चुके थे। कुरु, पंचाल, विदेह आदि कितने ही ऐसे गणराज्य बौद्धकाल में मौर्य-वंश से पूर्व विद्यमान थे, जिनमें पहले वंशक्रमानुगत राजा राज्य करते थे। राजतन्त्र से गणतन्त्र का यह परिवर्तन कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित विवरण प्राचीन साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। प्राचीन ग्रीक-राज्यों में भी इसी प्रकार के परिवर्तन हुए थे। इनमें से कुछ का इतिहास हमें ज्ञात भी है। इसी कारण प्राचीन ग्रीक इतिहास बहुत महत्वपूर्ण व मनोरंजक है। भारत के इन प्राचीन राज्यों के सम्बन्ध में भी यदि राजतन्त्र से गणतन्त्र में परिवर्तन होने का वृत्तान्त उपलब्ध हो सकता, तो प्राचीन भारतीय इतिहास का महत्व बहुत बढ़ जाता। पर विदेह-राज्य के सम्बन्ध में इस प्रकार के कुछ निर्देश मिलते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में यह कथा आती है, कि विदेह का राजा जनक तत्त्व चिन्तन और ब्रह्मज्ञान में इतना अधिक लीन हो गया था कि उसे राज्य की कोई भी परवाह नहीं रही थी। वह ऐसा निर्द्वन्द्व व विमुक्त हो गया था कि मोक्ष उसे नजर-सा आने लगा था। इसीलिए वह कहा करता था—“जब मेरे पास कोई धन न हो, तभी मेरे पास अनन्त धन होगा। अगर मिथिला अग्नि द्वारा भस्म भी हो जाए, तो भी मेरा क्या बिगड़ता है?” जिस राजा की यह मनोवृत्ति हो, वह व्यक्तिगत रूप से चाहे कितना ही ऊँचा और महात्मा क्यों न हो, पर अपने शासन-कार्य को वह कभी कुशलतापूर्वक नहीं चला सकता। जनक की यह मनोवृत्ति होने पर उसकी धर्मपत्नी ने उसे बहुत समझाया। उसने उसे उस प्रतिज्ञा का स्मरण कराया, जो राज्याभिषेक के समय पर उसने की थी। उसने कहा—तुम्हारी प्रतिज्ञा और थी, पर तुम्हारे कर्म बिलकुल दूसरी तरह के हैं। उसने यह भी समझाया, कि तुम धर्म का सच्चे अर्थों में पालन राजधर्म का अनुसरण करते हुए ही भलीभाँति कर सकते हो, पर अपनी पत्नी की कोई बात जनक की समझ में नहीं आयी। इसलिए महाभारत में लिखा है—“इस संसार में राजा जनक कितना तत्त्वज्ञानी प्रसिद्ध है, पर वह भी मूर्खता के जाल में फँस गया था।” संसार के इतिहास में कितने ही राजाओं को अपने राजसिंहासन का परित्याग इसलिए करना पड़ा, क्योंकि वे अपने राजधर्म की उपेक्षा कर प्रजा पर अत्याचार करते थे। पर जनक ने ब्रह्मज्ञान में लीन होकर अपने राजधर्म की उपेक्षा की थी। “मिथिला अगर अग्नि द्वारा भस्म हो जाए, तो भी मेरा क्या बिगड़ता है?” यह मनोवृत्ति एक वीतराग योगी के लिए चाहे उचित हो, पर एक राजा के लिए इसे कभी सहन नहीं किया जा सकता। राजा के लिए यह मनोवृत्ति ठीक वैसी ही है, जैसी कि रोमन-सम्राट् नीरो की थी, जो कि रोम में आग लगने पर स्वयं बाँसुरी बजाता हुआ उस दृश्य का आनन्द ले रहा था। महाभारत में उल्लिखित राजा जनक की मनोवृत्ति के कारण जनता में उसके विरुद्ध कितना असन्तोष उत्पन्न हुआ होगा, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है।

नोट



उदाहरण जनता के इस असन्तोष का परिणाम शायद यह हुआ कि जब विदेह के एक अन्य राजा ने प्रजा के प्रति अनुचित व्यवहार किया, तो जनता उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई, और बन्धु-बान्धवों सहित उसका विनाश कर दिया।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में लिखा है, कि दाण्डक्य नामक भोज (राजा) ने काम के वश होकर जब एक ब्राह्मण-कन्या के साथ बलात्कार किया, तो बान्धवों के साथ उसका विनाश हो गया। यही बात वैदेह (विदेह-वंश के) कराल के साथ हुई। सम्भवतः, राजा कराल विदेह का अन्तिम 'जनक' (राजा) था और काम के वशीभूत होने के कारण जब वह प्रजा पर अत्याचार करने लगा, तो जनता उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई और उसके शासन का अन्त कर दिया। विदेह के पहले राजा ब्रह्मज्ञान में लीन रहने के कारण राजधर्म की उपेक्षा करते थे और जब उनमें से एक की वृत्ति कामलोलुप होने के कारण बहुत विकृत हो गयी, तो वहाँ के जनक राजाओं का शासन स्थिर रह सकना सम्भव नहीं रहा।

अन्य राज्यों में गणतन्त्र की स्थापना

आचार्य चाणक्य के अर्थशास्त्र में ही कतिपय अन्य ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनमें राजाओं के विरुद्ध विद्रोह और इस प्रकार उनके नष्ट होने का उल्लेख किया गया है। भोजवंशी दाण्डक्य और विदेहवंशी कराल के काम के वशीभूत होने के कारण विनाश का जिक्र हमने अभी किया है। अर्थशास्त्र के अनुसार सौवीर अजबिन्दु और राजा ऐल का विनाश इसलिए हुआ, क्योंकि वे अत्यन्त लोभी थे और उन्होंने चारों वर्णों पर अत्यधिक कर लगाया था। कुरुदेश और पंचाल देश के राजा ऐल-वंश के थे। इन दोनों में वंशक्रमानुगत राजाओं का अन्त होकर बाद में गणतन्त्र-शासन की स्थापना की गयी थी। अर्थशास्त्र में लोभवश 'ऐल' के विनष्ट होने की जो बात लिखी गयी है, कोई आश्चर्य नहीं कि वह कुरु और पंचाल के ऐलवंशी राजाओं के साथ सम्बन्ध रखती हो। इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण देकर अन्त में आचार्य चाणक्य ने लिखा है—ये और अन्य बहुत-से राजा कर्ण, त्वक्, आँख, जीभ और नासिका—इन पाँच इन्द्रियों पर विजय न करने के कारण न केवल अपने बान्धवों के साथ स्वयं नष्ट हो गए, अपितु अपने राष्ट्रों से भी हाथ धो बैठे। इसमें सन्देह नहीं, कि आचार्य चाणक्य के समय में उन राजाओं का इतिवृत्त विद्यमान था, जिनके विरुद्ध जनता के विद्रोह किया था और जिन्हें नष्ट कर जनता ने गणतन्त्र शासनों की स्थापना की थी।

2.2 काशी और कोसल का उत्कर्ष (Rise of Kosal and Kashi)

महाभारत-युद्ध के समय में भारत के आर्य-राज्यों में कुरु सर्वप्रधान था, पर बाद में काशी और कोसल का महत्त्व बढ़ने लगा। नागों के आक्रमण, गंगा की बाढ़ और टिड्डी दल के उत्पात के कारण कुरुदेश की शक्ति का हास हुआ। जब उत्तरी भारत में आर्य-राज्यों का नेतृत्व काशी और कोसल के हाथों में आया और महाभारत-युद्ध और बौद्ध-युग के मध्यवर्ती काल में ये दोनों राज्य बहुत शक्तिशाली तथा समृद्ध हो गए।

उपनिषदों के समय में जबकि केकय के अश्वपति, विदेह के जनक और पंचाल के प्रवाहण जाबालि तत्त्वज्ञान में निरत विद्वानों के आश्रयदाता व संरक्षक थे, तब काशी का राजा अजातशत्रु था जिसका उल्लेख उपनिषदों में आता है। यह भी अध्यात्मचिन्तक व ब्रह्मज्ञानियों का संरक्षक था। जातक कथाओं में काशी के राजाओं को 'ब्रह्मदत्त' कहा गया है, जो उनकी वंशक्रमानुगत उपाधि थी। ये ब्रह्मदत्त राजा बड़े प्रतापी और समृद्ध थे। अनेक बार वे कोसल देश को भी अपनी अधीनता में लाने में सफल हुए थे। कुछ समय के लिए तो अश्मक-राज्य भी काशी के अधीन हो गया था। अश्मक की राजधानी पोतन या पौदन्य थी। अश्मक को जीत लेने के कारण दक्षिण में गोदावरी तक का प्रदेश काशी के साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था और कुछ समय के लिए वह उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक-शक्ति बन गया था।

कोसल की राजधानी अयोध्या थी और उसके राजा प्राचीन इक्ष्वाकु-वंश के थे। काशी-राज्य की शक्ति के कारण कुछ समय तक कोसल उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं रह सका, पर बाद में उसकी बहुत उन्नति हुई। भगवान बुद्ध के समय तक काशी का उत्कर्ष समाप्त हो गया था और कोसल के राजाओं ने काशी को भी अपने अधीन कर

लिया था। जातक साहित्य के अनुसार काशी को जीतकर अपने अधीन करने वाले राजा का नाम बंक था। बौद्ध-युग में कोसल की राजधानी श्रावस्ती हो गयी थी, यद्यपि अयोध्या का महत्त्व कम नहीं हुआ।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the Blanks)–

1. वैदिक युग में भारतीय आर्यों के विविध राज्यों में शासन विद्यमान था।
2. जिस राज्य या जनपद में वंशानुगत राजाओं का शासन नहीं था उसे कहा जाता था।
3. महाभारत युद्ध के समय में भारत के आर्य-राज्यों में सर्वप्रधान था।
4. कोसल की राजधानी थी एवं उसके राजा इक्ष्वाकु वंश के थे।

2.3 मगध साम्राज्य की राजनीतिक स्थिति (Political Condition of Magadha Empire)

ई.पू. छठी शताब्दी अथवा बुद्ध के समय में भारत छोटे-छोटे अनेक राज्यों में विभाजित था। इनमें से अधिकांश राजतन्त्र थे, परन्तु बहुत से राज्य गणतन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र भी थे। इन राज्यों के बारे में जानने के साधन यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थ भी हैं, परन्तु जैन और मुख्यतया बौद्ध धर्म-ग्रन्थों को अधिक विश्वसनीय माना जाता है।

1. गणतन्त्र (The Republic)

बौद्ध-ग्रन्थों में निम्नलिखित प्रमुख गणतन्त्रीय अथवा कुलीनतन्त्रीय राज्यों अथवा जातियों का उल्लेख किया गया है–

1. **कपिलवस्तु के शाक्य**–ये हिमालय की तराई में नेपाल की सीमा के निकट रहते थे। वे अपने को सूर्यवंशीय इक्ष्वाकु-वंश का मानते थे।
2. **समसुभगिरि के भग्न**–डॉ. जयसवाल के अनुसार इनका राज्य मिर्जापुर जिले के निकट था।
3. **अल्लकप्प के बुलि**–इसकी सीमाएँ शाहाबाद और मुजफ्फरपुर के बीच में कहीं थीं।
4. **केसपुत्त के कालाप**–इनका स्थान क्या था, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता।
5. **रामगाम के कोलिय**–इसका स्थान शाक्य के पूर्व में था और रोहिणी नदी इन दोनों की सीमाओं को विभाजित करती थी।
6. **पावा के मल्ल**–आधुनिक फाजिलपुर को 'पावा' माना गया है, जहाँ महावीर की मृत्यु हुई थी।
7. **कुशीनारा के मल्ल**–यह मल्लों की दूसरी शाखा थी। आधुनिक केसिया को उस समय कुशीनारा (कुशीनगर) पुकारा जाता था।
8. **पिप्पलिवन के मोरिया**–मौर्य-वंश के राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य इसी वंश का शासक था।
9. **मिथिला के विदेह**–नेपाल की सीमा के निकट आधुनिक जनकपुर का नाम मिथिला था।
10. **वैशाली के लिच्छवि**–आधुनिक मुजफ्फरपुर जिले (उत्तरी बिहार) के बसारह को वैशाली पुकारा जाता था। कुछ विद्वानों ने लिच्छवियों को विदेशी बताया है, परन्तु यह विचार स्वीकार नहीं किया गया, अपितु यह माना जाता है कि वे भारतीय क्षत्री थे।

इन गणतन्त्रीय एवं कुलीनतन्त्रीय राज्यों में से केवल शाक्य और लिच्छवी राज्यों के बारे में ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। इनके विषय में एक बात महत्वपूर्ण है, जैसा कि बी.सी. लो ने लिखा है–“आरम्भ में इनमें से अधिकांश जातियों पर राजा का शासन था। इस कारण, ग्रीस की भाँति, भारत में भी राजतन्त्रों को नष्ट करके कुलीनतन्त्र अथवा गणतन्त्रीय राज्यों की स्थापना का मूल कारण राजाओं की अयोग्यता तथा अत्याचार ही रहा होगा, यह विश्वास किया जाता है।

नोट

2. राजतन्त्र (The Monarchy)

बौद्ध और जैन, दोनों के ही धार्मिक ग्रन्थ उस समय के भारत में 16 महाजनपदों का उल्लेख करते हैं, यद्यपि वे उनके नामों में कुछ अन्तर कर देते हैं। जैन ग्रन्थ के भगवती सूत्र में सोलह महाजनपदों की सूची मिलती है। बौद्ध धर्म-ग्रन्थ 'अंगुत्तर-निकाय' के अनुसार भारत में उस काल में निम्न 16 'महाजनपद' थे—

1. **अंग**—आधुनिक मुंगेर और भागलपुर जिलों (बिहार) में अंग-राज्य था, जिसकी राजधानी चम्पा थी। चम्पा अथवा आधुनिक चाँदन नदी के पश्चिम में मगध-राज्य और पूर्व में अंग-राज्य था। यहाँ का शासक ब्रह्मदत्त था, कालान्तर में बिम्बिसार ने अंग को जीतकर मगध में मिलाया।
2. **काशी**—इसकी राजधानी वाराणसी (आधुनिक बनारस) थी और यह एक सम्पन्न और विस्तृत राज्य था और वरुणा एवं असी नदियों के मध्य स्थित था। परन्तु अंग, कोसी और मगध के राज्यों से इसकी प्रतिस्पर्धा रहती थी। महात्मा बुद्ध के कुछ समय पहले ही कोसल-राज्य ने इस पर अपना अधिकार कर लिया था।
3. **वज्जि या व्रजि**—यह आठ अथवा नौ जातियों का संघ-राज्य था। इन जातियों में वज्जि, विदेह, लिच्छवि और ज्ञात्रिक मुख्य जातियाँ थीं। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली ही इस वज्जि-संघ-राज्य की राजधानी थी।
4. **मल्ल**—सम्भवतया मल्ल-राज्य का निर्माण 9 जातियों की सीमाओं से मिलकर हुआ था परन्तु मल्ल की केवल दो शाखाओं का ही उल्लेख प्राप्त हुआ है। इसमें से एक की राजधानी कुशीनारा (कुशीनगर) और दूसरे की राजधानी पावा थी। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् मल्ल-राज्य पर मगध ने अधिकार कर लिया।
5. **चेदि अथवा चेति**—चेदि-वंश भारत के प्राचीन क्षत्री-वंशों में से एक था। यह वंश दो स्थलों पर बसा हुआ था—एक नेपाल की तराई के निकट और दूसरा बुन्देलखण्ड में कौशाम्बी के निकट। इसकी राजधानी शुक्ल अर्थात् शक्तिमती थी। इन्हीं की एक शाखा ने कलिंग में अपना पृथक् राज्य स्थापित किया।
6. **कुरु**—इस राज्य में आधुनिक समय के दिल्ली, मेरठ और थानेश्वर सम्मिलित थे। इनकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ (हस्तिनापुर) थी, परन्तु यह राज्य अधिक शक्तिशाली न था।
7. **पांचाल**—पांचाल प्रदेश हिमालय की तराई से चम्बल नदी तक फैला हुआ था, जिसमें बदायूँ, फर्रुखाबाद और उत्तर-प्रदेश के कुछ जिले थे, परन्तु महाभारत-काल में ही यह दो भागों में विभक्त हो गया था। गंगा नदी इनको उत्तर-पांचाल और दक्षिण-पांचाल में विभाजित करती थी। उत्तर-पांचाल की राजधानी अहिक्षत्र (बरेली जिले में आधुनिक रामनगर) और दक्षिण-पांचाल की राजधानी कम्पिल (फर्रुखाबाद जिले में) थी। ई.पू. छठी अथवा पाँचवीं सदी में पांचालों ने गणतन्त्रीय राज्य की स्थापना कर ली थी।
8. **मत्स्य अथवा मच्छ**—आधुनिक जयपुर, अलवर और भरतपुर का कुछ भाग इसमें सम्मिलित था। इसकी राजधानी विराटनगर (आधुनिक वैराट) थी।
9. **शूरसेन**—यह राज्य मथुरा के आसपास था। मथुरा इसकी राजधानी थी। इसे भी मगध-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।
10. **अस्सक अथवा अश्मक**—यह राज्य गोदावरी नदी के तट पर था। पोतन अथवा पोटलि इसकी राजधानी थी।
11. **गन्धार**—इसमें पेशावर और रावलपिण्डी के जिले सम्मिलित थे। इसकी राजधानी तक्षशिला (आधुनिक तक्षिला) थी।
12. **काम्बोज**—इसमें कश्मीर के दक्षिण-पश्चिम और काफिरिस्तान के कुछ भाग सम्मिलित थे। पुंज के दक्षिण में रामपुरा काम्बोजों का मूल स्थान था।
इस समय प्रमुख जनपद अवन्ति, वत्स, कोसल और मगध थे।
13. **अवन्ति**—अवन्ति-राज्य में आधुनिक मालवा और उसके निकट के मध्य प्रदेश के कुछ भाग सम्मिलित थे। डॉ. डी.आर. भण्डारकर के अनुसार इनका राज्य उत्तर और दक्षिण के दो भागों में बँटा हुआ था। उत्तरी भाग की राजधानी उज्जयनी और दक्षिणी भाग की राजधानी माहिष्मती थी। यहाँ का शासक चण्ड प्रद्योत महासेन

नोट

था जो बुद्ध का समकालीन और एक शक्तिशाली शासक था। उसका निकट के वत्स, कोसल और मगध के राज्यों से झगड़ा रहता था। एक बार उसने कोसल-नरेश उदयन को बन्दी बना लिया था और मगध के शक्तिशाली शासक अजातशत्रु को उसके भय से अपनी राजधानी की सुरक्षा का विशेष प्रबन्ध करना पड़ा था। पुराणों के अनुसार प्रद्योत ने 23 वर्ष शासन किया। इसके पश्चात् उसके चार उत्तराधिकारी हुए जिन्होंने क्रमशः 24, 50, 21 और 20 वर्ष शासन किया। उसके अन्तिम शासक को शिशुनाग ने परास्त किया जिसने अवन्ति को मगध-राज्य में सम्मिलित कर लिया।



क्या आप जानते हैं? मौर्यवंश का संस्थापक चंद्रगुप्त मौर्य पिप्पलिवन के मौरिया वंश का था।

14. **वत्स**—वत्स राज्य यमुना नदी के तट पर बसा हुआ एक सम्पन्न राज्य था जो सूती वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था। इसकी राजधानी आधुनिक इलाहाबाद के निकट कौशाम्बी थी। यहाँ का शासक बुद्ध का समकालीन उदयन था जो शुरू में बुद्ध से प्रभावित न था परन्तु जिसने बाद में उनके एक शिष्य से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। उदयन एक योग्य, शक्तिशाली और विभिन्न कलाओं का जानने वाला राजा था। वह संगीत-कला में प्रवीण था और यह विश्वास किया जाता था कि हाथियों को पालतू बनाने की कला का उसे अद्वितीय ज्ञान था। अवन्ति के शासक प्रद्योत ने इस कला को सीखने के लिए उसे धोखे से पकड़ लिया। बाद में उदयन प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता को लेकर भाग गया और उससे अपना विवाह कर लिया। उसने कई विवाह किये थे जिनमें से एक अन्य मुख्य विवाह मगध के राजा दर्शन की बहिन पद्मावती से किया था। भास ने उस पर 'स्वप्न वासवदत्ता' और सम्राट हर्ष ने 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' नामक नाटक लिखे। कवि कालिदास द्वारा रचित 'मेघदूत' में भी उसका वर्णन है। 'कथासरितसागर' में उसकी दिग्विजयों का वर्णन किया गया है। 'प्रियदर्शिका' में उसे कलिंग देश का विजेता बताया गया है। इन सभी विवरणों से यह सिद्ध होता है कि उदयन न केवल एक शक्तिशाली और योग्य शासक था अपितु वह अत्यन्त लोकप्रिय भी था। उदयन की मृत्यु महात्मा बुद्ध के बाद हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् के वत्स-राज्य के इतिहास के बारे में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है।
15. **कोसल**—कोसल-राज्य की सीमाएँ प्रायः आधुनिक अवध की सीमाएँ थीं। वह पश्चिम में पांचाल-राज्य की सीमाओं से लेकर पूर्व में गण्डक नदी तक और उत्तर में नेपाल की सीमाओं से लेकर दक्षिण में साई नदी तक फैला हुआ था। काशी और कपिलवस्तु के शाक्यों को जीत लेने के पश्चात् यह राज्य बहुत शक्तिशाली हो गया। कोसल-राज्य सरयू नदी के कारण दो भागों में विभक्त था। उत्तरी कोसल की राजधानी श्रावस्ती थी और दक्षिणी कोसल की राजधानी कुशावती थी जहाँ का शासक प्रसेनजित था जो बुद्ध का समकालीन था प्रसेनजित महात्मा बुद्ध का भक्त था और उसने उनके वंश (शाक्य-वंश) की एक राजकुमारी से विवाह करना चाहा। शाक्य अपनी जाति की श्रेष्ठता में विश्वास करते थे। इस कारण उन्होंने एक शाक्य सरदार की दासी-पुत्री का विवाह प्रसेनजित से कर दिया। उसी कन्या से विदूदभ का जन्म हुआ। बाद में जब प्रसेनजित को अपनी पत्नी के दासी-पुत्री होने का पता लगा तो उसने अपनी पत्नी और पुत्र, दोनों को त्याग दिया। यद्यपि बुद्ध के कहने से उसने उन्हें स्वीकार कर लिया परन्तु इस घटना ने सम्भवतया पिता-पुत्र के सम्बन्ध खराब कर दिये। प्रसेनजित ने अपनी बहन कोसलदेवी का विवाह मगध के राजा बिम्बिसार से किया था और उसे काशी का कुछ भाग दहेज के रूप में दिया था। जब अजातशत्रु ने मगध के राज्य पर अपना अधिकार कर लिया तब प्रसेनजित ने दहेज में दिए हुए अपने राज्य को उससे वापस लेने का प्रयत्न किया जिसके कारण कोसल और मगध में युद्ध हुआ। प्रसेनजित का पारिवारिक जीवन कष्टमय हो गया था और एक बार जब वह बुद्ध से मिलने गया हुआ था, उसके पुत्र विदूदभ ने विद्रोह करके राज्य पर अधिकार कर लिया। सम्भवतया उसकी बौद्ध धर्म की प्रवृत्ति अथवा शासन करने की उसकी अयोग्यता के कारण प्रजा भी उसके विरुद्ध हो गयी थी। इस कारण प्रसेनजित मगध के शासक अजातशत्रु से सहायता के लिए राजगृह की ओर गया परन्तु वहाँ पहुँचने से पहले ही उसकी मृत्यु हो गयी। प्रसेनजित की मृत्यु के साथ ही कोसल-राज्य का यश समाप्त हो गया। उसके पुत्र विदूदभ ने शाक्यों से कठोर बदला लिया। यह कहा जाता है कि उसने किसी

नोट

शाक्य स्त्री, पुरुष और बच्चे को जीवित नहीं छोड़ा। यद्यपि बहुत से शाक्य जान बचाकर भाग गये होंगे, परन्तु उसके पश्चात् शाक्य-जाति प्रायः नष्ट हो गयी। विदूदभ और उसके पश्चात् के कोसल-राज्य के इतिहास के बारे में अन्य किसी घटना का पता नहीं लगता। विदूदभ की मृत्यु एक दुर्घटना में हुई।

16. **मगध**—इस समय के बड़े राज्यों में मगध भी एक राज्य था जहाँ एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई। मगध के उत्थान के समय से भारत में बड़े साम्राज्यों और बड़े सम्राटों का युग प्रारम्भ होता है। उत्तर-भारत में नन्द-वंश, मौर्य-वंश और गुप्त-वंश के साम्राज्यों का निर्माण मगध में ही हुआ है।



टास्क मगध साम्राज्य के कोसल जनपद पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

उस समय के इन राज्यों का शासन समान था। 'ऐतरेय-ब्राह्मण' में साम्राज्य, भोज्य, स्वराज्य, वैराज्य और राज्य, इन पाँच प्रकार की शासन-विधियों का वर्णन किया गया है। साम्राज्य-शासन-विधि में राज्य के प्रधान को सम्राट पुकारा जाता था और उसका राज्याभिषेक होता था। उसका अधिकार वंशानुगत था। मगध ऐसा ही एक राज्य था। भोज्य-शासन-विधि में राज्य के प्रधान को भोज पुकारा जाता था। उसका अधिकार वंशानुगत न था अपितु उसे एक निश्चित समय के लिए शासन का अधिकार दिया जाता था। सात्वद यादवों में यही शासन-विधि थी। स्वराज्य-शासन-विधि में राज्य के प्रधान को स्वराट पुकारते थे। इस व्यवस्था में राज्य-शासन कुछ कुलीन कुलों के द्वारा चलाया जाता था और सभी कुलों की स्थिति को समान माना जाता था। वैराज्य-शासन-विधि में राज्य के प्रधान को राजा का पद नहीं दिया जाता था और वहाँ जन-प्रतिनिधि विभिन्न पदाधिकारियों की नियुक्ति करके स्वयं शासन चलाते थे। राज्य-शासन-विधि के अन्तर्गत मध्यप्रदेश के कुरु-पांचाल आदि जनपद थे जिनमें प्राचीन परम्परागत कबाइली-शासन-विधि का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में उस समय में भी किया जाता था। प्राचीन ग्रन्थों में साम्राज्य-शासन-विधि के बारे में अधिक दिया गया है जिसमें सम्राट अथवा राजा का पद वंशानुगत होता था। ऐसे राज्यों को विस्तार का अवसर भी मिला। लोहे के ज्ञान से कृषि-योग्य भूमि और कृषि-उत्पादन में वृद्धि हुई। राजा को ही यह अधिकार प्राप्त था कि वह जंगलों को साफ करके वहाँ कृषि करने की आज्ञा दे। भूमि-उत्पादन में उसका भाग पहले ही निश्चित था। कृषि-उत्पादन में वृद्धि होने से व्यापार और उद्योगों की प्रगति हुई। उससे भी उसे लाभ हुआ। इन कारणों से राजा सम्पन्न हुआ और वह अपनी सैनिक शक्ति का विस्तार कर सका जिससे उसके राज्य का विस्तार सम्भव हुआ। मगध-राज्य के विस्तार का एक कारण उसकी साम्राज्य-शासन-विधि भी रही जिसमें राजा का अधिकार पैतृक था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

- कपिलवस्तु के शाक्य हिमालय की तराई में की सीमा के निकट रहते थे।
(क) भारत (ख) नेपाल
(ग) चीन (घ) तिब्बत
- नेपाल की सीमा के निकट आधुनिक जनकपुर का नाम था।
(क) मिथिला (ख) अयोध्या
(ग) वाराणसी (घ) अवध
- आधुनिक मुंगेर और भागलपुर (बिहार) राज्य था जिसकी राजधानी चम्पा थी।
(क) गांधार (ख) अंग
(ग) कोसल (घ) जनकपुर
- वत्स राज्य नदी के तट पर बसा हुआ एक संपन्न राज्य था।
(क) गंगा (ख) घाघरा
(ग) यमुना (घ) गोदावरी

2.4 मगध राज्य का उत्थान (Rise of Magadha Empire)

नोट

1. बिम्बिसार (544-493 ई.पू.) [Bimbisara (544-493 B.C.)]

मगध-राज्य के उत्थान का इतिहास उसके प्रथम शक्तिशाली शासक बिम्बिसार से आरम्भ होता है जो महात्मा बुद्ध का समकालीन था। डॉ. भण्डारकर के अनुसार बिम्बिसार महान 'नाग-वंश' का था, परन्तु अश्वघोष द्वारा रचित 'बुद्धचरित' में उसे हर्यक-कुल का वंशज बताया गया है। डॉ. भण्डारकर ने लिखा है कि सम्भवतया वह वज्जि-राजा (जिसका मगध पर आधिपत्य रहा था) का सेनापति था। परन्तु बौद्ध-ग्रन्थ 'महावमसा' के अनुसार उसके पिता ने 15 वर्ष की आयु में उसका राज्याभिषेक किया था। 'महावमसा' में उसके पिता का नाम नहीं दिया गया है, परन्तु अन्य स्रोतों के आधार पर उनका नाम 'भट्टिय' अथवा 'महापद्म' है।

बिम्बिसार का शासन-काल 544-493 ई. पू. माना गया है। इस प्रकार, उसने प्रायः 49 वर्ष शासन किया। उसने गिरिव्रज को अपनी राजधानी बनाया। बिम्बिसार का उपनाम 'श्रेणिक' था। उस समय में वज्जि, कोसल तथा अवन्ति अन्य शक्तिशाली राज्य थे, जो उसके पड़ोसी राज्य थे। ऐसी स्थिति में बिम्बिसार ने अपने राज्य का विस्तार करते हुए कूटनीति और युद्ध दोनों का सहारा लिया।

यह कहा गया है कि बिम्बिसार की 500 पत्नियाँ थीं। यह संख्या चाहे उचित न हो परन्तु बिम्बिसार ने अपनी शक्ति और राज्य-विस्तार के हेतु विवाह-सम्बन्धों की नीति को अपनाया था, यह स्पष्ट है। उसकी प्रधान पत्नी कोसलदेवी कोसल-नरेश प्रसेनजित की बहन थी। इस विवाह से कोसल-राज्य से उसके सम्बन्ध मधुर एवं अच्छे बने और दहेज में उसे काशी-राज्य का कुछ भाग मिला। उसकी दूसरी पत्नी चेल्लना लिच्छवी राजा चेटक की पुत्री थी। लिच्छवी-राज्य उस समय के सर्वाधिक शक्तिशाली गणराज्यों में से था। उसकी तीसरी पत्नी विदेह-राज्य की पुत्री वासवी थी और उसकी चौथी पत्नी क्षेमा मध्य-पंजाब के भद्र शासक की पुत्री थी जो यह सिद्ध करता है कि बिम्बिसार ने दूर के शक्तिशाली राज्यों से भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके अपनी स्थिति को दृढ़ बनाया था। वह एक सफल कूटनीतिज्ञ था। यह इस बात से भी ज्ञात होता है कि उसने अवन्ति के शक्तिशाली शासक चण्ड प्रद्योत महासेन से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने में सफलता प्राप्त की और प्रद्योत की सद्भावना प्राप्त करने हेतु उसने बीमारी के अवसर पर उसके इलाज के लिए अपने राजवैद्य जीवक को भेजा था। इन विवाह-सम्बन्धों और शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों की सद्भावना (अथवा खुले विरोध के अभाव में) के कारण बिम्बिसार को अपने राज्य का विस्तार करने में सफलता प्राप्त हुई।

बिम्बिसार की प्रमुख विजय अंग-राज्य की थी जो उस समय एक बड़ा और सम्पन्न राज्य था। कुछ स्रोतों के आधार पर बिम्बिसार के पिता को अंग-शासक ब्रह्मदत्त ने पराजित किया था। इस अपमान का बदला लेने के लिए बिम्बिसार ने अंग-राज्य पर आक्रमण किया जिसमें उसे सफलता मिली और अंग मगध में सम्मिलित कर लिया गया।

बिम्बिसार के साम्राज्य की राजधानी गिरिव्रज थी। सम्भवतया, बाद में राजगृह को उसने अपनी राजधानी बनाया। बिम्बिसार ने पहली बार मगध में व्यवस्थित शासन की नींव डाली। उसने सड़कों और नहरों का निर्माण कराया, विभिन्न पदाधिकारियों की नियुक्ति की और नियमित रूप से लगान वसूल करने की व्यवस्था की जो उसकी आर्थिक और सैनिक शक्ति का आधार बना। बिम्बिसार के राज्य में 80,000 गाँव बताये गये हैं जो सभी सम्पन्न थे। बिम्बिसार एक योग्य शासक था। गाँव का शासन ग्राम-सभाएँ करती थीं और राज्य के कर्मचारी तीन भागों में बाँटे हुए थे—शासन करने वाले 'सम्बत्यक', न्याय करने वाले 'वोहारिक' तथा सैनिक अधिकारी 'सेनानायक' कहलाते थे। बिम्बिसार की न्याय-व्यवस्था बहुत कठोर थी। अंग-भंग करना, कोड़े मारना और मृत्युदण्ड देना आदि सभी प्रचलित था। बिम्बिसार के शासन-काल में शिक्षा और ललित-कलाओं का भी विस्तार हुआ। नगरों का निर्माण उस समय तक हो चुका था और उसके समय में भव्य भवनों का भी निर्माण हुआ था। धार्मिक दृष्टि से बिम्बिसार उदार था। जैन-ग्रंथ उसे जैन-मतावलम्बी और बौद्ध-ग्रन्थ उसे बौद्ध-मतावलम्बी बताते हैं। वह इन दोनों धर्मों के प्रवर्तकों के प्रति श्रद्धालु था। विनयपिटक से ज्ञात होता है कि बुद्ध से मिलने के बाद उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया बेलुवम नामक उद्यान बुद्ध तथा संघ के निमित्त प्रदान किया।

बिम्बिसार अपने पुत्र अजातशत्रु (कुणिक) के हाथों मारा गया, परन्तु वह किस प्रकार मारा गया, इसके विषय में जैन और बौद्ध-ग्रन्थों में मतभेद है। जैन-ग्रन्थों के अनुसार अजातशत्रु ने उसे बन्दीगृह में डाल दिया था परन्तु बाद

नोट

में वह पश्चात्ताप करके उसे बन्धन से मुक्त करने जा रहा था कि बिम्बिसार ने भयभीत होकर विषपान कर आत्महत्या कर ली। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार अजातशत्रु ने उसकी हत्या की थी और महात्मा बुद्ध के सम्मुख अपने पाप को स्वीकार किया था। घटना किसी भी प्रकार हुई हो, परन्तु यह निर्विवाद है कि अजातशत्रु अपने पिता को समाप्त करके ही सिंहासन पर बैठा था।

2. अजातशत्रु (493-462 ई. पू.) [Ajatashatru (493-462 B. C.)]

अजातशत्रु ने बिम्बिसार द्वारा आरम्भ किये गये राज्य-विस्तार के कार्य को आगे बढ़ाया और मगध की नवीन राजधानी पाटलिपुत्र का निर्माण आरम्भ किया। उसे कूणिक भी कहा जाता है।

उसके शासन का आरम्भ कोसल-राज्य के युद्ध से हुआ। बिम्बिसार की पत्नी और कोसल-नरेश प्रसेनजित की बहन कोसलदेवी अपने पति की मृत्यु के शोक के कारण मर गयी। प्रसेनजित ने असन्तुष्ट होकर अपनी बहन के विवाह में दहेज में दिये गये काशी-राज्य को अजातशत्रु से वापस माँगा जिसके परिणामस्वरूप यह युद्ध आरम्भ हुआ। पहले अजातशत्रु ने प्रसेनजित को उसकी राजधानी सरस्वती तक पीछे हटने के लिए बाध्य किया परन्तु बाद में एक अचानक आक्रमण में प्रसेनजित ने अजातशत्रु को बन्दी बना लिया। परन्तु इसके पश्चात् दोनों ने एक सन्धि कर ली, जिसके द्वारा प्रसेनजित ने अजातशत्रु को न केवल काशी-राज्य ही प्रदान किया बल्कि अपनी पुत्री वजिरा का विवाह भी उससे कर दिया।

अजातशत्रु की एक महान विजय लिच्छवि गणतन्त्र राज्य की थी। लिच्छवी संघ-राज्य में 9 मल्ल-राज्य, 9 लिच्छवि-राज्य और 18 काशी तथा कोसल के गणतन्त्रीय राज्य सम्मिलित थे। इस कारण पूर्वी भारत में वह सर्वाधिक शक्तिशाली गणराज्य था। अजातशत्रु और लिच्छवी गणराज्य के युद्ध के विभिन्न कारण बताये गये हैं। यह कहा गया है कि अजातशत्रु की पत्नी पद्मावती ने अपने पति को इस युद्ध के लिए भड़काया था। जैन-ग्रन्थों के अनुसार अजातशत्रु के छोटे भाई हल्ल और बेहल्ल एक कीमती हार और राज्य के मुख्य हाथी को लेकर वैशाली चले गये थे। अजातशत्रु इन्हें वापस चाहता था। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार यह झगड़ा हीरों की एक खान के कारण था जिस पर अजातशत्रु और लिच्छवी दोनों ही अपना-अपना अधिकार मानते थे। सम्भव है, ये कारण भी इस युद्ध के लिए उत्तरदायी हों, परन्तु मुख्य कारण राजनीतिक तथा आर्थिक था। पूर्वी भारत में मगध की सत्ता उस समय तक श्रेष्ठ नहीं बन सकती थी जब तक कि लिच्छवियों के इस संघ-राज्य को नष्ट नहीं किया जाता। डॉ. डी.एन. झा के अनुसार मगध और लिच्छवी-राज्य दोनों की गंगा नदी पर आधिपत्य मानते थे और व्यापारियों से कर माँगते थे, जो दोनों राज्यों के मध्य झगड़े का मुख्य कारण बना।

मगध और लिच्छवियों की इस प्रतिद्वन्द्विता का अन्त 16 वर्षों (484-468 ई. पू.) में हुआ। लिच्छवियों का प्रधान राजा चेटक 36 गणराज्यों का नेतृत्व कर रहा था। वह वत्स, अवन्ति सदृश राजवंशों से अपनी पुत्रियों के विवाह-सम्बन्धों के कारण एक प्रभावशाली व्यक्ति था, परन्तु अजातशत्रु ने भी इस युद्ध की पूर्ण तैयारी की। उसने युद्ध-क्षेत्र के निकट रहने हेतु गंगा के तट पर एक नवीन किला बनवाया जो बाद में पाटलिपुत्र के महान नगर में परिवर्तित हुआ। उसने अपने मन्त्री वस्सकार को लिच्छवियों में फूट डालने के लिए तीन वर्ष तक वैशाली में छोड़ा (जिस कार्य में वह सफल हुआ) और 'महाशिलाकण्टक' (पत्थर फेंकने वाला शस्त्र) तथा 'रथमूसल' (ऐसा रथ जिसमें तीक्ष्ण धार वाले लोहे के डण्डे लगे होते थे और जिसका संचालन उसके अन्दर छिपकर बैठा हुआ व्यक्ति करता था) नामक नवीन शस्त्रों का निर्माण किया। अन्त में, अजातशत्रु की विजय हुई और वैशाली पर उसका अधिकार हो गया। यद्यपि लिच्छवि-राज्य बाद में भी रहा परन्तु उस गणराज्य की श्रेष्ठता को नष्ट कर दिया गया और मगध पूर्वी भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य बन गया।

अजातशत्रु की इस सफलता से अवन्ति का शासक चण्ड प्रद्योत उसके प्रति ईर्ष्यालु हो गया और मगध पर आक्रमण करने की इच्छा करने लगा जिसके कारण अजातशत्रु को अपने राजधानी की सुरक्षा का विशेष प्रबन्ध करना पड़ा, परन्तु प्रद्योत मगध पर आक्रमण न कर सका। इस प्रकार अजातशत्रु अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल रहा, और उसने ठोस आधार पर मगध-साम्राज्य की नींव डाली।

जैन-मतावलम्बी अजातशत्रु को जैन बताते हैं और बौद्ध-मतावलम्बी बौद्ध। प्रारम्भ में अजातशत्रु महात्मा बुद्ध के विरुद्ध था, परन्तु बाद में उनमें श्रद्धा करने लगा था। महापरिनिर्वाणसूत्र के अनुसार अजातशत्रु ने बुद्ध के कुछ

नोट

अवशेषों को लेकर राजगृह में एक स्तूप निर्मित करवाया। उसके समय में राजगृह के निकट सप्तपर्णि गुफा में 483 ई.पू. में प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया। जहाँ पर बुद्ध की शिक्षाओं को सुत्तपिटक तथा विनयपिटक में विभाजित किया गया।

3. अजातशत्रु के उत्तराधिकारी (462-430 ई. पू.) [Inheritors of Ajatashatru (462-430 B.C.)]

अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उसका पुत्र उदयभद्र हुआ। अपने पिता के समय में वह चम्पा में राज्यपाल था। बाद में सरदारों की सम्मति से वह राजा बना। उसके समय में मगध और अवन्ति में शत्रुता रही। उदयभद्र ने अवन्ति के शासक पालक (प्रद्योत का पुत्र) को कई युद्धों में पराजित किया। परन्तु एक दिन, जब वह धर्म-प्रवचन सुन रहा था, पालक के एक व्यक्ति ने धोखे से उसका वध कर दिया। उदयभद्र जैन-धर्म में आस्था रखता था। उसने कुसुमपुर नामक नगर बसाया तथा वहाँ एक 'चैत्यगृह' का निर्माण कराया।

उदयभद्र के पश्चात् क्रमशः अनुरुद्ध, मुण्ड और नागदाशक नामक शासक हुए। सम्भवतया उसके अन्तिम शासकों को सिंहासन से हटाकर शिशुनाग ने मगध के राज्य पर अधिकार कर लिया।

4. शिशुनाग और उसके उत्तराधिकारी (430-364 ई. पू.)

[Inheritors of Shishunag (430-364 B. C.)]

शिशुनाग का वंश पृथक् था और वह, सम्भवतया, अजातशत्रु के वंशजों का मन्त्री था। वह स्वयं गिरिव्रज में रहता था और उसका पुत्र काशी (बनारस) के शासन की देखभाल करता था। उदयभद्र के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में उसका सम्मान बढ़ गया और अन्त में प्रजा की सम्मति से वह मगध का राजा बन गया।

शिशुनाग एक महान शासक सिद्ध हुआ। उसने अवन्ति, वत्स और कोसल राज्यों को परास्त करके मगध में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार, बुद्ध के समय के उत्तर-भारत के सभी महत्वपूर्ण राज्यों को मगध के राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। शिशुनाग ने वैशाली को अपनी राजधानी बनाया।

शिशुनाग का उत्तराधिकारी कालाशोक अथवा काकवर्ण था। पुराण एवं दिव्यावदान में कालाशोक का नाम काकवर्ण मिलता है। सिंहली महाकाव्यों के अनुसार बुद्ध के महापरिनिर्वाण के करीब सौ वर्ष बाद कालाशोक के शासनकाल के दसवें वर्ष वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति का आयोजन हुआ। इसी संगीति में बौद्ध संघ स्थाविर एवं महासंघिम के रूप में बँट गया था। उसके समय में पाटलिपुत्र मगध की राजधानी बन गया। कालाशोक का एक आन्तरिक षड्यन्त्र में वध कर दिया गया। कालाशोक का हत्यारा ही, सम्भवतया नन्द-वंश का संस्थापक था। 'महावमसा' के अनुसार, कालाशोक के दस पुत्रों ने दस वर्षों तक मिलकर राज्य किया। सम्भवतया, इन राजपुत्रों को कुछ समय के लिए नाममात्र को शासन करने का अधिकार मिल गया था। बाद में सभी अपने पिता के हत्यारे द्वारा कत्ल कर दिये गये तथा नाग-वंश समाप्त हो गया और मगध में नन्द-वंश के राज्य की स्थापना हुई।

5. नन्द-वंश (364-324 ई. पू.) (Nanda Dynasty)

नन्द-वंश के संस्थापक का क्या नाम था और उसका क्या वंश था, इसके बारे में मतभेद हैं। 'महाबोधिवमसा' में उसका नाम उग्रसेन दिया गया है जबकि पुराणों में उसका नाम महापद्म दिया गया है। जैन-ग्रन्थ उसे एक नाई और वैश्या का पुत्र बताते हैं, यूनानी लेखकों के अनुसार वह एक नाई और शिशुनाग-वंश के अन्तिम राजा की एक रानी का पुत्र था तथा पुराण उसे नाग-वंश के अन्तिम राजा महानन्दी और उसकी एक शूद्र पत्नी का पुत्र बताते हैं। इन मतों में विभिन्नता भले हो, परन्तु यह सभी मानते हैं कि नन्द-वंश का संस्थापक शूद्र-कुल का था और क्योंकि भारत में वंश पिता के आधार पर चलता है, अनुमानतः उसका पिता शूद्र होगा।

पुराणों के अनुसार महापद्मनन्द ने सभी क्षत्री-कुलों के राज्यों को नष्ट कर दिया। इक्ष्वाकु, पांचाल, हैहय, कलिंग, अस्सक, कुरु, मैथिल, शूरसेन आदि सभी राजवंशों के राज्य मगध में सम्मिलित कर लिये गये। इस प्रकार पंजाब से पूर्व का सम्पूर्ण भारत, मालवा, मध्य प्रदेश, कलिंग तथा दक्षिण में गोदावरी नदी तक का क्षेत्र नन्द-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। कुछ अभिलेखों से यह भी अनुमान किया जाता है कि सम्भवतया महाराष्ट्र और मैसूर का कुछ भाग भी नन्दों के राज्य में सम्मिलित था परन्तु अभी तक यह पूर्णतया विश्वसनीय नहीं है। लेकिन तब भी यह निश्चित है कि उत्तर-भारत का अधिकांश भाग और दक्षिण-भारत का कुछ भाग नन्द-वंश के राजाओं के राज्य

नोट

में सम्मिलित था। इस कार्य का श्रेय उस वंश के प्रथम शासक महापद्मनन्द को था। महापद्मनन्द ने बिम्बिसार द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य की पूर्ति की, मगध को भारत का सर्व-शक्तिशाली एवं विस्तृत राज्य बना दिया और भारतीय इतिहास में साम्राज्यों के युग का सूत्रपात किया।

हिन्दू, जैन और बौद्ध-सभी ग्रन्थ यह स्वीकार करते हैं कि नन्द-वंश के नौ राजाओं ने मगध पर राज्य किया, परन्तु पुराणों के अनुसार बाद के आठ नन्द राजा महापद्म के पुत्र थे जबकि बौद्धों के अनुसार ये आठों महापद्म के भाई थे। बाद के नन्द राजाओं के बारे में अधिक ज्ञात नहीं होता। केवल उनके अन्तिम शासक के बारे में ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते हैं। उसे धननन्द (धन का पुजारी) कहा गया है। धननन्द सिकन्दर का समकालीन था और उसके राज्य की सीमाएँ पंजाब तक फैली हुई थीं। वह एक कठोर और लालची शासक था जिसके कारण वह प्रजा में लोकप्रिय न था, परन्तु वह एक शक्तिशाली सम्राट था। उसकी सेना और राज्य की सीमाएँ अपार थीं। इसी धननन्द को सिंहासन से हटाकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध का राज्य प्राप्त किया।

6. मगध राज्य के उत्थान के कारण (Causes of Rise of Magadha State)

(i) **भौगोलिक तथा आर्थिक**—मगध के उत्थान में विभिन्न भौगोलिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों का योगदान रहा। इसी समय में नहीं बल्कि बाद के समय में भी यहाँ उत्तर-भारत के महान साम्राज्यों का निर्माण हुआ। मगध की भौगोलिक परिस्थितियों ने इसमें महत्वपूर्ण भाग लिया। गंगा और उसके उत्तर में गण्डक तथा घाघरा नदियों ने तथा दक्षिण में सोन नदी ने मगध को सुरक्षा तथा यातायात और व्यापारिक प्रगति के साधन प्रदान किये। मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह सात पहाड़ियों से घिरी हुई थी और बाद में राजधानी पाटलिपुत्र भी गंगा तथा सोन नदी के संगम पर स्थित होने के कारण न केवल सुरक्षित थी अपितु उत्तर-भारत के व्यापार का महान केन्द्र भी थी। मगध में गया के दक्षिण-पूर्व में बहुत बड़ी मात्रा में लोहा और तैला उपलब्ध है। उससे मगध न केवल समृद्धशाली हुआ अपितु शस्त्र-निर्माण में भी समकालीन राज्यों से आगे बढ़ गया। दक्षिणी बिहार में उस समय बहुत घना जंगल था। उस जंगल में हाथी उपलब्ध थे जिनका प्रयोग सेना में किया गया। जंगल में उपलब्ध लकड़ी मकान, शस्त्र और विभिन्न औजार बनाने में सहायक सिद्ध हुई। मगध की उर्वरा भूमि ने कृषि-उत्पादन में वृद्धि सम्भव करके मगध की आर्थिक सम्पन्नता में सहयोग प्रदान किया। उससे मगध के शासक राजकीय आय में भी वृद्धि कर पाये। पहले 'बलि' और 'भाग' नामक कर कृषक स्वेच्छा से दिया करते थे, परन्तु अब वे कर आवश्यक बन चुके थे। इसके अतिरिक्त राज्य ने कृषकों और मजदूरों पर अन्य कर भी लगाये। व्यापारिक-कर से भी राज्य की आय बहुत होती थी। इन सभी से राज्य की आय में वृद्धि हुई थी। इसी कारण तत्कालीन शासकों में मगध का शासक बिम्बिसार प्रथम शासक था जिसने एक स्थायी सेना का निर्माण किया। बाद में मगध के शासक भी ऐसा कर सके। निस्सन्देह एक स्थायी सेना ने मगध के उत्थान और विस्तार में बहुत बड़ा सहयोग दिया। इन कारणों से मगध शक्तिशाली और सम्पन्न बना।



नोट्स मगध और उसकी राजधानी न केवल सुरक्षा की स्थिति में थी अपितु उसकी भौगोलिक स्थिति उसकी समृद्धि और सैनिक-शक्ति के कारण वहाँ एक विशाल साम्राज्य के स्थापित होने में सुविधा हुई।

(ii) **सांस्कृतिक**—सांस्कृतिक दृष्टि से मगध में आर्यों और अनार्यों की सभ्यता का अद्भुत मिश्रण हुआ। मगध में आर्य सभ्यता का प्रसार देर से हुआ और वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते उसकी शक्ति और श्रेष्ठता की भावना लुप्त हो गयी जिसके कारण मगध में ब्राह्मणों के प्रतिक्रियावादी विचार श्रेष्ठता प्राप्त न कर सके और वहाँ उदारता तथा समन्वय का वातावरण बना रहा। प्रो. एच.सी. रायचौधरी ने लिखा है—“उनके (मगध के तत्कालीन शासकों के) साम्राज्य में ब्राह्मण और व्रात्य मिल सकते थे, क्षत्री शूद्र कन्याओं को अपने रनिवास में रख सकते थे, श्रेष्ठ रक्त के कुलीनों का वध किया जा सकता था अथवा एक 'नगरशोभिनी' (वेश्या) के पुत्र के पक्ष में उन्हें गद्दी छोड़ने के लिए बाध्य किया जा सकता था और एक नाई राज्य-सम्मान प्राप्त करने की आकांक्षा रख सकता था।” इसी

नोट

उदारता के वातावरण में मगध में बौद्ध और जैन धर्मों का उत्थान हुआ। आर्यों और अनार्यों के मिश्रण से परिपूर्ण मगध के युद्धप्रिय निवासियों ने महात्मा बुद्ध और महावीर के अहिंसा के विचारों को सुना। इससे, जैसा कि **प्रो. एच.सी. रायचौधरी** ने लिखा है, “उसने एक सर्वमान्य धर्म के क्रमिक निर्माण में वैसे ही भाग लिया जैसे कि उसने एक अखिल भारतीय साम्राज्य के निर्माण में भाग लिया। इससे एक बड़े साम्राज्य के निर्माण में सहायता मिली।”

डॉ. आर.के. मुखर्जी ने भी लिखा है—“रूढ़िवादी ब्राह्मण-सभ्यता द्वारा लगाये गये सामाजिक बन्धनों में शिथिलता और बौद्ध तथा जैन धर्मों के सार्वजनिक दृष्टिकोण ने, जिन्हें मगध में सुखद स्थान प्राप्त हुआ था, इस क्षेत्र के राजनीतिक दृष्टिकोण को विस्तृत कर दिया और इस क्षेत्र को एक शक्तिशाली साम्राज्य का केन्द्रबिन्दु बना दिया।”

(iii) **मगध की राजतन्त्रीय शासन-व्यवस्था**—मगध की शासन-व्यवस्था भी जिसमें राजा का अधिकार पैतृक था और जिससे राजा को अपनी शक्ति के विस्तार में सहायता मिली, मगध के उत्थान में सहायक सिद्ध हुई। राजतन्त्र व्यवस्था में राजा के अधिकारों में वृद्धि हुई। पहले की कबाइली-व्यवस्था में राजा और उनके अधिकारी युद्ध में लूटे हुए धन में से कुछ भाग ही प्राप्त करते थे। नवीन व्यवस्था में उस पर एकमात्र राजा का अधिकार हो गया। राजाओं ने ‘बलि’ के अतिरिक्त ‘भाग’ और ‘कर’ नामक करों को वसूल करना आरम्भ किया। इसके अतिरिक्त वे विभिन्न नाजायज करों को भी वसूल करने लगे। कृषि, उद्योग और व्यापार की उन्नति हो जाने से इन करों का वसूल किया जाना भी सम्भव हुआ। इन सभी से राज्य की आय में वृद्धि हुई। आर्थिक सम्पन्नता के कारण राजा स्थायी सेना रखने में भी समर्थ हुए जिससे उनकी सैनिक-शक्ति में वृद्धि हुई। मगध का शासक बिम्बिसार पहला शासक था जो मगध की सम्पन्नता का लाभ उठाकर एक स्थायी सेना रख सका। निस्सन्देह, मगध के उत्थान में उसने सहायता प्रदान की।

(iv) **मगध के शक्तिशाली राजवंश**—मगध के विभिन्न राजवंशों ने भी मगध के उत्थान में प्रमुख भाग लिया। बिम्बिसार और अजातशत्रु के समय में मगध-साम्राज्य की नींव पड़ी। **डॉ. ए.एल. बाशम** ने लिखा है—“बिम्बिसार और अजातशत्रु के शासन-काल के विवरण एक ऐसी निश्चित नीति का प्रमाण देते हैं, जिसका लक्ष्य गंगा के मैदानी भाग को अधिकाधिक सम्भव तरीकों से अपने अधिकार में करना था।” डॉ. बाशम का यह भी कहना है कि बिम्बिसार और अजातशत्रु ने एक बड़े साम्राज्य के निर्माण की प्रेरणा पर्शिया (ईरान) के साम्राज्य से प्राप्त की जहाँ बिम्बिसार से केवल 16 वर्ष पहले साइरस (कुरुष) महान (Cyrus the Great, 558-520 B. C.) शासक बना था और जिसने पर्शिया में संसार के महान साम्राज्यों में से एक साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। वह लिखते हैं—“यह नहीं माना जा सकता कि मगध के शासक उन घटनाओं से अनभिज्ञ थे जो उनकी उत्तर-पश्चिमी सीमा पर हो रही थीं। हम विश्वास करते हैं कि उनकी साम्राज्यवादी नीति ने पर्शियनों के उदाहरण से कुछ-न-कुछ प्रेरणा अवश्य प्राप्त की थी।” डॉ. बाशम के इस कथन में कुछ व्यावहारिक सत्यता तो हो सकती है परन्तु सिद्धान्त-रूप में चक्रवर्ती सम्राट का आदर्श भारत में प्राचीन काल से था। अश्वमेध और राजसूय जैसे यज्ञ इसके प्रमाण हैं। एकछत्र सम्राट के आदर्श के लिए भारत को विदेशों से उदाहरण की आवश्यकता कभी नहीं हुई। अजातशत्रु के पश्चात् शिशुनाग ने भी इस साम्राज्य में वृद्धि की और उसके पश्चात् नन्द-वंश के शासकों ने इसे भारत का प्रथम विशाल साम्राज्य बना दिया। नन्द-वंश के शासक शूद्र-वंश के थे। उन्होंने जनता को पीड़ित करके अपार धन संचित किया और उनका शासन स्वेच्छाचारिता पर निर्भर करता था। इसी कारण नन्द-वंश नागरिकों में लोकप्रिय न था जो उसकी दुर्बलता और पतन का मुख्य कारण बना। परन्तु, तब भी, नन्द-वंश का भारतीय इतिहास में महत्त्व है। नन्द-वंश के शासकों ने मौर्य-वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके उत्तराधिकारियों को विरासत में एक ऐसा साम्राज्य सौंपा जो धन और विद्या से पूर्ण था तथा ऐसी सैनिक-शक्ति सौंपी जिसके कारण उन्होंने न केवल विदेशियों को ही भारत से बाहर निकालने में सफलता पायी अपितु भारत में बिम्बिसार और अजातशत्रु के महान साम्राज्य के स्वप्न को पूरा कर दिया। एक अन्य दृष्टि से भी इस राज्य का महत्त्व है। वह उस काल में जाति-प्रथा की मान्यता को नष्ट किये जाने का प्रतीक था। **डॉ. आर.के. मुखर्जी** लिखते हैं—“ई. पू. 5वीं और 6वीं सदी हमारे सम्मुख एक आश्चर्यजनक दृश्य उपस्थित करती हैं—क्षत्री सरदारों ने लोकप्रिय धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना करके वैदिक धर्म को चुनौती दी और शूद्र नेताओं ने क्षत्री-राज्यों के अवशेषों पर आर्यावर्त में एक बड़े साम्राज्य का निर्माण किया।”

नोट

2.5 भारत में आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन (Economic and Social Changes in India)

ई. पू. छठी सदी की एक विशेषता भारत की आर्थिक सम्पन्नता और बड़े नगरों का निर्माण भी था। भारतीय सभ्यता क्रमशः ग्राम-सभ्यता से नगर-सभ्यता की ओर अग्रसर हो रही थी और ई. पू. छठी सदी तक इस दिशा में पर्याप्त आगे बढ़ चुकी थी। इस कारण, हमें इस समय भारत के विभिन्न स्थानों पर वैभवशाली नगर प्राप्त होते हैं।

निस्सन्देह, इन नगरों के निर्माण का एक कारण बड़े राज्यों का निर्माण था। शक्तिशाली सम्राटों ने जब बड़े राज्यों का निर्माण करने में सफलता पायी तब बड़े नगरों का निर्माण भी हुआ। कुछ नगरों का निर्माण बड़े राज्यों की राजधानियों के रूप में हुआ और कुछ अन्यो का निर्माण दृढ़ और विस्तृत राज्यों के संरक्षण में व्यापारिक केन्द्रों के रूप में हुआ। इस प्रकार, राजनीतिक विकास के साथ आर्थिक विकास का क्रम भी चला, परन्तु दूसरी तरफ इसमें भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि बड़े राज्यों और नगरों के निर्माण में बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियाँ भी समान रूप से उत्तरदायी थीं जो भारत को आर्थिक सम्पन्नता की ओर ले जा रही थीं। इस प्रकार, जहाँ यह स्वीकार करना पड़ता है कि बड़े राज्यों के निर्माण ने नगरों के निर्माण और आर्थिक सम्पन्नता में सहयोग दिया वहाँ यह भी मानना पड़ता है कि आर्थिक सम्पन्नता ने भी बड़े राज्यों और नगरों के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लिया।

भारत की आर्थिक सम्पन्नता में वृद्धि का कारण कृषि-उत्पादन में वृद्धि था। भारतीयों को उत्तर-वैदिक काल में ही लोहे का ज्ञान हो गया था और लोहे के हल का प्रयोग कृषि के लिए किया जाने लगा था। उससे भूमि की जुताई गहरी होने लगी थी और कृषि-उत्पादन में वृद्धि हुई थी। बहुत से स्थानों पर वर्ष में दो फसलों के स्थान पर तीन फसलें भी उगायी जाने लगी थीं। इससे कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि हुई और कृषि-उत्पादन बढ़ गया। इसके परिणामस्वरूप हमें गाँवों में भी ऐसे धनाढ्य व्यक्ति प्राप्त होते हैं जिनके पास विस्तृत भूमि थी जिससे वे बहुत धन एकत्रित कर सके थे। बौद्धकालीन समय में हमें गाँवों में एक जैसा वर्ग प्राप्त होता है जिसे 'गृहपति' पुकारा जाता था। गाँव में 'गृहपति' (संस्कृत में 'गृहपति') उस समय वह कहलाने लगा था जिसके पास विस्तृत भूमि और धन था। 'गृहपति' मेण्डक ने महात्मा बुद्ध और संघ की सेवा के लिए 1,250 गाँवें भेंट में दी थीं। साकेत के एक 'गृहपति' ने चिकित्सक जीवक को 16,000 मुद्राएँ और एक पुरुष दास तथा एक स्त्री-दास उसकी सेवा के उपलक्ष्य में भेंट में दिये थे। इस प्रकार बौद्ध-युग में 'गृहपति' का प्रयोग एक धनवान और विस्तृत भूमि के स्वामी के लिए किया जाने लगा। यह कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि और कृषि-उत्पादन में वृद्धि के कारण सम्भव हुआ, यद्यपि इसमें भी सन्देह नहीं कि इससे गाँवों में भी व्यक्तियों में गम्भीर आर्थिक अन्तर हो गये थे।

भारत की बढ़ती हुई आर्थिक सम्पन्नता का मूल कारण भारत का पश्चिम, उत्तर-पश्चिम तथा एशिया के राज्यों से बढ़ता हुआ व्यापार था। पर्शिया में एक बड़े साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी और उन्होंने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर आक्रमण करके भारत के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया था। ईरानियों की इस सफलता का एक प्रमुख प्रभाव भारत द्वारा उत्तर-भारत के देशों से यातायात, आवागमन और व्यापारिक मार्गों की सुविधा प्राप्त करना था जिससे विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई। भारत के व्यापार का एक मार्ग राजगृह से कौशाम्बी और उज्जैन के मार्ग से भड़ौच के बन्दरगाह तक था जहाँ से भारत ने समुद्री मार्ग से पश्चिमी देशों से व्यापार किया। एक अन्य मार्ग कौशाम्बी से गंगा की घाटी को पार करता हुआ पंजाब से तक्षशिला और तब स्थल-मार्ग से उत्तर-पश्चिम के देशों से व्यापार की सुविधा प्रदान करता था। पूर्व की ओर गंगा की घाटी से विभिन्न स्थानों से गुजरते हुए एक मार्ग बर्मा तक और दूसरा भारत के पूर्वी समुद्र-तट तक था। इस समय भारत ने विदेशी व्यापार में सफलता प्राप्त की जिसने उसे सम्पन्न बनाया, नगरों का निर्माण हुआ और जिसने बड़े साम्राज्यों के निर्माण में भी सहायता दी।

भारत की बढ़ती हुई सम्पन्नता ने भारत के सामाजिक ढाँचे को भी प्रभावित किया। इससे नगरों का निर्माण हुआ। इस समय के नगरों में चम्पा, कौशाम्बी, राजगृह, श्रावस्ती, उज्जयनी, वैशाली, काम्बोज, कोसल, वाराणसी और पाटलिपुत्र प्रमुख थे। नगर न केवल व्यापार के केन्द्र-स्थान बने अपितु औद्योगिक विकास के स्थल भी बने। विदेशी व्यापार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नगरों में बड़े पैमाने पर विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन की व्यवस्था की गई। ई. पू. छठी सदी तक मुद्रा-प्रणाली का उदय हो चुका था। बहुत विस्तृत क्षेत्र में उस समय में प्रचलित चाँदी

नोट

तथा अन्य धातुओं के सिक्के प्राप्त हुए हैं। मुद्रा-व्यवस्था ने, निस्सन्देह, विनिमय की सुविधा प्रदान करके व्यापार और उद्योगों की प्रगति में सहायता दी। इससे समाज में सम्पन्न व्यापारी और उद्योगपति वर्ग की स्थापना हुई। विभिन्न श्रेणी (Guilds) अथवा व्यापारिक और औद्योगिक संगठित समुदायों की स्थापना इसका प्रमाण था। इसी प्रकार, नगरों में बड़ी संख्या में मजदूर और कारीगर भी एकत्रित हुए। विभिन्न कारीगरों के अपने पृथक् वर्ग हो गये। पैतृक आधार पर व्यवसाय का निश्चित होना भी विभिन्न संगठित वर्गों के निर्माण का कारण बना। इसके परिणामस्वरूप नगरों में संगठित और जाग्रत वर्गों का निर्माण हुआ और इसने विभिन्न उपजातियों के निर्माण में सहायता दी।

इन बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों का एक परिणाम विभिन्न प्रादेशिक और लोकप्रिय भाषाओं का विकास भी था। संस्कृत उस समय तक श्रेष्ठ बुद्धिजीवियों और पुरोहितों की भाषा बनकर रह गयी थी। इस कारण जन-भाषाओं की आवश्यकता थी। इस कारण, उस समय संस्कृत पर आधारित विभिन्न लोकप्रिय भाषाओं की उत्पत्ति हुई। संस्कृत का एक अधिक लोकप्रिय स्वरूप प्राकृत भाषा बनी। इसी कारण पाली और मगधी भाषा, जिसमें महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश दिये, इस समय में विकसित और लोकप्रिय हुई।

आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव भारतीयों के धार्मिक विचारों पर आया। नवीन व्यापारी, औद्योगिक मजदूर-वर्ग तथा उप-जातियों के निर्माण ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को चुनौती देने वाली परिस्थितियों का निर्माण किया। नवीन जैन और बौद्ध धर्मों की उत्पत्ति और विकास का एक कारण बदलती हुई सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ थीं। जैन और बौद्ध धर्मों की सम्पन्नता-प्राप्त नवीन व्यापारिक और औद्योगिक वर्ग का, जो अपने सामाजिक स्तर को श्रेष्ठ बनाने के लिए उत्सुक था, समर्थन प्राप्त हुआ। उसी प्रकार नवीन उप-जातियों ने भी जाति-समता का समर्थन करके धार्मिक आन्दोलनों का समर्थन किया क्योंकि वे उनके सामाजिक स्तर को उठाने में सहायक थे।

इस प्रकार, ई. पू. छठी सदी न केवल राजनीतिक परिवर्तनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण रही वरन् उस समय में महत्वपूर्ण आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक परिवर्तन भी हुए जिन्होंने भविष्य के भारतीय जन-जीवन को गम्भीरता से प्रभावित किया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. सांस्कृतिक दृष्टि से मगध में आर्यों और अनार्यों की सभ्यता का अद्भुत मिश्रण हुआ।
10. मगध साम्राज्य की नींव चन्द्रगुप्त मौर्य के समय पड़ी।
11. भारत की बढ़ती संपन्नता ने भारत के सामाजिक ढाँचे को प्रभावित नहीं किया।
12. अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उसका पुत्र उदयभद्र हुआ।

2.6 सारांश (Summary)

- वैदिक युग में भारतीय आर्यों के विविध राज्यों में राजतन्त्र शासन विद्यमान थे, पर कतिपय राज्य या जनपद ऐसे भी थे, जिनमें वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन नहीं था। ऐसे राज्यों को गणराज्य कहा जाता है।
- बौद्ध-युग में भारत के बहुत-से जनपदों में गणतन्त्र शासन भी विद्यमान थे। वैदिक काल के अनेक ऐसे जनपद, जिनमें पहले वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, बौद्ध-युग तक गणतन्त्र हो चुके थे।
- महाभारत-युद्ध के समय में भारत के आर्य-राज्यों में कुरु सर्वप्रधान था, पर बाद में काशी और कोसल का महत्त्व बढ़ने लगा। नागों के आक्रमण, गंगा की बाढ़ और टिड्डी दल के उत्पात के कारण कुरुदेश की शक्ति का ह्रास हुआ।
- मगध-राज्य के उत्थान का इतिहास उसके प्रथम शक्तिशाली शासक बिम्बिसार से आरम्भ होता है जो महात्मा बुद्ध का समकालीन था।

नोट

- मगध की शासन-व्यवस्था भी जिसमें राजा का अधिकार पैतृक था और जिससे राजा को अपनी शक्ति के विस्तार में सहायता मिली, मगध के उत्थान में सहायक सिद्ध हुई।
- मगध के विभिन्न राजवंशों ने भी मगध के उत्थान में प्रमुख भाग लिया। बिम्बिसार और अजातशत्रु के समय में मगध-साम्राज्य की नींव पड़ी।
- ई. पू. छठी सदी की एक विशेषता भारत की आर्थिक सम्पन्नता और बड़े नगरों का निर्माण भी था। भारतीय सभ्यता क्रमशः ग्राम-सभ्यता से नगर-सभ्यता की ओर अग्रसर हो रही थी और ई. पू. छठी सदी तक इस दिशा में पर्याप्त आगे बढ़ चुकी थी।

2.7 शब्दकोश (Keywords)

- **उत्तराधिकारी**—वारिस, वह जो किसी के मर जाने पर नियमतः उसकी संपत्ति का अधिकारी हो।
- **महाशिलाकण्टक**—प्राचीन समय में पत्थर फेंकने वाला शस्त्र।

2.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. गणराज्य से आप क्या समझते हैं? विदेह एवं अन्य राज्यों में गणतंत्र की स्थापना पर प्रकाश डालें।
2. काशी एवं कोसल के उत्कर्ष पर टिप्पणी लिखें।
3. मगध साम्राज्य की राजनीतिक स्थिति की विवेचना करें।
4. ई. पू. छठी शताब्दी में मगध-साम्राज्य के उत्थान के कारणों पर प्रकाश डालें।
5. बिम्बिसार और अजातशत्रु ने मगध के उत्थान में क्या और किस प्रकार सहयोग दिया?
6. शिशुनाग एवं नंदवंश के शासकों का ई. पू. छठी शताब्दी में मगध राज्य के उत्थान में योगदानों का वर्णन करें।
7. ई. पू. छठी शताब्दी में भारत में हुए आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन पर प्रकाश डालें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|--------------|---------------|------------|--------------|
| 1. राजतंत्र | 2. गणराज्य | 3. कुरू | 4. अयोध्या |
| 5. (ख) नेपाल | 6. (क) मिथिला | 7. (ख) अंग | 8. (ग) यमुना |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. असत्य | 12. सत्य। |

2.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
2. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
3. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
4. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
5. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-3: राज्य व्यवस्था 200 ई.पू. से 300 ई. तक (Polities from 2nd B.C. to 3rd A.D.)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 3.1 भारतीय-यूनानी राज्यों का इतिहास (History of Indo-Greek States)
- 3.2 यूनानियों के भारतीयकरण में धर्म की भूमिका
(Role of Religion in Indianisation of Greek)
- 3.3 शक-पल्लव राज्यों का इतिहास (History of Shak-Pahlava States)
- 3.4 शक-पल्लव राज्यों में धर्म की भूमिका (Role of Religion in Shak-Pahlava States)
- 3.5 कुषाण साम्राज्य का इतिहास (History of Kushana Empire)
- 3.6 सारांश (Summary)
- 3.7 शब्दकोश (Keywords)
- 3.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 3.9 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे-

- भारतीय-यूनानी राज्यों के इतिहास को समझने में;
- यूनानियों के भारतीयकरण में धर्म की भूमिका को समझने में;
- शक-पल्लव राज्यों का इतिहास एवं राज्यों की भूमिका को समझने में;
- कुषाण साम्राज्य के इतिहास को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

भारत के इतिहास में दूसरी शताब्दी ई.पू. से लेकर तीसरी शती ई. तक का इतिहास अनेक दृष्टि से अनूठा है। इस युग में भारत में एक के बाद एक अनेक विदेशी जातियों का आगमन हुआ जिसके कारण न केवल देश के बहुत से भू-प्रदेशों को विदेशी आधिपत्य का कड़वा फल चखना पड़ा वरन् कम से कम उत्तरापथ और पश्चिम भारत का प्रजातीय मानचित्र ही परिवर्तित हो गया। यूनानी, शक, पल्लव, आभीर तथा कुषाण आदि जातियों के इन प्रदेशों में बसने के कारण ये भूखण्ड नाना प्रकार की प्रजातियों, भाषाओं और धर्मों का अजायबघर बन गये। प्रथम कनिष्क का साम्राज्य वास्तव में एक विश्वजनीन साम्राज्य था। जैसा कि **टॉयनबी** ने नाटकीय ढंग से कहा है, कुषाणों ने

नोट

कनिष्क के नेतृत्व में “हिन्दुकुश को मिटा देने” का आश्चर्यजनक कार्य किया। इसके फलस्वरूप उत्तरापथ मध्य-एशियाई साम्राज्य का अंग बन गया जिनके बीच में कोई विभाजक सीमा नहीं थी। टॉयनबी ने ‘यूनीवर्सल एम्पायर’ का ‘विश्वजनीन साम्राज्य’ की परिभाषा करते हुए इसे एक ऐसा द्रवण-पात्र बताया है जिसमें विविध प्रकार के प्रजातीय या सामाजिक तत्व घुलमिलकर एक हो जाते हैं और शासक वर्ग परिस्थितिवश शासित वर्गों की परम्पराओं को अपनाने के लिये बाध्य हो जाता है। कनिष्क का साम्राज्य, जो मौर्योत्तर युग में विविध विदेशी जातियों के आगमन के कारण उत्पन्न होने वाली परिस्थिति का परिणाम था, ऐसा ही विश्वजनीन साम्राज्य था। इस परिस्थिति और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न समस्याओं की गूँज भारतीय साहित्य में अनेकत्र सुनाई देती है। ‘गार्गी संहिता’ के ‘युग पुराण’ नामक अंश, अश्वघोष द्वारा रचित माने जाने वाले ग्रन्थ ‘वज्र-सूची’ ‘महाभारत’ के वनपर्व में युगक्षय पर लिखित अध्याय, इसी ग्रन्थ के कर्णपर्व में उपलब्ध मद्रककुत्सन नामक अंश, ‘अंगविज्जा’ नामक जैन ग्रन्थ एवं विविध पुराणों में मिलने वाली छिट-पुट सामग्री इसका उदाहरण हैं। इन नवीन समस्याओं में सबसे बड़ी थी उत्तरापथ में वर्णव्यवस्था का टूटना।



नोट्स ‘महाभारत’ के अनुसार, “युगक्षय होने पर चारों वर्ण मिलकर एक हो जायेंगे। निम्न वर्ण उच्च स्थान प्राप्त करेंगे और सभी मनुष्य शूद्रवत् व्यवहार करेंगे... समस्त जगत् म्लेच्छ हो जाएगा एवं भयंकर संघर्ष होगा।”

इसी प्रकार ‘युग पुराण’ में कहा गया है कि ‘युगक्षय’ होने पर चारों वर्गों के लोग एक-सा वस्त्र धारण करेंगे, एक-सा आचरण करेंगे और आयों का आचरण छोड़कर अनार्य हो जायेंगे। ‘वज्रसूची’ के लेखक अश्वघोष ने भी इस सामाजिक पृष्ठभूमि में अपने ग्रन्थ की रचना करते समय ब्राह्मणत्व की आलोचना की है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि “ब्राह्मण कौन है?” वह कहता है कि “अगर ब्राह्मण के पुत्र को ब्राह्मण माना जाए तो कोई व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता क्योंकि प्रत्येक का रक्त सन्देहग्रस्त होता है। ब्राह्मण स्त्रियाँ भी शूद्रों के साथ समागम करती हैं। इसलिए कोई व्यक्ति जन्मना ब्राह्मण सिद्ध नहीं हो सकता।”

विदेशी आक्रमणों के युग में उत्पन्न होने वाली यह परिस्थिति वर्ण-व्यवस्था के लिए भारतीय सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन के लिये एक चुनौती थी। क्योंकि प्रश्न यह था कि कुषाणों के विश्वजनीन साम्राज्यरूपी द्रवण-पात्र से उत्पन्न होने वाली सामाजिक संस्कृति पर भारतीय धर्म और संस्कृति की छाप रहेगी या यह पूर्णतः विदेशी सिद्ध होगी और उत्तरापथ सदैव के लिये भारत के सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र से कट जायेगा। अपने प्रस्तुत अध्ययन में हम उपर्युक्त विदेशी जातियों के राजनीतिक इतिहास का संक्षिप्त विवरण देते हुए यह जानने की चेष्टा करेंगे कि भारतीय धर्म और संस्कृति को उनका भारतीयकरण करने एवं उन्हें भारतीय जीवन का अंग बनाए रखने में किस सीमा तक सफलता प्राप्त हुई?

3.1 भारतीय-यूनानी राज्यों का इतिहास (History of Indo-Greek States)

भारत पर यूनानियों के आक्रमण परवर्ती मौर्य युग में ही प्रारम्भ हो गये थे और शुंगवंशीय नरेशों को इन विदेशियों के विरुद्ध बहुत संघर्ष करना पड़ा था। शुंग साम्राज्य के विघटन के उपरान्त समस्त भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया और यवनों तथा उनके बाद आने वाले शकों, पल्लवों तथा कुषाणों को रोक सकने वाली कोई स्वदेशी शक्ति नहीं रह गई। शुंगकाल में भारत पर आक्रमण करने वाले यूनानी नरेश बैक्ट्रिया के शासक होने के कारण आजकल ‘बैक्ट्रियानी-यूनानी’ या ‘बाख्त्री-यूनानी’ कहे जाते हैं। बैक्ट्रिया के स्वतन्त्र यूनानी राज्य की स्थापना प्रथम डायोडोटस नामक व्यक्ति ने सेल्यूकस सम्राट के विरुद्ध विद्रोह करके लगभग 250 ई.पू. में की थी। उस समय भारत पर अशोक महान का शासन था। उसके उपरान्त उसके पुत्र द्वितीय डायोडोटस ने शासन किया। उसको अपदस्थ करके किसी समय यूथीडेमस नाम के व्यक्ति ने बैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। 208 ई.पू. के लगभग सेल्यूकस सम्राट तृतीय एण्टियोकस ने बैक्ट्रिया पर पुनः अधिकार करने के लिये बाक्ट्र (बैक्ट्रिया की राजधानी) का घेरा डाला। लेकिन कुछ ही समय में दोनों पक्षों में सन्धि हो गई और एण्टियोकस ने अपनी पुत्री का विवाह यूथीडेमस के पुत्र

नोट

डिमिट्रियस से कर दिया। इसके बाद वह काबुल की घाटी के शासक सोफागसेनस (सुभाग सेन), से जो सम्भवतः मौर्यवंशीय नरेश था, मित्रता करके मेसोपोटामिया लौट गया। उसके प्रत्यावर्तन के उपरान्त यूथीडेमस और डिमिट्रियस ने भारत पर आक्रमण किये और एक शक्तिशाली यूनानी राज्य की स्थापना की। विशेष रूप से डिमिट्रियस के शासनकाल से बैक्ट्रिया के यूनानियों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ भारतोन्मुखी हुई। लेकिन अभाग्यवश उसका और उसके उत्तराधिकारियों का इतिहास अधिकांशतः मौद्रिक साक्ष्य पर निर्भर है। साहित्य से उनके विषय में बहुत कम सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इसके परिणामस्वरूप भारत में यूनानियों की गतिविधियों का इतिहास अत्यधिक वाद-विवाद का विषय बना हुआ है। उदाहरणार्थ, टार्न का विश्वास था कि मुद्राओं से ज्ञात डिमिट्रियस ने पाटलिपुत्र तक विजय प्राप्त की थी और वह अपने को मौर्य सम्राटों का यथार्थ उत्तराधिकारी मानता था। इसके विपरीत ए.के. नारायण ने उस डिमिट्रियस को, जिसने भारत पर आक्रमण किया, यूथीडेमस के पुत्र से भिन्न माना है। हमारा उद्देश्य यहां यूनानी राजाओं के इतिहास का विस्तृत विवेचन और पुनर्निर्माण करना नहीं है, केवल इन राजाओं के इतिहास पर धर्म के प्रभाव का अध्ययन करना है। इसलिए हम यहाँ उनके इतिहास की केवल प्रमुख धाराओं का ही अध्ययन करेंगे।

बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओं का भारत पर पहला महत्वपूर्ण आक्रमण पुष्य मित्र शुंग के काल में हुआ। इसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। संभवतः इसी का वर्णन पतञ्जलि के 'महाभाष्य' (जिसमें यवनों के द्वारा मध्यमिका अर्थात् राजस्थान में चितौड़ के समीप नगरी स्थल तथा साकेत पर आक्रमण का उल्लेख है) में तथा 'गार्गी संहिता' (जिसमें यवनों के द्वारा साकेत, पंचाल और मथुरा तथा कुसुमध्वज अर्थात् पाटलिपुत्र पर आक्रमण किये जाने की चर्चा है) में मिलता है। इस आक्रमण का नेता सम्भवतः डिमिट्रियस था चाहे वह यूथीडेमस का पुत्र था अथवा कोई अन्य व्यक्ति क्योंकि अर्तैमिता के अपोलोडोटस के आधार पर स्ट्रेबो ने मिनेण्डर और डिमिट्रियस के द्वारा भारत के बहुत-से भागों पर विजय प्राप्त किये जाने का उल्लेख किया है।

जिस समय डिमिट्रियस भारत विजय में लगा हुआ था, बैक्ट्रिया के सिंहासन पर युक्रेटाइडिज ने अधिकार कर लिया (लगभग 171 ई.पू.) : डिमिट्रियस की मृत्यु के बाद उसने 'इण्डिया' (सम्भवतः सिन्धु की घाटी का कोई भाग) पर भी विजय प्राप्त की। इसके अतिरिक्त उसने एराकोशिया तथा डैन्जियाना को जीता एवं कापिश अर्थात् काफरिस्तान प्रदेश से अपोलोडोटस की सत्ता का अन्त किया। अपोलोडोटस का किस वंश से संबंध था, यह निश्चित ज्ञात नहीं है। जस्टिन के अनुसार युक्रेटाइडिज की मृत्यु उसके पुत्र के द्वारा हत्या किए जाने से हुई थी। जस्टिन ने इस पितृहन्ता का नाम नहीं दिया है, लेकिन कुछ विद्वान उसकी पहचान मुद्राओं से ज्ञात हेलियोक्लीज से करते हैं। हेलियोक्लीज बैक्ट्रिया का अन्तिम यूनानी राजा था। जस्टिन के अनुसार बैक्ट्रिया से यूनानी शासन का अन्त वार्थियायी और मध्य एशियायी आक्रमणों के कारण हुआ था। ये मध्य एशियायी जातियाँ स्पष्टतः शकों और कुषाणों से अभिन्न थी।

बैक्ट्रिया के हाथ से निकल जाने के उपरान्त यूनानियों के अधिकार में केवल भारतीय प्रदेश रह गए। मुद्राओं से हमें ऐसे तीस से अधिक यूनानी राजाओं के नाम ज्ञात हैं जो डिमिट्रियस तथा युक्रेटाइडिज के वंशज थे और जिन्होंने प्रायः केवल भारतीय प्रदेशों पर ही शासन किया था। इन राजाओं में जिन्हें आधुनिक इतिहासकार सुविधा के लिए 'भारतीय-यवन' कहते हैं, अधिकांश की चर्चा करना यहाँ अनावश्यक है। इन सभी ने निश्चित रूप से कुषाण साम्राज्य की स्थापना से पूर्व व्यतीत होने वाले लगभग डेढ़ सौ वर्षों में शासन किया था, इसलिए यह निश्चित रूपेण कहा जा सकता है कि इनमें ज्यादातर समकालीन थे और परस्पर संघर्षरत रहे थे। इन राजाओं में सबसे महत्वपूर्ण नाम मिनेण्डर का है जिसके सिक्के 'पेरिप्लस' के लेखक (70-80 ई.) ने बेरीगाजा (भड़ोच) में अपोलोडोटस के सिक्कों के साथ प्रचलित देखे थे। मिनेण्डर का अपोलोडोटस के साथ उल्लेख जस्टिन के ग्रन्थ में भी मिलता है। उसकी पहचान 'मिलिन्दपन्हो' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित यूनानी नरेश मिलिन्द से, जो बौद्ध धर्मावलम्बी था और जिसके नागसेन के साथ हुए संवाद का विवरण इस ग्रन्थ में है, की जाती है। क्षेमेन्द्र की 'अवदानकल्पलता' में उसका 'मिलिन्द' नाम से उल्लेख है और शिनकोट (बाजौर) अभिलेख में मेनद्र नाम से। 'मिलिन्दपन्हो' के अनुसार वह अलसन्द (काबुल के समीप स्थित अलेक्जेण्ड्रिया नाम का नगर) द्वीप (दोआब) में स्थित कलसी ग्राम में उत्पन्न हुआ था। उसकी राजधानी शाकल (सियालकोट) थी। नागसेन के उपदेश से प्रभावित होकर उसने बौद्ध धर्म स्वीकार

नोट

कर लिया था और वृद्धावस्था में अपना राज्य अपने पुत्र को सौंपकर बौद्धभिक्षु बनकर अर्हत् पद प्राप्त किया था। इस कथा का परोक्षरूप से समर्थन प्लुटार्क ने भी किया है क्योंकि वह हमें बताता है कि मिनेण्डर की, जो अपने न्याय के लिए प्रसिद्ध था और जनता में अत्यन्त लोकप्रिय था, मृत्यु के उपरान्त उसकी भस्म के लिये सात नगरों में संघर्ष हुआ था। उसके बारे में हिन्दचीन जैसे दूरस्थ देश में भी अनेक कथाएं प्रचलित मिलती हैं।

मिनेण्डर ने भारत के काफी बड़े भूभाग पर शासन किया था। उसके सिक्के बहुत बड़ी संख्या में काबुल और सिन्ध में ही नहीं वरन् उत्तर प्रदेश के पश्चिम जिलों में भी मिलते हैं। अर्तैमिता के अपोलोडोरस के अनुसार उसने हाईफेनिस (सम्भवतः व्यास) को पार करके आइसमस (सम्भवतः यमुना) तक विजय यात्रा की थी। उसके तांबे के कुछ चौकोर सिक्कों से स्पष्ट है कि उसने युक्रेटाइडिज के कुछ ही समय बाद शासन किया होगा, इसलिए उसका समय दूसरी शताब्दी ई.पू. का मध्य भाग माना जा सकता है और उसकी पहचान उस यवन राजा से की जा सकती है जिसके साथ, कालिदास के 'मालविकाग्नि-मित्र' के अनुसार पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र का संघर्ष सिन्धु नदी के तट पर हुआ था। लेकिन दिनेशचन्द्र सरकार जैसे कुछ विद्वान उसे दूसरी शताब्दी ई.पू. के अन्तिम वर्षों में रखते हैं। यह सम्भव प्रतीत नहीं होता।

मिनेण्डर के अतिरिक्त एक और यूनानी राजा का वर्णन भारतीय साक्ष्य में मिलता है। वह है एण्टियालकिडज, जिसका उल्लेख बेसनगर से प्राप्त एक गरुड़ ध्वज लेख में मिलता है। इस ध्वजस्तम्भ की स्थापना यूनानी राजदूत हेलियोदोर से कराई थी जिसे उसके स्वामी अंतलिंकित (एण्टियालकिडज) ने राजा कौत्सीपुत्र भागभद्र के दरबार में राजदूत के रूप में भेजा था। हेलियोदोर तक्षशिला का रहने वाला था, जो उसके स्वामी की राजधानी रही होगी और वासुदेव का उपासक था जिसके सम्मान में उसने वह गरुड़ ध्वज भागभद्र के शासन के चौदहवें वर्ष में स्थापित करवाया था। यह सम्भव है कि एण्टियालकिडज ने हेलियोदोर को यूनानी राज्यों के आपसी संघर्ष में अपने पक्ष में भागभद्र की सहायता पाने के लिए भेजा हो।



उदाहरण एण्टियालकिडज के सिक्के भी उपलब्ध हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वह सम्भवतः यूक्रेटाइडिज के वंश में उत्पन्न हुआ था और तक्षशिला के अतिरिक्त पुष्कलावती और कापिश प्रदेशों का भी स्वामी था।

मिनेण्डर और एण्टियालकिडज के बाद यूनानी राजाओं का अनुक्रम और पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करना कठिन है। मिनेण्डर के उपरांत उसके वंशजों के हाथ से अफगानिस्तान और गंधार प्रदेश निकल गये प्रतीत होते हैं। उसके वंशजों में प्रथम स्ट्रेटो महत्वपूर्ण है। उसके सिक्कों पर उसका अंकन किशोर से लेकर वृद्ध व्यक्ति तक के रूप में मिलता है, इसलिए उसने दीर्घकाल तक शासन किया होगा। उसने शुरू में अगेथोक्लिया के साथ (जो सम्भवतः उसकी माँ और मिनेण्डर की पत्नी थी) और बाद में अपने पौत्र द्वितीय स्ट्रेटो के साथ मिलकर शासन किया। उसके वंश के अन्य नरेशों में डायोनाइसस, जोआलस, अपोलोफेनीज, हिपोस्ट्रेटस, अपोलोडोटस आदि सम्मिलित हैं। इनको प्रथम शताब्दी ई.पू. के उत्तरार्द्ध में रखा जा सकता है। इसी प्रकार युक्रेटाइडिज के वंशजों का इतिहास भी निर्धारित करना कठिन है। उनमें डायोमिडिज, इपेण्डर फिलोक्सनस, आर्तैमिडोरस तथा प्यूकोलोस सम्भवतः पुष्कलावती से सम्बन्धित थे और एमिन्तास तथा हरमाविज आदि काफरिस्तान और काबुल प्रदेश से। इन राजाओं की बची-खुची शक्ति का अन्त शक, पल्लव और कुषाण आक्रमणों के कारण हुआ।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the Blanks)–

1. प्रथम का साम्राज्य वास्तव में एक विश्वजनीन साम्राज्य था।
2. बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओं का भारत पर पहला महत्वपूर्ण आक्रमण शृंग के काल में हुआ।
3. जस्टिन के अनुसार की मृत्यु उसके पुत्र के द्वारा हत्या किये जाने से हुई थी।
4. हेलियोक्लीज का अंतिम यूनानी राजा था।

नोट

3.2 यूनानियों के भारतीयकरण में धर्म की भूमिका (Role of Religion in Indianisation of Greek)

भारत में यूनानियों के आक्रमण और देश में उनके बस जाने से भारतीय समाज में उनके स्थान की समस्या उत्पन्न हुई यद्यपि अन्य अनेक आक्रमणकारियों की तुलना में यूनानी जाति, जो भारतीय इतिहास में यवन नाम से विख्यात हुई, अधिक सभ्य और सुसंस्कृत थी। फिर भी भारतीय धर्म और संस्कृति की दृष्टि से वह विदेशी थी और उसकी परम्पराएं तथा सामाजिक आचार-विचार भारतीयों से भिन्न और भारतीय दृष्टि से निन्द्य थे। 'महाभारत' के कर्णपर्व में उपलब्ध कर्ण-शल्य संवाद, जो 'मद्रक-कुत्सन' नाम से विख्यात है, मद्र देश में यूनानियों की संस्कृति के प्रति ब्राह्मण दृष्टिकोण का चित्र उपस्थित करता है। इसमें कर्ण मद्रदेशीय संस्कृति की उस आलोचना को दोहराता है जो उसने विभिन्न अवसरों पर ऐसे ब्राह्मणों के मुख से सुनी थी जो मद्र देश में यात्री के रूप में गये थे। इसमें कई स्थलों पर कहा गया है कि मद्र अथवा वाहीक देश जो हिमालय, गंगा, सरस्वती, यमुना और कुरुक्षेत्र की सीमा से बाहर है तथा सिन्ध और शतद्रु, विपासा, इरावती, चन्द्रभागा और वितस्ता द्वारा सिंचित है, धर्म बाह्य है, अपवित्र है, उसे त्याग देना चाहिये। प्रस्थल, मद्र, गन्धार, आरट्ट, खस, वसाति, सिन्धु तथा सौवीर ये देश प्रायः अत्यधिक निन्दित हैं। मद्रदेश में शाकल नाम का नगर है और आपगा नाम की नदी बहती है, वहाँ जार्तिका नाम वाले बाहीक निवास करते हैं। शाकल देश की 'राक्षसी गुड़' से बनी मदिरा पीकर अन्जलि भर प्याज के साथ भेड़ और गौ का मांस खाती है। वहाँ के नर-नारी, और आबाल-वृद्ध मदिरा से उन्मत्त होकर गीत गाते हैं। यह भुने हुए जौ और लहुसन के साथ गोमांस खाते हैं तथा गुड़ से बनी हुई मदिरा पीकर मतवाले रहते हैं। पुआ मांस और बाटी खाने वाले वे लोग शील व अचार से शून्य होते हैं, वहाँ की औरतें नंगी होकर संस्थागारों और घरों में नाचती और गाती हैं। मैथुन काल में भी वे पर्दे के भीतर नहीं रहती। वे सब की सब सर्वथा कामाचारिणी होती हैं, वे मद से उन्मत्त होकर एक-दूसरे को "पतिविहीन", "पतिमर्दित" और "हाहते" आदि कहकर पुकारती हैं। पर्वों और त्योहारों पर उनके संयम का बाँध और भी टूट जाता है। मद्रक नारियाँ एक प्याला सुवीरक (मद्य) के लिये अपने पति और पुत्र को भी त्यागने के लिये तैयार रहती हैं। वे सूक्ष्म ऊनी वस्त्र धारण करती हैं। उनके नेत्रों के प्रान्त भाग मेनसिल में आलेप से उज्ज्वल रहते हैं तथा दोनों नेत्र व ललाट अंजन से युक्त होते हैं। एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि एक बालिका के, जिसके साथ आरट्टवासियों ने बलात्कार किया था, शाप के कारण उनके देश की स्त्रियाँ व्यभिचारिणी होती हैं। पंचनद के निवासियों के विषय में 'महाभारत' में और भी अनेक निन्दनीय बातें कही गई हैं। एक स्थल पर कहा गया है कि मद्रक लोग धोखेबाज होते हैं, उनका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। उनके समाज में माता-पिता, पुत्र-पुत्रियाँ, सास-ससुर, दामाद, भाई-बहिन, पौत्र-पौत्रियाँ, मित्र-अतिथि, दास-दासियाँ, परिचित और अजनबी सभी लोग एक सभा में एकत्रित होते हैं तथा सुरापान एवं मांस भक्षण करते हुए घोर अनैतिक आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे लोग तक्र के पुए और सत्तु के पिण्ड खाते हैं तथा राहगीरों के कपड़े छीनकर उन्हें पीटते हैं। उनके धर्म-कर्म नष्ट हो गये हैं। ऐसे संस्कार-विहीन जारज और यज्ञ धर्म से रहित लोगों के पास, जिनके दिये हुए द्रव्य को देवता, पितर और ब्राह्मण भी स्वीकार नहीं करते, कभी नहीं जाना चाहिये। मद्रवासी मानते हैं कि जो लोग सूअर, मुर्गे, गाय और गधे का मांस नहीं खाते उनका जन्म व्यर्थ है। वह काठ के कुण्डों तथा मिट्टी के बर्तनों में भोजन करते हैं। उनमें शराब लिपटी रहती है और कुत्ते उन बर्तनों को चाटते रहते हैं लेकिन उनको उन बर्तनों में भोजन करते हुए तनिक भी घृणा नहीं होती। वे भेड़, ऊँटनी और गदहों का दूध पीते हैं और उस दूध से बनी हुई दही, मक्खन और छाछ खाते-पीते हैं। वे शुद्ध और अशुद्ध का विचार छोड़कर सब तरह का अन्न खा लेते हैं; इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे आरट्टों के वाहीक देश में दो दिन भी निवास न करें। वाहीक लोग 'वही' और 'हीक' नामक पिशाचों की सन्तान हैं। वहाँ वेद विरुद्ध आचरण करने वाले ब्राह्मण रहते हैं जिनको न तो वेदों का ज्ञान है, न यज्ञ का। वे संस्कारहीन दासों से समागम करने वाली स्त्रियों की सन्तानें हैं। इसलिये देवता भी उनका अन्न ग्रहण नहीं करते। कुरु, पन्चाल, शाल्व, मत्स्य, नेमिष, कोसल, काशी, अंग, कलिंग और मगध के लोग तो सनातन धर्म को जानते हैं लेकिन मद्र और पन्चनद में ऐसी बात नहीं है। वहाँ के लोग कुटिल और चोर होते हैं प्राचीन काल में जब से देशों में प्रचलित सनातन धर्म की प्रशंसा की जा रही थी तब पन्चनदवासियों के धर्म पर दृष्टिपात करके

नोट

पितामह (= ब्रह्मा) ने कहा था 'धिवकार है इन्हें'। कृतघ्नता, परधन अपहरण, मदिरापान, गुरुपत्नीगमन, कटुवचनों का प्रयोग, गोवध, रात के समय घर के बाहर घूमना, परवस्त्रोपभोग—ये सब जिनके धर्म हैं उन आरट्टों और पन्चनद वासियों के लिये कोई अधर्म नहीं है।

वाहीक देश में वर्ण-व्यवस्था के टूटने का भी 'महाभारत' में बड़ा रोचक वर्णन है। कहा गया है कि वहाँ एक ही वाहीक पहले ब्राह्मण होकर फिर क्षत्रिय और तत्पश्चात् वह वैश्य और शूद्र भी बन जाता है। उसके बाद वह नाई होकर ब्राह्मण बन जाता है और ब्राह्मण होने के बाद फिर दास हो जाता है। एक ही कुल में कुछ लोग ब्राह्मण और कुछ लोग स्वेच्छाचारी सन्तान उत्पन्न करने वाले होते हैं। सारी पृथ्वी पर अगर कहीं धर्म विपरीत आचरण दिखाई देता है तो वह वाहीक देश है। इसीलिये 'महाभारत' के इस अंश के लेखक की दृष्टि में "क्षत्रियों का मल भिक्षावृत्ति है, ब्राह्मणों का मल वेद शास्त्रों के विपरीत आचरण है, पृथ्वी का मल वाहीक लोग हैं और स्त्रियों का मल हैं वाहीक देश की स्त्रियाँ।"

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार महाभारत में प्रदत्त पन्चनदीय प्रदेश की उपर्युक्त संस्कृति का वर्णन वस्तुतः उस समय का वर्णन है जब ब्राह्मण धर्म के कट्टर समर्थकों की दृष्टि में इस प्रदेश की संस्कृति वहाँ यवनों के आधिपत्य के कारण पतित हो गई थी। उनका यह सुझाव निश्चित ही सही है क्योंकि स्वयं 'महाभारत' के इस अंश में कर्ण के मुख से ही कहलाया गया है कि यद्यपि "यवनजातीय म्लेच्छ शूर होते हैं" तथापि वे अपने द्वारा कल्पित संज्ञाओं पर ही अधिक आग्रह करते हैं। इससे स्पष्ट है कि कर्ण यहाँ यवन अथवा यूनानियों की संस्कृति का ही वर्णन कर रहा था। इस वर्णन में भी ऐसी बहुत सी बातें हैं जो अन्य साक्ष्य से भी यूनानियों पर लागू होती हैं। उदाहरणार्थ, डॉ. अग्रवाल ने यह रोचक सुझाव रखा है कि महाभारत में कामाचारिणी स्त्रियों के लिये प्रयुक्त 'हाहते' शब्द, जो अन्यथा निरर्थक जान पड़ता है, यूनानी भाषा के हटेरा (वैश्या) शब्द का संस्कृत रूपान्तरण है। वाहिकों द्वारा काष्ठ पात्रों और मृदभाण्डों में शौचाशौच का विचार किये बिना भोजन कर लेना भी यूनानी समाज का वर्णन प्रतीत होता है। इसमें एक स्थल पर उनके योद्धाओं (मौष्टिकाः) का उल्लेख भी मिलता है जो यूनानी ग्लेडिएटर्स का स्मरण दिलाने वाला है। जो भी हो, इस वर्णन से स्पष्ट है कि यूनानियों के पन्चनद में बस जाने से भारतीयों के सम्मुख कैसी सांस्कृतिक समस्याएँ उत्पन्न हुई थीं और किस प्रकार भारतीयों ने यूनानी संस्कृति के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। डॉ. अग्रवाल का तो यहाँ तक अनुमान है कि इस आलोचना को लोकप्रिय बनाने वाला 'महाभारत' में उल्लिखित "कोई ब्राह्मण" सम्भवतः पुष्पमित्र शुंग ही था।

यवन आक्रमणकारियों के कारण उत्पन्न राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याओं का सामना करने में भारतीयों ने धर्म को अपना प्रमुख साधन बनाया। अनेक कारणों से वे भारत में विदेशियों के आगमन को तो नहीं रोक सके परन्तु उनके भारत में बस जाने के बाद शनैः शनैः उनका भारतीयकरण करने में अवश्य ही सफल हुए। दूसरे शब्दों में भारतीय धर्मों ने विदेशियों पर अपना प्रभाव स्थापित करके उन्हें अपना अर्थात् भारतीय धर्मों का संरक्षक बना दिया। भारतीयों ने एक ओर अगर यूनानियों की स्वेच्छाचारिता और उनके समाज में वर्णधर्म के अभाव की आलोचना की तो इसके साथ ही उनको 'व्रात्य' घोषित करके उन्हें एक तरह से अर्द्ध-आर्य भी स्वीकार किया। भारत में जात्युर्ध्व तथा जात्यपकर्ष का सिद्धान्त पहले से ही विद्यमान था और वैदिककाल के अनेक क्षत्रियों (यथा विश्वामित्र) के ब्राह्मण बनने के उदाहरण थे। वशिष्ठ को 'महाभारत' में गणिका-पुत्र कहा गया है—सम्भवतः इसलिये क्योंकि 'ऋग्वेद' में उन्हें उर्वशी की सन्तान बताया गया है। इसी प्रकार नाभगरिष्ठ के दो वैश्य पुत्रों ने ब्राह्मण पद पाया था और व्यास जो मछुआरिन के बेटे थे तथा पाराशर जो चाण्डाली के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, ब्राह्मण बन गए थे। इसलिये मौर्योत्तर काल में आने वाली विदेशी जातियों को भारतीय समाज का अंग बना लेना आर्यों की क्षमता से परे नहीं था। इसका सबसे बड़ा माध्यम भारतीय धर्म था जिसके प्रभाव से यूनानी और अन्य जातियाँ बच नहीं सकीं।

जहाँ तक स्वयं यूनानियों का सम्बन्ध है उनमें भारतीयकरण का सबसे पहला उदाहरण मिनेण्डर उपस्थित करता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'मिलिन्दपन्हो' के अनुसार बौद्ध आचार्य नागसेन ने मिनेण्डर को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। इस ग्रन्थ के अनुसार उसने अपना राज्य अपने पुत्र को सौंप दिया था तथा भिक्षु बनकर 'अर्हत' पद प्राप्त किया था। प्लुटार्क द्वारा प्रदत्त कथा के अनुसार उसके मृत्युपरान्त उसकी भस्म के लिये सात नगरों में संघर्ष हुआ

नोट

था। यहाँ कथा बुद्ध के अस्थि अवशेषों के लिये हुए संघर्ष का स्मरण दिलाती है। इस प्रकार की कथाओं में सत्यांश निर्धारित करना कठिन है, लेकिन इससे इतना अवश्य पता चलता है कि मिनेण्डर ने एक बौद्ध नरेश के रूप में जनस्मृति को कितना प्रभावित किया था। इसी तथ्य को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म ने इस विदेशी राजा का पूर्णतः भारतीयकरण करके यूनानियों को भारत का अंग बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 'मिलिन्दपन्हो' में मिनेण्डर को नागसेन के साथ बौद्ध दर्शन की गम्भीर समस्याओं पर विचार करते हुए दिखाया गया है इस ग्रन्थ से स्पष्ट है कि उसकी बुद्धि तीक्ष्ण थी और उसने नागसेन के सम्मुख अत्यन्त गहन प्रश्न रखे थे। स्वयं इस ग्रन्थ के लेखक के शब्दों में, "उसके जैसा तार्किक मिलना मुश्किल था और उसे विवाद में परास्त करना अत्यन्त कठिन था। वह विविध विचार सम्प्रदायों के संस्थापकों से निश्चय ही बढ़कर था। ज्ञान के समान शारीरिक शक्ति गतिशीलता और शौर्य में भी भारत में उसकी समता करने वाला कोई नहीं था। यह अत्यन्त धनी था और उसके सैनिकों की संख्या अनन्त थी।" स्पष्ट है कि मिनेण्डर के प्रशासन और सफलताओं ने स्वयं भारतीयों को बहुत प्रभावित किया था। टार्न का कहना था कि शासक जाति का सदस्य होने के कारण मिनेण्डर ने बौद्ध धर्म स्वीकार नहीं किया होगा, लेकिन अन्य सभी विद्वान् उपर्युक्त भारतीय परम्परा को सही मानते हैं। उसकी कुछ चौकोर ताम्र मुद्राओं पर उपलब्ध 8 अरे वाले चक्र का सम्बन्ध उसकी बौद्ध धर्म की रुचि के साथ हो सकता है। इस प्रसंग में यह भी ध्यान दिलाया जा सकता है कि उसके शिनकोट (बाजौर)—अभिलेख के अनुसार उसके शासनकाल में वियकमित्र नामक राजा ने बुद्ध के अवशेषों को प्रतिष्ठापित करवाया था। उसके सिक्कों पर सामान्यतः यूनानी भाषा में 'बेसीलियोस मिनेन्द्रोड' तथा प्राकृत में 'महरजस त्रतरस मेनद्रस' लेख मिलते हैं। लेकिन उसकी कुछ मुद्राओं पर 'सोटेरोस' के स्थान पर यूनानी भाषा में 'डिकाइओड तथा प्राकृत में 'ध्रमिकस' लेख मिले हैं। भाण्डारकर ने 'ध्रमिकस' (= धार्मिक) लेख का सम्बन्ध मिनेण्डर की बौद्ध धर्म के प्रति अभिरुचि के साथ जोड़ा है। इन सिक्कों पर राजा का अंकन एक वृद्ध व्यक्ति के रूप में हुआ है, इसलिये ये सिक्के मिनेण्डर के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में जारी किये गये होंगे। मिनेण्डर के अतिरिक्त यूनानी शासक वर्ग के कुछ अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार किया।



उदाहरण थियोडोरस नामक मेरिडार्ख (= गवर्नर) ने उद्यान में भगवान् बुद्ध के अवशेष प्रतिष्ठापित करवाये थे। एक अन्य मेरिडार्ख ने, जिसका नाम उसके लेख से अभिगम्यवश मिट गया है, तक्षशिला के समीप अपने माता-पिता की स्मृति में एक स्तूप बनवाया था। इस पुनीत कार्य में उसकी पत्नी सहयोगिनी थी।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि यवनों के भारतीयकरण में केवल बौद्ध धर्म ने ही योगदान दिया। उनको भारतीय बनाने में हिन्दू धर्म ने भी उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाही प्रतीत होती है। इसका सर्वोत्तम प्रमाण बेसनगर गरुडध्वज-अभिलेख है। जिसे दिय के पुत्र हेलियोदोर ने भगवान् वासुदेव के सम्मान में गरुडध्वज स्थापित करवाकर लिखवाया था। जैसा कि कहा जा चुका है हेलियोदोर एक यवन दूत था जिसे तक्षशिला के अंतर्लिकित नामक यवन राजा ने विदिशा के भारतीय नरेश भागभद्र के दरबार में भेजा था। इस अभिलेख से स्पष्ट है कि हेलियोदोर ने वैष्णव धर्म अपना लिया था। वह अपने को 'देवाधिदेव वासुदेव का उपासक' और 'भागवत' कहने में गर्व का अनुभव करता है। इस अभिलेख की अन्तिम दो पंक्तियों से यह भी संकेत मिलता है कि उसने सम्भवतः 'महाभारत' का भी अध्ययन किया था। इन पंक्तियों में कहा गया है कि "यह तीन अमृतपद स्वर्ग ले जाते हैं दम, त्याग और अप्रमाद"। यह कथन 'महाभारत' के इस वाक्य का स्मरण दिलानेवाला है : दमस्त्यागोदप्रमादश्च एतेष्वमृताहितम्।

भारतीय धर्मों का प्रभाव केवल यूनानी शासक वर्ग पर ही नहीं वरन् सामान्य यूनानियों पर भी पड़ा। इसका सर्वोत्तम प्रमाण पश्चिमी भारत में नासिक, जुन्नार तथा कार्ले की गुफाओं से प्राप्त लघु दान-अभिलेख हैं जिनमें ऐसे अनेक व्यक्तिगत यवन नागरिकों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने बौद्ध स्तूपों और विहारों के दान दिये थे। पूना के समीप स्थित कार्ले की गुफाओं में मिले दो अभिलेखों में घेनुकाट के रहने वाले सिंहधय्य (सिंह धैर्य) तथा धम्म (धर्म) नामक यवन नागरिकों के दान का उल्लेख मिलता है। इन दोनों यवनों के नामों और दान कार्य से स्पष्ट है कि वे लगभग पूरी तरह भारतीय हो चुके थे। जुन्नार की गुफाओं से प्राप्त तीन अभिलेख इस प्रकार हैं—

नोट

प्रथम अभिलेख : यवनस इरिलस गतान देयधम वे पोढियो (गर्त के निवासी यवन इरिल का दो जल कुण्डों का धर्म दान)।

द्वितीय अभिलेख : यवनस चिटस गतानं भोजन मटपो देयधम सद्ये (गर्त के निवासी यवन चिट के संघ को भोजन मण्डप का धर्मदान)।

तृतीय अभिलेख : यवनस चंदानं देयधर्म गभदार (यवन चंद का गर्भद्वार का धर्मदान)।

इन अभिलेखों में उल्लिखित यवनों में केवल इरिल का नाम विदेशी है शेष दोनों नाम चिट (चत्र) तथा चंद (चन्द्र) विशुद्ध भारतीय हैं। इस विषय में एक नासिक गुहा अभिलेख का साक्ष्य और भी अधिक महत्वपूर्ण है। इस लेख में कहा गया है कि धर्मात्मा इन्द्राग्निदत्त नामक यवन ने जो धर्मदेव का पुत्र था और उत्तरापथ (पश्चिमोत्तर भारत) में दत्तामित्र (डिमिट्रियस के द्वारा बसाया गया नगर) का निवासी था यह गुफा दान में दी थी। यहाँ यह बात विशेषतः ध्यान देने की है कि इन लेखों के लिखवाए जाने तक स्वयं दत्तामित्र निवासी यवन लोग इन्द्राग्निदत्त तथा धर्मदेव जैसे नाम रखने लगे थे, अपने को धर्मात्मा कहकर गर्व का अनुभव करते थे और गुहादान जैसे विशुद्ध भारतीय धर्म कार्यों में दिलचस्पी लेते थे। ए.के. नारायण का यह आग्रह कि ये यवन भारतीय नहीं थे वरन् अलेक्जेंड्रिया के यूनानी अथवा रोम के रहे होंगे जो भारत में व्यापार के सिलसिले में आये थे, स्पष्टतः गलत है क्योंकि अलेक्जेंड्रिया और रोम के व्यापारियों का उल्लेख भारतीय नामों में होना सम्भव नहीं था। दूसरे, ये यवन अपने को स्पष्टतः धेनुकाटक और दत्तामित्र जैसे भारतीय स्थानों का निवासी-बताते हैं। जो यवन भारतीय नाम रख रहे थे और गुहादान आदि भारतीय धर्मकार्यों में रूचि ले रहे थे उनको दूरस्थ अलेक्जेंड्रिया और रोम का निवासी मानने के बजाय भारतीय यवन मानना निश्चय ही अधिक तर्कसंगत है।

जो भी हो उपर्युक्त तथ्यों से इतना स्पष्ट है कि अगर भारत पर आक्रमण करने वाले यवनों ने उत्तरापथ पर अधिकार करने में आंशिक विजय प्राप्त की तो भारतीय धर्मों ने उन्हें भारतीय बनाने में सफलता पाई। वास्तव में हेलियोदोर तथा नासिक अभिलेखों के यवनों पर भारतीयता की इतनी गहरी छाप है कि अगर उनको स्पष्टतः यवन नहीं कहा गया होता तो उनकी विदेशी उत्पत्ति ही अज्ञात रह जाती।



सावधानी

यवनों के भारतीयकरण के परिणामस्वरूप उनके उत्तरापथ पर आधिपत्य के उतने गम्भीर राजनीतिक परिणाम नहीं हुए और भारतीय प्रशासकीय संस्थाओं और परम्पराओं में उतने महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हो पाये जितने यूनानी जैसी जाति के, जिसका अपना लम्बा राजनीतिक इतिहास और विशिष्ट राजनीतिक संस्थाएं थीं, विजयी होने पर हुए होते। इस दृष्टि से भारतीय-यूनानी इतिहास में धर्म की भूमिका की अतिरंजना नहीं की जा सकती।

3.3 शक-पल्लव राज्यों का इतिहास (History of Shak-Pahlava States)

जिस समय भारत में यूनानी नरेश अपनी शक्ति बढ़ाने की चेष्टा में लगे थे मध्य एशिया में जबरदस्त प्रजातीय उथल-पुथल हुई। इस उथल-पुथल का ज्ञान हमें चीनी और क्लासिकल लेखकों के ग्रन्थों से होता है। चीनी इतिहासकार मा-त्वा-लिन के 'विश्वकोश' से ज्ञात होता है कि ह्युंग-नु जाति के द्वारा हरा दिये जाने पर युए-ची जाति पश्चिम की ओर चली गई और ताहिया में रहने लगी। इसके कारण साई (शक) जाति दक्षिण की ओर बढ़कर की-पिन में जा बसी। वहाँ उसने छोटे-छोटे टुकड़ों में फैलकर कई छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये। इस कथन का समर्थन 'तिएन हान शू' नामक ग्रन्थ में भी होता है। आधुनिक विद्वान ता-हिया की पहचान आमतौर पर बैक्ट्रिया से करते हैं, यद्यपि इसमें बैक्ट्रिया के उत्तर में स्थित तुखार प्रदेश का कुछ भाग भी सम्मिलित रहा होगा। की-पिन की पहचान कुछ विद्वान काफरिस्तान से करते हैं और कुछ कश्मीर से तथा कुछ कश्मीर से लेकर काफरिस्तान तक विस्तृत भू-भाग से।

शकों की एक शाखा ता-हिया से पूर्वी ईरान होते हुए भी भारत आई थी। उस समय उसे कुछ समय के लिये पूर्वी ईरान में भी रहना पड़ा था जिसके कारण उसके ऊपर ईरानी संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा था। ईरान पर उस समय

नोट

पार्थियायी सम्राटों का शासन था जिन्होंने अपने साम्राज्य के पूर्व में स्थित भारतीय प्रदेशों को जीतने की चेष्टा की। इस उथल-पुथल के परिणामस्वरूप पार्थियायी साम्राज्य के पूर्वी प्रांतों के ऐसे गवर्नर स्वतन्त्र हो उठे जिनको पार्थियन या पल्लव भी कहा जा सकता है और शक-पल्लव भी। इनमें पहला महत्वपूर्ण नरेश जिसने साम्राज्यिक उपाधि धारण की वोनीजी (ईरानी वनान) था जो स्वयं तो पल्लव प्रतीत होता है लेकिन जिसके भाईयों अथवा सौतेले भाइयों ने, जो उसके पिता की शक पत्नियों की सन्तान रहे होंगे, शकों में प्रचलित नाम भी धारण किये। इस वंश के राजाओं के सिक्कों के सीधी तरफ राजा का नाम मिलता है और उल्टी तरफ उसके वायसराय का जो प्रायः उसका सम्बन्धी होता था। उनके सम्बन्ध का उल्लेख प्रायः सिक्कों पर ही किया गया है। वोनीजी के सिक्कों पर उसके भाई शपलहोर तथा भतीजे शपलगदम के नाम मिलते हैं जो दक्षिणी अफगानिस्तान में गवर्नर रहे होंगे। कुछ अन्य सिक्कों पर शपलरिष को किसी राजा का, जिसका नाम नहीं दिया है, भाई बताया गया है। इस अज्ञात राजा की पहचान वोनीजी से की जाती है। शपलरिष सम्भवतः वोनीजी का उत्तराधिकारी था।

लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि वोनीजी के साम्राज्य पर शीघ्र ही शकजातीय नरेशों ने अधिकार कर लिया। सबसे पहला शक सम्राट सम्भवतः माविज या मोग था जिसके सिक्के भी उपलब्ध हैं और 78वें वर्ष का उल्लेख करने वाला एक अभिलेख भी, जो तक्षशिला से मिला है। सरकार और अन्य बहुत से विद्वानों के अनुसार इस अभिलेख में उस सम्वत् का प्रयोग हुआ है जो भारतीय इतिहास में बाद में कृत, मालव विक्रम नामों से विख्यात हुआ। माविज ने पश्चिमोत्तर भारत के काफी विशाल भू-भाग पर शासन किया। मौद्रिक साक्ष्य से संकेतित है कि उसका उत्तराधिकारी प्रथम अय या अजेज था। यह सर्वथा सम्भव है कि अजेज शपलरिष का पुत्र और माविज का दामाद रहा हो। कुछ सिक्कों पर प्रथम अजेज के सह-शासक के रूप में अयिलिष (एजिलाइसिस) का नाम मिलता है और कुछ सिक्कों पर अयिलिष के सह-शासक के रूप में अजेज का। अयिलिष का सह-शासक अजेज स्पष्टतः इस नाम का दूसरा राजा होना चाहिये। इन सब राजाओं ने प्रथम शती ई.पू. के अन्तिम दशकों में और प्रथम शताब्दी ई. के प्रारम्भिक वर्षों में शासन किया होगा, लेकिन इनका विस्तृत इतिहास देना ज्ञान की वर्तमान अवस्था में सम्भव नहीं है।

पहली शती ई. के मध्य पश्चिमोत्तर भारत में पल्लवों की शक्ति बढ़ी और उन्होंने गोन्दोफर्निज (ईरानी विन्दफर्न) के नेतृत्व में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। जिस समय प्रथम शताब्दी के प्रारंभ में चेरेंक्स के इसीडोर ने अपना ग्रन्थ लिखा, पार्थियायी साम्राज्य के पूर्वी प्रांतों में एरिया (हिरात), अनओई (फारा), डेन्जियाना तथा शकस्तान (हापुन और हेलमण्ड का मध्यवर्ती प्रदेश) और एराकोशिया (कन्धार) भी सम्मिलित थे। लेकिन जब 43-44 ई. में टयाना के अपोलोनियस ने तक्षशिला की यात्रा की वह प्रदेश फ्राओटिज के अधिकार में था जो निश्चय ही पल्लव जातीय था। 'पेरिप्लस' (70-80) के लेखक ने भी पल्लवों के द्वारा इण्डोस्कीथिया (भारतीय शक-स्थान) की राजधानी-मिन-नगर पर पल्लवों के आधिपत्य का उल्लेख किया है। गोन्दोफर्निज सम्भवतः फ्राओटिज का स्वामी था। ऐसा प्रतीत होता है कि वह पहले पल्लव सम्राट् ओर्थेग्नीज वरेथ्रघ्न) का जो शपलरिष का उत्तराधिकारी रहा होगा, ड्रेन्जियाना में नियुक्त गवर्नर था। उसका एक सह-गवर्नर गुड या गुडन रहा प्रतीत होता है जिसका नाम ओर्थेग्नीज के कुछ सिक्कों पर भी मिलता है। लेकिन बाद में जब गोन्दोफर्निज स्वतंत्र हो गया तो गुड ने उसके अधीन शासन किया। उत्तर में गोन्दोफर्निज ने काबुल की घाटी से हरमाविज के, जो सम्भवतः अन्तिम यूनानी नरेश था, शासन का अन्त किया। इस संघर्ष में हरमाविज की सहायता शायद कुषाण नरेश कुजुल कडफिसिज ने की लेकिन तात्कालिक विजय पल्लवों को ही प्राप्त हुई। शायद इसलिए चेरेंक्स के इसीडोर ने प्रथम शती ई. के प्रारम्भ में पार्थियायी साम्राज्य के पूर्वी प्रांतों की सूची में काबुल को सम्मिलित नहीं किया था। गन्धार में उसने शकों के प्रभुत्व का अन्त करने में भी सफलता प्राप्त की। उसका पेशावर जिले में मर्दान के समीप स्थित तख्त-ए-बही स्थल से एक अभिलेख मिला है और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है टयाना के अपोलोनियस ने 43-44 ई. में तक्षशिला की यात्रा के समय वहां फ्राओटिज के शासन का उल्लेख किया है जो उस नगर में गोन्दोफर्निज का गवर्नर रहा होगा। उसके सिक्कों पर उसके सह शासकों और गवर्नरों के रूप में अब्दगेसिज (जो उसका भतीजा था लेकिन जिसने कभी स्वतंत्र रूप से शासन नहीं किया), सपेदन, सतवस्त्र, इन्द्रवर्मा के पुत्र अस्पवर्मा और अस्पवर्मा के भतीजे सस का उल्लेख मिलता है। इनमें अस्पवर्मा का नाम द्वितीय अजेज के, जिसको परास्त करके गोन्दोफर्निज ने गन्धार आदि प्रदेश जीते होंगे, सिक्के पर भी उल्लिखित है। दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार इस प्रकार परास्त कर दिये जाने पर द्वितीय अजेज ने कुषाणों की शरण ली जिन्होंने उसके नाम पर गन्धार से पल्लव के आधिपत्य का अन्त किया।

नोट

तख्त-ए-बही अभिलेख में, जो गोन्दोफर्निज के 26 वें वर्ष में लिखवाया गया था 103 तिथि (विक्रम सम्वत्) मिलती है। इसलिये गोन्दोफर्निज ने 21 से 46 ई. तक अवश्य शासन किया होगा। यह निष्कर्ष उस ईसाई परम्परा से संगत है जिसके अनुसार “भारत नरेश” गुद्नफर (सीरियायी संस्करण) अथवा गाउन्दोफोरोस (यूनानी संस्करण) के दरबार में सन्त टॉमस ईसा मसीह के बलिदान (29 या 33 ई.) के कुछ ही समय पश्चात् आये थे। इस राजा की पहचान तख्त-ए-बही अभिलेख गुदुह्वर अर्थात् गोन्दोफर्निज से अनायास की जा सकती है।

गोन्दोफर्निज का उत्तराधिकारी सम्भवतः पकारोस था, लेकिन वह बहुत अधिक समय तक शासन नहीं कर पाया होगा क्योंकि शीघ्र ही पल्लव साम्राज्य के अधिकांश भाग पर कुषाणों ने अधिकार कर लिया, यद्यपि शक और पल्लव जाति के कुछ स्वतन्त्र अथवा अर्ध-स्वतन्त्र छोटे-मोटे राजा, जिनके नाम सिक्कों से ज्ञात हैं इसके बाद भी यत्र-तत्र शासन करते रहे।

कुषाणों का इतिहास प्रारम्भ करने के पहले यहाँ शक-पल्लव युग के क्षत्रप राजवंशों की चर्चा करना आवश्यक है। ‘क्षत्रप’ शब्द ईरानी ‘क्षत्रव’ या छत्रप’ का संस्कृत रूपान्तर है।



क्या आप जानते हैं? क्षत्रप उपाधि का प्रयोग गवर्नरों के लिये किया जाता था, जो गवर्नर अधिक शक्तिशाली होते थे उनको ‘महाक्षत्रप’ उपाधि दी जाती थी और कोई व्यक्ति जो प्रायः उसका भाई या पुत्र होता था, ‘क्षत्रप’ उपाधि के साथ उसका सहशासक होता था।

कुछ क्षत्रप यूनानी उपाधि ‘स्ट्रेतेगा’ (= सेनापति) और मेरीडार्ख (= गवर्नर) से भी विभूषित मिलते हैं। शक-पल्लव युग के क्षत्रप वंशों में तक्षशिला और मथुरा के वंश विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। तक्षशिला प्रदेश के विभिन्न भागों में शासन करने वाले अस्पवर्मा (इन्द्रवर्मा का पुत्र), अस्प के भतीजे सस, सपेदन तथा सतवस्त्र का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। तक्षशिला के समीप चुक्ष प्रदेश में सम्वत् 78 (21 ई.) में मोग का क्षत्रप लियाक कुसूलक और उसका पुत्र महादानपति पतिक उल्लेखनीय है। एक अन्य तक्षशिला-अभिलेख में 191 (134 ई.) में शासन करने वाले चुक्ष प्रदेश के गवर्नर जुहुणिक का उल्लेख मिलता है। वह उस जियोनाइसिज का वंशज लगता है जो क्षत्रप मणिगुल का पुत्र था और जिसे मौद्रिक साक्ष्य के आधार पर द्वितीय अजेज का समकालीन माना जाता है। मथुरा के क्षत्रपों में सबसे महत्वपूर्ण थे महाक्षत्रप रान्जुवुल तथा उसका पुत्र क्षत्रप शोण्डास (जो बाद में महाक्षत्रप बना)। शोण्डास के एक मथुरा-अभिलेख से 72 तिथि (15 ई. ज्ञात है)। मथुरा सिंहशीर्ष-अभिलेख में एक महाक्षत्रप पतिक कुसूलक का उल्लेख भी मिलता है जिसकी तक्षशिला के महादानपति पतिक के साथ पहचान विवादग्रस्त है। रान्जुवुल को उसके सिक्कों पर खरोष्ठी लेख में अप्रतिहतचक्र कहा गया है और विकृत यूनानी लेख में “राजाओं का राजा, त्राता”। सिक्कों से ज्ञात क्षत्रप तरणडास सम्भवतः शोण्डास का पुत्र था। मथुरा अभिलेखों और सिक्कों से ज्ञात अन्य क्षत्रप हगान, हगामष, घटाक (जो क्षहरात वंश का था), शिवघोष और शिवदत्त थे। इनमें बहुतों ने कुषाण सम्राटों की अधीनता में शासन किया था।

पहली शती ई. से लेकर चौथी शती ई. के अन्त तक पश्चिमी भारत पर दो मुख्य शक क्षत्रप राजवंशों ने शासन किया। इनमें पहला था क्षहरात वंश जिसकी स्थापना सम्भवतः भूमक ने की थी। लेकिन इसे विशेष यश मिला भूमक के उत्तराधिकारी नहपान के शासन काल में, जिसका भूमक से सम्बन्ध अज्ञात है। नहपान के अभिलेखों में उसके लिये 41-46 वे वर्ष तक तिथियाँ दी गई हैं, लेकिन ये तिथियाँ शक-सम्वत् की हैं अथवा नहपान के शासनकाल का वर्ष है, यह अज्ञात है। अगर यह तिथियाँ शक-सम्वत् की हैं तो नहपान ने 119 से 124 ई. के मध्य अवश्य शासन किया होगा। नहपान के प्रारम्भिक अभिलेखों में उसे ‘क्षत्रप’ कहा गया है और 46 वें वर्ष वाले अभिलेख में महाक्षत्रप। उसके सिक्के उत्तर में अजमेर से लेकर दक्षिण में नासिक जिले तक मिले हैं और अभिलेख नासिक, कार्ले और जुन्नार से। उसके अभिलेखों से मालूम होता है कि उसके दामाद उषवदात (ऋषभदत्त) ने, जो अपने श्वसुर के दक्षिणी प्रान्तों का गवर्नर रहा प्रतीत होता है, कपूर आहार (भूतपूर्व बड़ौदा रियासत का कपूर नामक स्थान) प्रभास (दक्षिणी काठियावाड़), भृगुकच्छ, दशपुर (मन्दसौर), शूर्पारक (सोपारा), पुष्कर (अजमेर) आदि स्थानों में एवं तापी वर्णासा (वनास) पारादा (सूरत जिले में पार नाम की नदी), दमन (दमनगंगा नाम की नदी), दाहानुका (थाना जिले

नोट

में दाहानु नदी) आदि के तट पर दान दिया था। आजकल सभी विद्वान यह मानते हैं कि इनमें अधिकांश प्रदेश नहपान के अधीन रहे होंगे। गोवर्द्धन (नासिक) तथा मामाल (पूना) प्रदेशों को जिन पर उषवदात गवर्नर के रूप में शासन करता था, नहपान ने प्रतिष्ठान के सातवाहनों से छीने होंगे।

लेकिन, ऐसा प्रतीत होता है कि 124 ई. में अथवा इसके तत्काल बाद ही गौतमीपुत्र शातकर्णि ने क्षहरातों का उन्मूलन कर दिया क्योंकि उसके पुत्र पुलमावि के नासिक अभिलेख में उसे न केवल क्षहरात वंश का नाश करने वाला कहा गया है वरन् नासिक, पूना, सुराष्ट्र, कुकुर, अनूप, अपरान्त, आकर और अवन्ति आदि पर शासन करने का श्रेय भी दिया गया है। नहपान के सिक्कों की जोगलथम्बी से प्राप्त निधि, जिसके सिक्कों को गौतमी पुत्र ने पुनर्मुद्रित करवाया था, इसका अतिरिक्त प्रमाण है।

लेकिन क्षहरातों के विनाश से पश्चिमी भारत में शक शासन का अन्त नहीं हुआ। इस वंश का स्थान शीघ्र ही कार्दमक शकों ने ले लिया। कार्दमकों के क्षत्रप वंश की स्थापना चष्टन ने की थी। उसके वंश के अभिलेखों में शक-सम्बन्ध का प्रयोग मिलता है। चष्टन का 11वें वर्ष (80 ई.) का अन्धौ से एक अभिलेख मिला है जिससे प्रमाणित है कि वह कनिष्क के युग में सिन्धु प्रदेश का गवर्नर था। उसके 52 तिथि (130 ई.) के अन्धौ-अभिलेख में उसके सहशासक के रूप में उसके पौत्र प्रथम रुद्रदामा का उल्लेख है जिसके 72 वें वर्ष (150 ई.) के जूनागढ़-अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने कच्छ, स्वप्न, सौवीर, सिन्धु और निषाद आदि प्रदेशों के अलावा आकर, अवन्ति, अनूप, अपरान्त, सुराष्ट्र, आनर्त (द्वारका) आदि पर भी शासन किया था। ये प्रदेश उसने निश्चय ही गौतमीपुत्र या उसके उत्तराधिकारी से जीते होंगे। जूनागढ़-अभिलेख में उसने शातकर्णि को दो बार परास्त करने का दावा भी किया है। उसकी राजधानी उज्जैन नामक नगर थी। जूनागढ़-प्रशस्ति के अनुसार उसने 'महाक्षत्रप' विरुद्ध अपनी शक्ति से अर्जित किया था, मौर्य सम्राट, चन्द्रगुप्त के शासनकाल में निर्मित सुदर्शन झील का, जिसमें अशोक ने नहरें निकलवाई थीं, बाँध टूट जाने पर उसे जनता पर बिना कोई अतिरिक्त कर लगाये अपने खर्चे से फिर बनवाया था, अप्रतिम वीरों के रूप में विख्यात योद्धाओं को परास्त किया था और अनेक स्वयंवरों में राजकुमारियों को प्राप्त किया था। उसके उपरान्त उसके उत्तराधिकारी इस विशाल राज्य पर, जो यद्यपि धीरे-धीरे सिकुड़ता चला गया था, चौथी शती ई. के अन्त तक शासन करते रहे जब उनका उन्मूलन गुप्त सम्राट द्वितीय चन्द्रगुप्त ने किया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

- मद्रदेश में शाकल नाम का है और आपगा नाम की नदी बहती है।
 (क) गाँव (ख) बाजार
 (ग) नगर (घ) मंदिर
- वशिष्ठ को में गणिका पुत्र कहा गया है।
 (क) रामायण (ख) महाभारत
 (ग) उपनिषद् (घ) मनुस्मृति
- कहा जाता है मिनेण्डर की मृत्योपरान्त उसकी के लिए सात नगरों में संघर्ष हुआ था।
 (क) अस्थि (ख) शव
 (ग) भस्म (घ) उपर्युक्त सभी
- भारतीय धर्मों का प्रभाव केवल यूनानी शासकवर्ग पर ही नहीं वरन् यूनानियों पर भी पड़ा।
 (क) अधिकारी वर्ग (ख) निम्न वर्ग
 (ग) सामान्य (घ) कुलीन

नोट

3.4 शक-पल्लव राज्यों में धर्म की भूमिका (Role of Religion in Shak-Pahlava States)

यवनों के समान शकों और पल्लवों की राजनीतिक सफलता भारतीयों के लिये एक चुनौती थी, लेकिन भारत के लोग राजनीतिक स्तर पर इस चुनौती का सामना पूरी तरह नहीं कर पाये—अंशतः तत्कालीन युग में विघटनशील प्रवृत्तियों की सबलता के कारण और अंशतः उत्तर-पश्चिम से विदेशी जातियों का दबाव बराबर बढ़ते रहने के कारण। लेकिन सांस्कृतिक क्षेत्र में भारत शकों और पल्लवों से बहुत आगे था और भारतीय धर्म यूनानियों के समान इन जातियों का भी भारतीयकरण करने में समर्थ था और उसने यही किया भी। इस दृष्टि से इस युग में धर्म की भारतीय राजनीतिक जीवन में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका रही क्योंकि इन जातियों पर अगर भारतीय धर्म का प्रभाव न पड़ा होता और उनको लगभग पूरी तरह से भारतीय न बना दिया गया होता तो उनका राजनीतिक इतिहास सर्वथा भिन्न होता। उस अवस्था में हो सकता था कि वे पश्चिमी भारत पर लगभग 400 ई. तक शासन न कर पाते और अगर शासन करते भी तो भारतीय राजाओं के साथ उनके वैसे घनिष्ठ सम्बन्ध न हो पाते जैसे हमें इस युग में मिलते हैं।

शकों और पल्लवों के भारतीयकरण में बौद्ध धर्म का जबरदस्त योगदान रहा। शक-पल्लव वंशों के अनेक राजाओं, जैसे, माविज, शपलहोर तथा शपलरिष के सिक्कों पर उनको 'धर्मियस' (धार्मिक) कहा गया है। जैसा कि कहा जा चुका है, यह विरुद्ध बौद्ध धर्म के साथ सम्बन्धित था। इन राजाओं के कुछ सिक्कों पर चक्र (= धर्मचक्र) के अंकन से भी इस अनुमान का समर्थन होता है। मथुरा के क्षत्रप वंश के सिंहशीर्ष-अभिलेख में महाक्षत्रप राज्ञुवुल की पत्नी नदसिकस द्वारा एक बौद्ध स्तूप बनवाये जाने का और उसके परिवार के अबुहोल, हथौर, हन आदि सदस्यों के अनेक दानकार्यों का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार तक्षशिला के क्षत्रप लिआक कुसूलक के पुत्र पतिक ने बुद्ध के अवशेषों पर एक स्तूप बनवाया था और उसके लिये भूमि दान दी थी। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि उत्तर भारत के शक-पल्लव राजाओं ने अधिकांशतः बौद्ध धर्म स्वीकार किया था और राज्य की आय का एक बहुत बड़ा भाग बौद्ध धर्म के अभ्युत्थान के लिये प्रयुक्त किया था।

जिस तरह मथुरा और तक्षशिला के शक क्षत्रपों ने बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय समाज में प्रवेश किया और भारतीय राजनीतिक जीवन में स्थान पाया उसी तरह पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपों ने प्रधानतः हिन्दू धर्म और सम्प्रदायों की शरण ली। पश्चिमी भारत के क्षहरात क्षत्रपों के अभिलेख नासिक, कार्ले और जुन्नार से उपलब्ध हैं। इनसे मालूम होता है कि महाक्षत्रप नहपान के दामाद का नाम उषवदात (संस्कृत ऋषभदत्त) था और नहपान की पुत्री का दक्षमित्रा। ये स्पष्टतः हिन्दू नाम हैं यद्यपि उषवदात को अभिलेखों में शकजातीय बताया गया है। स्पष्ट है कि जिस तरह उत्तर भारत के शक क्षत्रप इन्द्रवर्मा तथा शिवघोष, शिवदत्त, शिवसेन आदि हिन्दू नाम धारण कर रहे थे उसी तरह क्षहरात शक भी हिन्दू नाम धारण करने लगे थे। लेकिन क्षहरातों पर हिन्दू धर्म की छाप और भी अधिक गहरी है। क्षहरात अभिलेखों में अनेकत्र "त्रिगोशत सहस्रदेन" (तीन लाख गोओं का दान करने वाला) कहा गया है। उसने देवताओं और ब्राह्मणों को 16 गांव दान दिये थे। वह प्रतिवर्ष एक लाख ब्राह्मणों को भोजन करवाता था। प्रभास तीर्थ में उसने 8 ब्राह्मणों का विवाह करवाया था। किसी भी हिन्दू नरेश के समान उसने पुष्कर तीर्थ की यात्रा करके और वहां के पुनीत जल में स्नान करके अपने को धन्य समझा था। उसने अनेक गुफाएँ बनवाकर बौद्ध संघ को दान दी थीं। अगर उसके अभिलेखों में उसे स्पष्टतः शक जाति में उत्पन्न दीनीक का पुत्र न कहा जाता तो उसकी विदेशी उत्पत्ति का अनुमान तक न हो पाता।

पश्चिमी भारत में क्षहरातों के उपरान्त सत्ता स्थापित करने वाले कार्दत्मक वंश के क्षत्रप नरेशों ने हिन्दू धर्म को और भी अधिक उत्साहपूर्वक स्वीकार किया। इस वंश का संस्थापक चष्टन का पिता सामोतिक था। ये दोनों ही नाम प्रकृत्या विदेशी हैं लेकिन उसके बाद शासन करने वाले राजाओं के नाम, जिनकी संख्या 20 से अधिक थी, अधिकांशतः हिन्दू हैं। उदाहरण के लिए, चष्टन के पुत्र और पौत्र के नाम जयदामा और रुद्रदामा थे जिनका पहला भाग निश्चय ही भारतीय है यद्यपि दूसरे भाग 'दामन' को 'शपलगदमिज' जैसे विदेशी नामों के अन्तिम भाग 'दमिज' का संस्कृत रूपान्तर माना जा सकता है। प्रथम रुद्रदामा का कितना जबरदस्त भारतीयकरण हुआ था इसका पता उसके जूनागढ़ अभिलेख से चलता है जिसमें बताया गया है कि उसने शब्दशास्त्र, अर्थशास्त्र, गन्धर्वविद्या (संगीत शास्त्र),

नोट

न्यायशास्त्र आदि महान् विद्याओं के पारण, धारण विज्ञान तथा प्रयोग के द्वारा विपुल कीर्ति अर्जित की थी। स्पष्टतः उसने हिन्दू शास्त्रों का भली-भांति अध्ययन किया था। उसने अपना अभिलेख विशुद्ध संस्कृत भाषा में लिखवाया और इस तरह इस भाषा को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करके इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ किया। इसके पूर्व संस्कृत भाषा में लिखित कुछ लघु अभिलेख ही मिलते हैं। यह स्वयं 'स्फुट लघु मधुर चित्र कांत शब्द समयोदारालंकृत गद्य पद्य काव्य' के विधान में प्रवीण कहा गया है। उसका यह वर्णन प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के साहित्य प्रेम का स्मरण दिलवाने वाला है। उसने आनर्त और सुराष्ट्र के परिपालन के लिए कुलैप के पुत्र पल्लव जातीय सुविशाख को नियुक्त किया था जिसे अर्थ, धर्म, व्यवहार और दर्शन में प्रेम के कारण बढ़ी हुई शक्तिवाला तथा 'आर्य' कहा गया है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि दूसरी शताब्दी ई. के मध्य शक और पल्लवजातीय व्यक्ति अपने को पूर्णरूपेण 'आर्य' बताने लगे थे। उनके इस दावे को स्वयं सातवाहनों ने भी, रुद्रदामा की पुत्री को वाशिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णि की पत्नी रूप में स्वीकार करके, कम-से-कम परोक्ष रूप से स्वीकार किया। जूनागढ़ लेख में उसे स्वयंवरों में अनेक राजकुमारियों को प्राप्त करने वाला कहा ही गया है। दक्षिण के इक्ष्वाकु राजाओं ने भी शक राजकुमारियों को पत्नी के रूप में स्वीकार किया। इक्ष्वाकु अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस वंश के राजा वीरपुरुषदत्त की रानी उज्जैनराज की पुत्री रुद्रधर भट्टारिका थी और वीरपुरुषदत्त के पुत्र एहवुल शान्तमूल की पत्नी किसी महाक्षत्रप की पुत्री। यहाँ यह स्मरणीय है कि सातवाहन ब्राह्मण होने का दावा करते थे और इक्ष्वाकु सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। इसलिये उनके साथ शकों का विवाह सम्बन्ध शकों के भारतीयकरण से सम्बन्धित अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य हैं। एक नागार्जुनीकोण्ड स्तम्भ लेख में तो, जो वाशिष्ठीपुत्र रुद्रपुरुषदत्त के शासनकाल के 24 वें वर्ष का है, उसकी माता और एहवुल शान्तमूल की महादेवी वर्मभटा को महाक्षत्रप की पुत्री और 'बृहत्फल' गोत्र में उत्पन्न कहा गया है। स्पष्ट है कि तीसरी शताब्दी ई. के अन्त या चौथी शती ई. के प्रारम्भ में, जब यह लेख लिखवाया गया, शकों को बृहत्फलगोत्रीय माना जाता था। कहना व्यर्थ है कि अगर शकों का भारतीयकरण न हुआ होता और उनको इस प्रकार से बहुत से व्यक्ति हिन्दू समाज का अंग न मान लेते तो विशुद्ध भारतीय नरेशों के साथ उनके इस प्रकार विवाह सम्बन्ध स्थापित न हो पाते और उस अवस्था में उनके राजनीतिक इतिहास की धारा बहुत कुछ भिन्न होती। यहाँ हमारा आशय यह नहीं है कि इस समय तक शकों को पूरी तरह हिन्दू समाज का अंग मान लिया गया था। उनमें निश्चय ही अब भी विदेशी तत्व विद्यमान थे। वह अपने को बराबर शकजातीय बताते थे और अपनी जातिगत संस्कृति को पूरी तरह नहीं छोड़ पा रहे थे। स्वयं उपर्युक्त नागार्जुनीकोण्ड-अभिलेख में, जिसमें वर्मभटा का उल्लेख है, वर्मभटा की प्रतिमा अंकित करते समय उसे उदीच्य वेश भूषा में ही दिखाया गया है।

शक राजाओं के समान शक जन भी धीरे-धीरे हिन्दू समाज का अंग बने। नासिक से प्राप्त एक अभिलेख में दशपुर के निवासी लेखक वुधिक के द्वारा एक गुफा और दो जलकुण्ड दान देने का उल्लेख है। वुधिक नाम संस्कृत नाम वृद्धिक का प्राकृत रूपान्तर है। उसका पिता विष्णुदत्त का नाम भी विशुद्ध हिन्दू है। अगर इसमें उसे स्पष्टतः शकवंशोत्पन्न न कहा गया होता तो उसका विदेशी होना ही अज्ञात रह जाता। इसी प्रकार ईश्वरसेन आभीर के शासनकाल के एक अभिलेख में शकवंशोत्पन्न अग्निवर्मा की पुत्री विष्णुदत्ता का उल्लेख मिलता है, जो गणपक रेमिल की पत्नी थी और अपने पति-कुल में 'शकानिका' कही जाती थी। वह बौद्ध धर्म की उपासिका कही गई है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि स्वयं उसका और उसके पिता का नाम विशुद्ध भारतीय है। इतना ही नहीं उसके पिता के नाम में क्षत्रियों में प्रयुक्त होने वाला 'वर्मा' शब्द भी प्रयुक्त है।

शकों के साथ जिन विदेशी जातियों का भारतीयकरण हुआ उनमें आभीरों का नाम, जिनके वंशज आजकल अहीर कहलाते हैं, प्रमुख है। आभीरों को अब अधिकांश विद्वान विदेशी मानते हैं। 'महाभारत' और 'विष्णु पुराण' में उनको 'म्लेच्छ' और 'दस्यु' कहा गया है। उनका घनिष्ठ सम्बन्ध शकों से प्रतीत होता है। वे जहाँ-जहाँ बसे उस प्रदेश को अपना नाम दिया। उनका एक उपनिवेश उत्तर प्रदेश में था जो उनके नाम पर आभीरवाटक (आधुनिक अहरौरा) कहलाया। दूसरा उपनिवेश मध्य प्रदेश में झांसी के समीप था जो आजकल 'अहीरवाड़ा' कहलाता है। उनका तीसरा उपनिवेश दक्षिणी राजस्थान में था जिसको 'क्लासिकल' लेखकों ने 'अबीरिया' नाम से पुकारा है। इसके अलावा आभीरों ने दक्षिणापथ के पश्चिमी भाग में तथा स्वयं आन्ध्र प्रदेश में कुछ समय के लिए शासन किया था, ऐसा दूसरी-तीसरी शती ई. के लेखों से स्पष्ट है। पुराणों के अनुसार भी दक्षिण पर आन्ध्रभृत्यों के पश्चात आभीरों ने शासन

नोट

किया। ऊपर शकानिका विष्णुदत्त का उल्लेख करने वाले जिस अभिलेख की चर्चा की गई है वह आभीरजातीय शिवदत्त के पुत्र माठरीपुत्र ईश्वरसेन का है। इन नामों से स्पष्ट है कि इन आभीरों का पर्याप्त भारतीयकरण हो चुका था। काठियावाड़ के गुन्दा स्थल से प्राप्त 180 ई. के एक अन्य अभिलेख में, जो महाक्षत्रप रुद्रसिंह के शासनकाल का है, आभीर सेनापति वाहक के पुत्र सेनापति रुद्रभूमि का उल्लेख मिलता है। ये दोनों नाम भी स्पष्टतः हिन्दू हैं। आन्ध्र पर शासन करने वाले आभीर महाक्षत्रप वसुषेण (278 ई.) भी नाम से पूर्णतः हिन्दू प्रतीत होता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें।

(State whether the following statements are True/False)–

9. शकों की एक शाखा ता-हिया से पूर्वी ईरान होते हुए भारत आई थी।
10. गोंदोफर्निज का उत्तराधिकारी शपलरिष था।
11. क्षहरातों के विनाश से पश्चिमी भारत में शक शासन का अंत हो गया।
12. शक राजाओं के समान शक जन भी धीरे-धीरे हिन्दू समाज का अंग बन गए।

3.5 कुषाण साम्राज्य का इतिहास (History of Kushana Empire)

शकों और पल्लवों के उपरान्त उत्तरापथ को जीतने में सफलता प्राप्त की कुषाणों ने। वह पहली विदेशी जाति थी जिसने भारत में विशाल साम्राज्य स्थापित किया। यह जाति मूलतः युएः ची जाति का एक कबीला थी। चीनी इतिहास ग्रन्थों से ज्ञात होता कि युएः ची लोग दूसरी शताब्दी ई.पू. के प्रारम्भ में तुंग-हुवांग तथा तिएयशान के मध्यवर्ती प्रदेश में निवास करते थे जो चीनी तुर्कीस्थान में पड़ता था। वहाँ से उनको 165 ई.पू. के लगभग ह्युंगनु नाम की जाति ने खदेड़ दिया। वहाँ से वे पश्चिम की ओर बढ़कर तकलामकान रेगिस्तान के उत्तर से होते हुए इली नदी की घाटी में बसने वाली वु-सुन जाति पर टूट पड़े। इसके बाद आगे पश्चिम की ओर बढ़ने पर उनका एक भाग, जो लघु युएः ची कहलाया, तिब्बत की ओर चला गया और बड़ा भाग, जो ता-युएःची अर्थात् महा युएः ची नाम से प्रसिद्ध हुआ; सायर नदी के उत्तरी तट (कुछ ग्रन्थों के अनुसार उत्तरी और दक्षिणी दोनों तटों) पर बसी हुई साह (= शक) जाति को परास्त करके उस प्रदेश में बस गया। इस प्रकार परास्त हो जाने पर शकों को भारत और ईरान की ओर बढ़ जाना पड़ा, जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। लेकिन युएः ची लोग स्वयं शक प्रदेश में दीर्घकाल तक नहीं रह सके और ह्युंग-नु तथा वु-सुन के सम्मिलित आक्रमण के कारण ता-हिया की ओर (जहाँ इस बीच में शक जाति बस गई थी) बढ़ने के लिए मजबूर हो गए। ता-हिया की पहचान बलख से की जाती है यद्यपि उसमें वंशु नदी (आक्सस) के उत्तर का भी कुछ भाग सम्मिलित रहा होगा क्योंकि युएः ची ने यहाँ बसने के बाद, अपनी राजधानी वंशु के उत्तर में स्थापित की थी। चीनी राजदूत चांग-किएन ने 125 ई.पू. में युएः ची की इस राजधानी की यात्रा की थी।

युएः ची जाति का चांग-किएन की यात्रा के बाद इतिहास पान-कु के ग्रन्थ 'प्रथम हानवंश', जिसमें 24 ई. तक की घटनाएँ वर्णित हैं, तथा फान-ये के ग्रन्थ 'परवर्ती हान वंश का इतिहास' जिसमें 25 ई. से 220 ई. तक की घटनाएँ वर्णित हैं, ज्ञात होता है। इनके सम्मिलित साक्ष्य से मालूम होता है कि चांग-किएन की यात्रा के उपरान्त युएः ची जाति पाँच कबीलों (या राज्यों) में विभाजित हो गई थी। इसमें एक नाम कुई-शुआंग था। कालान्तर में यही कुषाण नाम से विख्यात हुई। इस विभाजन के "सौ वर्ष से कुछ अधिक बाद" में युएः ची जाति को कुई-शुआंग या कुषाण कबीले के यबौ (= मुद्रालेखों का यवुग = सरदार) ने अपने नेतृत्व में पुनः संगठित किया। तब से वह 'वांग' या 'राजा' कहलाया। चीन के इतिहास-ग्रन्थों में इस कुषाण नरेश का नाम क्योई-त्ज्यो-कोई दिया गया है। उसकी पहचान निर्विवाद रूप से मुद्राओं व अभिलेखों से ज्ञात कुजुल कडफिसिज से की जाती है और उसके पुत्र येन काओ-चेन की विम कडफिसिज से।

नोट

मुद्राओं और अभिलेखों से ज्ञात कुषाण नरेशों को स्थूलतः दो वर्गों में बांटा जा सकता है। प्रथम कडफिसिज वर्ग जिसमें उपर्युक्त दोनों नरेश (जो चीनी इतिहास-ग्रन्थों के अनुसार पिता-पुत्र थे) परिगणित होते हैं और दूसरा कनिष्क वर्ग जिसमें प्रथम कनिष्क और उसके उत्तराधिकारी (जो क्रमशः वर्द्धमान संस्थाओं की तिथियों के प्रयोग के द्वारा परस्पर सम्बन्धित हैं)। इनमें कुजुल कडफिसिज ने सिन्धु के पार वाले प्रदेश जीते, विम ने पहली बार सिन्धु प्रदेश (तिएन-चू) में कुषाण सत्ता स्थापित की और प्रथम कनिष्क ने कुषाण राज्य को साम्राज्य का रूप दिया। कुजुल के कुछ सिक्कों के पुरोभाग पर हरमाविज का नाम मिलता है और पृष्ठभाग पर स्वयं कुजुल का। सरकार का अनुमान है कि कुजुल कडफिसिज ने अपना जीवन हरमाविज के प्रभुत्व में शुरू किया था जब कि अन्य कुछ विद्वान इन दोनों के बीच में कुछ समय का अन्तर मानते हैं। उसके पुत्र विम कडफिसिज ने सिन्धु या भारतीय प्रदेश पर विजय प्राप्त की। अनुमान किया जाता है कि उसने पल्लवों को परास्त करके गन्धार को जीता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके पास शक महाराजाधिराज द्वितीय अजेज ने शरण ली थी और उसी के नाम पर उसने ये विजयें प्राप्त की थीं। इसीलिये सम्वत् 122 के पन्जतार-अभिलेख, 136 के तक्षशिला-अभिलेख तथा 134 के कालवान-अभिलेख में किसी भी कुषाण नरेश का उसके नाम से उल्लेख नहीं है जबकि तक्षशिला और कालवान अभिलेख द्वितीय अजेज का 'अय' नाम से उल्लेख करते हैं और पन्जतार-तथा तक्षशिला-अभिलेख कुषाण शासक का नाम दिये बिना। सरकार के अनुसार इन अभिलेखों से स्पष्ट है कि उस समय तक कुषाणों की राजनीतिक स्थिति पूर्णतः स्पष्ट नहीं थी। जो भी हो, सम्वत् 136 (79 ई.) के तक्षशिला-अभिलेख से इतना निश्चित है कि इस तिथि तक कुषाणों की सत्ता गन्धार पर स्थापित हो चुकी थी। यह सफलता विम कडफिसिज ने ही प्राप्त की होगी जैसा की चीनी इतिहास-ग्रन्थों से और तक्षशिला से प्राप्त एक मुद्रा-निधि से, जिसमें केवल गोन्दोफर्निज, पकारोस और विम के सिक्के मिलते हैं, स्पष्ट है।

जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, कुजुल ने कुषाणों के नेतृत्व में संयुक्त युएः ची राज्य की स्थापना 125 ई.पू. से 'सौ वर्ष से भी अधिक बाद में' अर्थात् 25 ई.पू. के उपरान्त की थी। वह स्वयं 80 वर्ष से अधिक की आयु में मरा था इसलिये उसके पुत्र विम का शासन प्रथम शती ई. के तृतीय पाद के बहुत पहले नहीं पड़ सकता और क्योंकि गन्धार प्रदेश पर गोन्दोफर्निज का अधिकार 46 ई. तक निश्चय ही था, इसलिये विम का गन्धार प्रदेश पर शासन लगभग 50 ई. के उपरान्त रखना अनिवार्य है। इससे स्पष्ट होता है कि 65 ई. के पन्जतार-अभिलेख और 79 ई. के तक्षशिला-अभिलेख में उल्लिखित कुषाण नरेश, जिनका नाम नहीं दिया गया है, स्वयं विम कडफिसिज हो सकता है। सम्भवतः उसी ने "महरजस रजदिरजस महतस त्रतरस" लेख के साथ वे सिक्के जारी किये थे जिन पर उनके चलाने वाले राजा का नाम नहीं दिया गया है, यद्यपि यह सम्भावना पूर्णतः विस्मृत नहीं की जा सकती कि इन सिक्कों को चलाने वाला राजा, जो किसी अन्य नाम के अभाव में इस पर लिखित यूनानी लेख के कारण आजकल 'सोटर मेगस' कहलाता है, विम का कोई अधीन या सह-शासक रहा हो।

विम कडफिसिज के तत्काल बाद या कुछ ही समय उपरान्त प्रथम कनिष्क ने कुषाण राज्य पर अधिकार कर लिया। उसकी तिथि भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं विवादग्रस्त समस्या है। हमें इस समस्या पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल इतना ध्यान दिला देना पर्याप्त होगा कि कनिष्क को किसी भी अवस्था में प्रथम शताब्दी ई. के अन्तिम पाद के प्रारम्भ के पूर्व नहीं रखा जा सकता। दूसरी ओर कुषाण मुद्रानिधियों की बनावट और विम तथा कनिष्क के सिक्कों के सादृश्य से निश्चित है कि कनिष्क को विम के बहुत बाद में भी नहीं रखा जा सकता। इसलिये कनिष्क ने प्रथम शती ई. के अन्तिम पाद में भी नहीं रखा जा सकता। इसलिये कनिष्क ने प्रथम शती ई. के अन्तिम पाद में कभी शासन करना प्रारम्भ किया होगा। अब हम जानते हैं कि वह एक सम्वत् का प्रवर्तक था और इस युग में प्रारम्भ होने वाला एक मात्र सम्वत् शक-सम्वत् है जिसका प्रथम वर्ष 78 ई. है। इसीलिये अधिकांश विद्वान कनिष्क का राज्यारोहण 78 ई. में मानते हैं और उसे शक-सम्वत् का प्रवर्तक बतलाते हैं।

प्रथम कनिष्क का विम कडफिसिज के साथ सम्बन्ध अज्ञात है। यह सर्वथा सम्भव है कि वह कुषाणों के किसी भिन्न परिवार का सदस्य रहा हो। उसके प्रारम्भिक अभिलेख उत्तर-प्रदेश में मिले हैं, इसलिये हो सकता है उसने उत्तर प्रदेश में अपना राजनीतिक जीवन प्रारम्भ किया हो। उस अवस्था में 79 ई. में अर्थात् कनिष्क के राज्यारोहण के एक

नोट

वर्ष बाद भी, तक्षशिला में विम अथवा किसी अन्य कुषाण नरेश का शासन बोधगम्य हो जाता है। जो भी रहा हो, कनिष्क एक महान विजेता प्रमाणित हुआ। उसने जो साम्राज्य स्थापित किया वह पूर्व में बिहार से लेकर पश्चिम में खुरासान तक और उत्तर में खोतन से लेकर दक्षिण में कोंकण तक विस्तृत था। उसके अपने अभिलेख उत्तर-प्रदेश, पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त और सिन्ध के उत्तर में बहावलपुर से प्राप्त हुए हैं। उसके महाक्षत्रप खरपल्लान तथा क्षत्रप वनस्फर पूर्वी उत्तर-प्रदेश पर शासन करते थे और महादण्डनायक लल और क्षत्रप वेशपशि जैसे पदाधिकारी पश्चिमोत्तर प्रदेशों पर। उसके निकट उत्तराधिकारियों के अभिलेख सांची से प्राप्त हुए हैं एवं पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपों को जो सिन्ध, मालवा, राजपूताना, काठियावाड़ और कोंकण पर राज्य करते थे, सामान्यतः उसके अधीन माना जाता है। चीनी और तिब्बती ग्रन्थों के अनुसार उसने साकेत और पाटलिपुत्र पर सफल आक्रमण किया था और सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान अश्वघोष को अपने साथ ले गया था। बंगाल और उड़ीसा से कुषाण सिक्कों की भारी संख्या में उपलब्धि और नेपाल में शक-सम्बत के प्रचलन को कुछ विद्वान इन प्रदेशों पर कुषाण आधिपत्य का प्रमाण मानते हैं। 'राजतरंगिणी' और कुछ बौद्ध ग्रन्थों में उसका कश्मीर पर अधिकार बताया गया है। श्वान-च्वांग के अनुसार कनिष्क का अधिकार गन्धार पर ही नहीं त्जुंग-लिंग पर्वत के पूर्व में स्थित समस्त प्रदेश पर था और दो चीनी राजकुमार उसके पास बन्धक के रूप में रहते थे।

अपनी वृद्धावस्था में कनिष्क ने सम्भवतः चीनी प्रभाव का अन्त करने के लिये मध्य एशिया पर आक्रमण किया जिसमें वह असफल रहा। चीनी इतिहासग्रन्थों के अनुसार भी पान-चाओ नामक सेनापति ने सम्राट् हो-ती (89-105 ई.) के शासनकाल में युए: ची नरेश को परास्त करके उसे सम्राट् को कर देने के लिए मजबूर किया था। कुछ विद्वानों ने इस युए: ची नरेश की पहचान विम से की है। लेकिन यह सम्भव नहीं लगता।

कल्हण की 'राजतरंगिणी' में कश्मीर पर तुरूष्क जाति के तीन राजाओं हुष्क (सम्भवतः हुविष्क), जुष्क, (सम्भवतः वासिष्क = वासिष्क) तथा कनिष्क के संयुक्त शासन का उल्लेख मिलता है जिन्होंने हुष्कपुर, जुष्कपुर और कनिष्कपुर नगर बसाये थे तथा अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण करवाया था। जुष्क को अतिरिक्त रूप से जयस्वामिपुर के निर्माण का श्रेय भी दिया गया है। यहाँ यह रोचक तथ्य है कि आभिलेखिक साक्ष्य के अनुसार भी वासिष्क (ज्ञात तिथियाँ 24-28) के अन्तिम ज्ञात वर्ष के अभिलेख में प्रदत्त तिथि हुविष्क (ज्ञात तिथियाँ 28-60 अथवा 68) के पहले ज्ञात वर्ष की तिथि के बाद में पड़ती है। जिससे प्रमाणित है कि कुछ समय के लिये दोनों ने साथ-साथ शासन किया था। इसी प्रकार 41वें वर्ष के आरा-अभिलेख के कनिष्क का समय हुविष्क के शासनकाल के मध्य पड़ता है तथा हुविष्क के उत्तराधिकारी प्रथम वासुदेव (ज्ञात तिथियाँ 67-98) के शासन के प्रारम्भिक वर्ष हुविष्क के शासन के अन्तर्गत पड़ सकते हैं। आरा-अभिलेख का कनिष्क सम्भवतः वासिष्क का पुत्र था। कनिष्क नाम के राजा का सुखकोतल (अफगानिस्तान) से भी एक अभिलेख मिला है। यह कनिष्क आरा-लेख का कनिष्क नहीं हो सकता क्योंकि इस लेख में उसे कुजष्क का पुत्र बताया गया है जबकि आरा-लेख का कनिष्क सम्भवतः वासिष्क का पुत्र था। उस अवस्था में सुख-कोतल लेख का कनिष्क या तो प्रथम कनिष्क रहा होगा अथवा इस नाम का अन्य कोई नरेश। जो भी हो, इतना निश्चित है कि प्रथम कनिष्क के उत्तराधिकारी उसके विशाल साम्राज्य पर कम से कम 176 ई. तक अवश्य शासन करते रहे क्योंकि उसके अन्तिम ज्ञात उत्तराधिकारी प्रथम वासुदेव की अन्तिम ज्ञात तिथि 98 (176 ई.) है।

प्रथम वासुदेव की मृत्यु के उपरान्त कुषाण साम्राज्य का तीव्रता के साथ विघटन हुआ। इसका प्रमुख कारण भारत में मघ, नाग और यौधेय आदि स्वदेशी शक्तियों का उदय, पश्चिम में ईरान के सासानी सम्राटों के आक्रमण और उत्तर में मध्य एशिया से बर्बर जातियों के दबाव में वृद्धि था। मध्य एशिया की वह बर्बर जाति, जिसने कुषाणों के लिये संकट उपस्थित किया, रोमन इतिहासकारों द्वारा चिओनाइट कही गई है तथा चीनी इतिहास-ग्रन्थों में ह्युंग-नु तथा जुआन-जुआन। पारिस्थितिक साक्ष्य से स्पष्ट है कि यही जाति इतिहास में हेफ्थेलाइट या श्वेतहूण नाम से विख्यात हुई। इन सब शक्तियों के दबाव के कारण चौथी शती ई. के मध्य कुषाणों को बैक्ट्रिया छोड़कर गन्धार में बसना पड़ा। यह कार्य उन्होंने किदार नामक राजा के नेतृत्व में किया इसलिये किदार और उसके वंशज 'किदार कुषाण' कहलाते हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में जिस 'देवपुत्रषाहि षाहानुषाहि' का उल्लेख है उनकी पहचान किदार कुषाण और तत्कालीन ईरानी सम्राट से की जा सकती है।

3.6 सारांश (Summary)

नोट

- भारत के इतिहास में दूसरी शताब्दी ई.पू. से लेकर तीसरी शती ई. तक का इतिहास अनेक दृष्टि से अनूठा है। इस युग में भारत में एक के बाद एक अनेक विदेशी जातियों का आगमन हुआ जिसके कारण न केवल देश के बहुत से भू-प्रदेशों को विदेशी आधिपत्य का कड़वा फल चखना पड़ा।
- भारत पर यूनानियों के आक्रमण परवर्ती मौर्य युग में ही प्रारम्भ हो गये थे और शुंगवंशीय नरेशों को इन विदेशियों के विरुद्ध बहुत संघर्ष करना पड़ा था।
- यूनानी जाति, जो भारतीय इतिहास में यवन नाम से विख्यात हुई, अधिक सभ्य और सुसंस्कृत थी। फिर भी भारतीय धर्म और संस्कृति की दृष्टि से वह विदेशी थी और उसकी परम्पराएँ तथा सामाजिक आचार-विचार भारतीयों से भिन्न और भारतीय दृष्टि से निन्द्य थे।
- जिस समय भारत में यूनानी नरेश अपनी शक्ति बढ़ाने की चेष्टा में लगे थे मध्य एशिया में जबरदस्त प्रजातीय उथल-पुथल हुई। इस उथल-पुथल का ज्ञान हमें चीनी और क्लासिकल लेखकों के ग्रन्थों से होता है।
- यवनों के समान शकों और पल्लवों की राजनीतिक सफलता भारतीयों के लिये एक चुनौती थी, लेकिन भारत के लोग राजनीतिक स्तर पर इस चुनौती का सामना पूरी तरह नहीं कर पाये—लेकिन सांस्कृतिक क्षेत्र में भारत शकों और पल्लवों से बहुत आगे था और भारतीय धर्म यूनानियों के समान इन जातियों का भी भारतीयकरण करने में समर्थ था और उसने यही किया भी।
- शकों के साथ जिन विदेशी जातियों का भारतीयकरण हुआ उनमें आभीरों का नाम, जिनके वंशज आजकल अहीर कहलाते हैं, प्रमुख है।
- शकों और पल्लवों के उपरान्त उत्तरापथ को जीतने में सफलता प्राप्त की कुषाणों ने। वह पहली विदेशी जाति थे जिसने भारत में विशाल साम्राज्य स्थापित किया।

3.7 शब्दकोश (Keywords)

- **अभिलेख**—प्राचीन समय की घटनाओं का लिखित संग्रह।
- **क्षत्रप**—शक-पल्लव युग में क्षत्रप उपाधि गवर्नर को प्रदान की जाती थी।
- **भारतीयकरण**—विदेशियों को भारतीय संस्कृति में ढालना या विदेशियों द्वारा भारतीय संस्कृति अपनाना।

3.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. भारतीय-यूनानी राज्यों के इतिहास का वर्णन करें।
2. यूनानियों के भारतीयकरण में धर्म की भूमिका की विवेचना करें।
3. भारतीय धर्मशास्त्र के अनुसार यवनों अर्थात् यूनानियों के रहन-सहन एवं आचार का वर्णन करें।
4. शक-पल्लव राज्य के इतिहास का वर्णन करें।
5. शक-पल्लव राज्यों में धर्म की भूमिका पर प्रकाश डालें।

अथवा

शक-पल्लवों के भारतीयकरण में धर्म की भूमिका पर प्रकाश डालें।

6. कुषाण साम्राज्य के इतिहास का वर्णन करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. कनिष्क
2. पुष्यमित्र
3. युक्रैटाइडिज
4. बैक्ट्रिया

नोट

- | | | | |
|------------|----------------|-------------|----------------|
| 5. (ग) नगर | 6. (ख) महाभारत | 7. (ग) भस्म | 8. (ग) सामान्य |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. असत्य | 12. सत्य। |

3.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
2. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
3. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
4. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
5. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
6. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
7. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-4: राज्य व्यवस्था 300 ई. से 600 ई. तक (Politics from 3rd A.D. to 6th A.D.)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 4.1 ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान (Revival of Brahmana Dharma)
- 4.2 गुप्त वंश : ब्राह्मण पुनरुत्थान की देन
(Gupta Dynasty : Contribution of Revival of Brahmana)
- 4.3 प्रारंभिक गुप्त इतिहास पर धर्म का प्रभाव
(Religion Effects on Earlier Gupta's History)
- 4.4 समुद्रगुप्त की दिग्विजय, प्रशासकीय व्यवस्था और नीतियों पर धर्म का प्रभाव
(Effects of Religion on Rules and Administration System, Widespread Conquest of Samudragupta)
- 4.5 रामगुप्त (Ramagupta)
- 4.6 द्वितीय चन्द्रगुप्त का धार्मिक आदर्श (Religious Ideal of Chandragupta II)
- 4.7 शकों का उन्मूलन और उसमें धर्म की भूमिका
(Abolishing of Shakas and Role of Religion)
- 4.8 प्रथम कुमारगुप्त : धर्म सहिष्णुता की नीति (Kumaragupta I : Policy of Secularism)
- 4.9 कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी (Successor of Kumaragupta)
- 4.10 स्कन्दगुप्त और उसकी धार्मिक नीति (Skandagupta and his Religious Policy)
- 4.11 गुप्त साम्राज्य की अवनति में धर्म की भूमिका
(Role of Religion in Decline of Gupta Empire)
- 4.12 हूणों का आक्रमण और उनका धार्मिक दृष्टिकोण
(Attack of Huna and their Religious View)
- 4.13 गुप्त-हूण संघर्ष पर धर्म का प्रभाव (Effects of Religion on Gupta-Huna Conflicts)
- 4.14 सारांश (Summary)
- 4.15 शब्दकोश (Keywords)
- 4.16 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 4.17 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

नोट

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान में गुप्तवंश की देन को समझने में;
- प्रारंभिक गुप्त इतिहास पर धर्म के प्रभाव को समझने में;
- द्वितीय चन्द्रगुप्त के धार्मिक आदर्श एवं शकों के उन्मूलन को जानने में;
- प्रथम कुमारगुप्त, उसके उत्तराधिकारी एवं स्कन्दगुप्त को जानने में;
- गुप्त साम्राज्य की अवनति एवं गुप्त-हूण संघर्ष में धर्म की भूमिका को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

कुषाण साम्राज्य के विघटन के उपरान्त उत्तर भारत में अनेक लघु राज्यों का उदय हुआ जिनमें कुछ गणाधीन थे और कुछ राजाधीन। राजाधीन राज्यों में सबसे शक्तिशाली भारशिव-नाग राज्य था जिसकी राजधानी पद्मावती थी। नागों की शक्ति के अन्य केन्द्र मथुरा, विदिशा, अहिच्छत्रा और कान्तिपुरी थे। इन नाग राज्यों का विस्तृत इतिहास ज्ञात नहीं है लेकिन पुराणों, अभिलेखों और सिक्कों के सम्मिलित साक्ष्य से ज्ञात होता है कि गुप्तों के द्वारा साम्राज्य स्थापन के पूर्व कम से कम मथुरा और पद्मावती पर नागों की कई पीढ़ियाँ शासन कर चुकी थीं और पद्मावती के भारशिव-नागों ने दस अश्वमेध करके अपनी महत्ता की घोषणा की थी। उनके पड़ोस में स्थित कौशाम्बी का मगध राज्य और अयोध्या का 'मित्र' राज्य भी काफी शक्तिशाली थे। इन राजाधीन राज्यों के पूर्व में लिच्छवि राज्य था। लिच्छवि जाति ने सम्भवतः मुरुण्डों को परास्त करके मगध पर भी अधिकार कर लिया था। गुप्तों के आविर्भाव के समय लिच्छवि जाति पूर्वी भारत की एक श्रद्धेय शक्ति थी। नाग राज्यों के पश्चिम में अर्थात् आधुनिक पंजाब और राजस्थान में मालव, आर्जुनायन, यौधेय तथा मद्रक आदि गणराज्य थे और दक्षिण में सांची प्रदेश के निकट काक, खरपरिक, सनकानीक, प्रार्जुन आदि लघु गणजातियों का निवास था, जो परिस्थिति के अनुसार नागों अथवा विदर्भ के वाकाटकों का आधिपत्य मानती रहती होंगी। उत्तर में नेपाल इस समय लिच्छवियों के द्वारा शासित था और पश्चिमोत्तर दिशा में कुषाण अपनी बची हुई शक्ति बनाये रखने का प्रयास कर रहे थे। लेकिन कुषाणों को मध्य एशिया की बर्बर जातियों, ईरान के सासानी सम्राटों और पंजाब में निवास करने वाली शाक, शीलद और गडहर आदि स्थानीय जातियों के दबाव के कारण अपनी स्थिति यथावत् बनाये रखना कठिन हो रहा था। पश्चिम का शक राज्य अवनतिशील था और शक क्षत्रपों की प्रतिष्ठा इस समय तक वह नहीं रह गई थी जो दूसरी शताब्दी ई० में थी। इसके अलावा उत्तर भारत में इस समय अन्य अनेक लघु राज्य थे। इस प्रकार समस्त उत्तर भारत इस युग में लगभग उसी स्थिति से गुजर रहा था जो हमने छठी शताब्दी ईसा पूर्व में देखी थी—अर्थात् किसी साम्राज्यिक सत्ता का पूर्णतः अभाव, देश का छोटा परस्पर संघर्षरत गणाधीन तथा राजाधीन राज्यों में विभाजन और पश्चिमोत्तर दिशा में ईरान के आक्रमण का भय। स्थिति की इस स्थूल समानता का परिणाम भी स्थूलतः समान ही हुआ और उत्तर भारत में पुनः एक साम्राज्यिक शक्ति का उदय हुआ जिसने मौर्य युग की सफलताओं की पुनरावृत्ति ही नहीं वरन् अनेक क्षेत्रों में मौर्यों की उपलब्धियों को फीका कर दिया।

4.1 ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान (Revival of Brahmana Dharma)

एक अन्य दृष्टि से प्राक्-मौर्य और प्राक्-गुप्तयुगीन स्थितियों में मूलभूत अन्तर था। अ० स० अल्लेकर के शब्दों में, “उपलब्ध साक्ष्य से प्रतीत होता है कि वैदिक यज्ञ उतने लोकप्रिय कभी नहीं रहे जितने तीसरी और चौथी शताब्दियों में हिन्दू धर्म का पुनर्जागरण होने पर हुए।” लेकिन जैसा कि डा० श्रीराम गोयल ने प्रदर्शित किया है इस युग के धार्मिक पुनर्जागरण की मुख्य विशेषता वैदिक यज्ञ धर्म और भक्तिपरक पौराणिक हिन्दू धर्म में समन्वय थी। इन दोनों प्रवृत्तियों में अन्ततोगत्वा पौराणिक धर्म को प्रधानता प्राप्त हुई। भारशिव-नागों ने दस अश्वमेध किये थे लेकिन वे

नोट

अपने शरीर पर निरन्तर शिवलिंग भी धारण करते थे। इसी प्रकार वाकाटक सम्राट् प्रथम प्रवरसेन ने बृहस्पतिसव, अतिरात्र, अश्वमेध, अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, उक्थ्य आदि अनेक वैदिक यज्ञ किये थे, लेकिन उसका उत्तराधिकारी प्रथम रुद्रसेन शिव का भक्त था और प्रथम रुद्रसेन का पौत्र द्वितीय रुद्रसेन भगवान् चत्रपाणि का। स्वयं गुप्त सम्राटों में से बहुत से उत्साही अश्वमेधयाज्ञी थे (यथा समुद्रगुप्त एवं प्रथम कुमार गुप्त) लेकिन इसके साथ ही स्वयं को 'परमभागवत' भी कहते थे, लेकिन इन दोनों प्रवृत्तियों में धीरे-धीरे पौराणिक धार्मिक धारा की लोकप्रियता बढ़ती गई। विभिन्न स्थलों से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री से इसका समर्थन होता है। जैसा कि डा० विशम्भरशरण पाठक ने ध्यान दिलाया है बसाढ, भीटा, नालन्दा और राजघाट की खुदाई में मन्दिरों से सम्बन्धित तीसरी चौथी शताब्दी की मुहरें उपलब्ध हुई हैं जो पूर्व-मध्यकाल तक मिलती रही हैं, लेकिन चरण मुहरें गुप्तकाल के बाद मिलनी यकायक बन्द हो जाती हैं जिससे स्पष्ट है कि वैदिक यज्ञ धर्म के स्थान पर मन्दिरों की लोकप्रियता बढ़ती जा रही थी।



नोट्स मौर्य साम्राज्य कई दृष्टि से बौद्ध धर्म के विकास और प्रचार से उत्पन्न परिस्थितियों का परिणाम था, लेकिन गुप्त साम्राज्य का आविर्भाव ब्राह्मण धर्म पुनरुत्थान के साथ सम्बन्धित था।

ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के कई रोचक पक्ष थे जिनका तत्कालीन राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा। एक, जैसा कि डॉ० गोयल ने ध्यान दिलाया है यह पुनर्जागरण प्रकृत्या राष्ट्रीय था। इसका प्रधान कारण विदेशी आक्रमणकारियों के द्वारा, जिन्होंने मौर्यों के बाद गुप्तों से पूर्व भारतीय राजनीति को बहुत कुछ अनुशासित किया था, अवैदिक धर्मों को संरक्षण दिया जाना था। यह तथ्य मौर्य और गुप्त साम्राज्यों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है। मौर्य साम्राज्य ने, जिसका विकास अवैदिक धर्मों की लोकप्रियता के वातावरण में हुआ था, आसानी से साखामनीषी और 'हेलेनिस्टिक' परम्पराओं को आत्मसात कर लिया। मौर्य साम्राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था, मौर्यकला तथा मौर्यों की अन्य सांस्कृतिक उपलब्धियों में ईरानी-यूनानी प्रभाव प्रायः स्वीकार किया जाता है। इसके विपरीत गुप्त साम्राज्य प्रकृत्या पूर्णतः भारतीय था। "अगर मौर्य प्रशासकीय व्यवस्था में केन्द्रीकरण..... की प्रवृत्ति भारतीय प्रशासकीय परम्परा के विपरीत थी तो गुप्त प्रशासन पूर्णतः हिन्दू राजादशों के अनुकूल था।" इसी प्रकार गुप्तकालीन कला भी स्वदेशी भारतीय कला के चर्मोत्कर्ष की प्रतीक थी और मौर्यकालीन कला के समान उस पर ईरानी कला परम्परा का प्रभाव नहीं मिलता। यहाँ तक कि गुप्तकालीन मूर्तिकला भी विदेशी प्रभाव से मुक्त थी। **स्मिथ** के शब्दों में, सारनाथ की गुप्तकालीन बुद्ध प्रतिमा स्वदेशी भारतीय कला प्रतिमा के सर्वाधिक विकसित रूप का प्रतिनिधित्व करती है। गुप्त सम्राटों के द्वारा संरक्षित संस्कृति के राष्ट्रीय आदर्शों की ओर उन्मुख होने का सबलतम संकेत उनके सिक्कों से मिलता है, जैसा कि गोयल ने ध्यान दिलाया है जिस समय गुप्त साम्राज्य की स्थापना हुई कुषाण वेश-भूषा-लम्बा कोट, पतलून और नुकीली टोपी-उच्चवर्गीय हिन्दू पुरुष समाज में उसी प्रकार प्रचलित थी जिस प्रकार आधुनिक काल में भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी पुरुष समाज में योरोपीय वेश-भूषा प्रचलित है। यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त कुमारदेवी प्रकार के सिक्कों पर भी, जो संभवतः उनके विवाह की स्मृति में जारी किये गये थे, गुप्त सम्राट को कुषाण वेष-भूषा में दिखाया गया है। पवित्र वेदी में बलि देने के दृश्य में भी सम्राट को यही विदेशी वेश-भूषा धारण किये दिखाया गया है। प्रारम्भिक सिक्कों के पृष्ठभाग पर उत्कीर्ण देवी भी एकदम आरदोक्षो के प्रतिरूप समान अंकित की गई है लेकिन धीरे-धीरे गुप्त संस्कृत पर कुषाण संस्कृति का प्रभाव घटता गया और सिक्कों पर राजाओं को अधिकाधिक स्वदेशी वेश-भूषा में और देवी को दुर्गा या लक्ष्मी के रूप में दिखाया जाने लगा। इसीलिए अल्तेकर का यह कथन उचित ही है कि गुप्तों के मुद्रा-प्रकारों में अधिकांश पूर्णतः राष्ट्रीय है। गोयल के शब्दों में इस दृष्टि से देखने पर गुप्त सम्राटों के सिक्के तत्कालीन सांस्कृतिक पुनर्जागरण और इसकी राष्ट्रीय प्रकृति की सचित्र टीकाएँ प्रतीत होते हैं।

ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान प्रकृत्या राष्ट्रीय होने के अतिरिक्त एकीकरण की प्रवृत्ति को सबल करने वाली एक महान शक्ति भी सिद्ध हुआ। बौद्ध धर्म ने मौर्य साम्राज्य के युग में राष्ट्रीय एकता में योगदान देने के बाद यूनानी और शक आदि विदेशी राजाओं का संरक्षण पाकर कुछ ऐसी भूमिका अदा की थी जिससे देश में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों को बल मिला था। लेकिन कुषाणोत्तर काल में ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान होने पर केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति सबलतर और 'विश्वजनीन-साम्राज्य' अर्थात् चक्रवर्ती साम्राज्य की (जिसमें समस्त भारत सम्मिलित माना जाता था), कल्पना

नोट

स्पष्टतर होने लगी। 'वायुपुराण' में कहा गया है कि चक्रवर्ती नरेश विष्णु का अवतार होते हैं और वे हर युग में अवतरित होते हैं। वे भूतकाल में भी पैदा हुए थे और भविष्य में भी पैदा होंगे। कुछ ही शताब्दियों उपरान्त इस आदर्श को मेघातिथि ने इस रूप में रखा, "एक सदाचारी विजेता म्लेच्छ देश को भी जीत सकता है, यहाँ चातुर्वर्ण्य स्थापित कर सकता है और म्लेच्छों को चाण्डालों का स्थान प्रदान करके उनके प्रदेश को यज्ञधर्म के लिए आर्यावर्त के समान योग्य बना सकता है।" गुप्त वंश के कम से कम प्रारम्भिक सम्राट सम्भवतः ऐसी ही विचारधारा से प्रभावित थे।

4.2 गुप्त वंश : ब्राह्मण पुनरुत्थान की देन

(Gupta Dynasty : Contribution of Revival of Brahmana)

अगर गुप्त साम्राज्य उस अर्थ में ब्राह्मण पुनर्जागरण की देन था जिस अर्थ में नन्द-मौर्य साम्राज्य मगध की अवैदिक सांस्कृतिक परम्पराओं की देन रहा था, तो यह तथ्य बड़ा रोचक होगा कि जो प्रदेश ब्राह्मण पुनर्जागरण का केन्द्र था उसी में गुप्त वंश का उदय हुआ। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं मगध शुरू से ही अवैदिक संस्कृति का क्रीडास्थल था और परिणामस्वरूप वहाँ क्षत्रिय नरेशों को बलि देने की योजना बनाने वाले जरासंध, सर्वक्षत्रान्तक महापद्मनन्द और शूद्रों को राजा बनाने वाले विश्वफणि आदि नरेशों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने उस चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पर ही कुठाराघात किया जिस पर आर्यों का समाज आधारित था। यह भी स्मरणीय है कि इस प्रदेश में प्रारम्भ से ही बौद्ध, जैन और आजीवक सम्प्रदाय विशेषतः लोकप्रिय रहे थे। इसी प्रकार पश्चिमोत्तर प्रदेश में मौर्योत्तर युग से ही यवन, शक और कुषाण आदि विदेशी जातियों की प्रधानता थी जिन्होंने बौद्ध और जैन सम्प्रदायों को विशेषतः बौद्ध धर्म को—संरक्षण प्रदान किया था। इसके विपरीत गंगा की उपरली घाटी अर्थात् आधुनिक उत्तर प्रदेश केवल आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण एक साम्राज्य का हृदय-स्थल हो सकता था वरन् यह मौर्योत्तर युग से ही ब्राह्मण धर्म और संस्कृति का गढ़ बन गया था। इसलिये यह स्वाभाविक था कि जब बौद्ध धर्म को प्रश्रय देने वाले विदेशी कुषाणों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई तो अयोध्या, प्रयाग, वाराणसी, मथुरा इत्यादि नगरों में वैदिक और पौराणिक धर्मों की लोकप्रियता बढ़ती और ये शक्तिशाली राज्यों का केन्द्र बन जाते। इसीलिए वे शक्तिशाली भारशिव-नाग जिन्होंने भागीरथी के पुनीत जल से अपना अभिषेक करवाया था और जिन्होंने दस अश्वमेधों का सम्पादन करने के उपरान्त अवभृथ स्नान किया था एवं वे गुप्त नरेश जिन्होंने अश्वमेध करके चक्रवर्ती आदर्श को मूर्तरूप प्रदान किया, इसी प्रदेश के मूल निवासी थे। दूसरे शब्दों में तीसरी-चौथी शताब्दी ई० में साम्राज्य-स्थापन का गम्भीरतम प्रयास करने वाले इन दोनों राजवंशों का उदय गंगा की उपरली घाटी में होने का प्रधान कारण—अन्य कारणों के अतिरिक्त—इस प्रदेश का ब्राह्मण संस्कृति के पुनरुत्थान का प्रमुख केन्द्र होना था। इस प्रकार हमारे इस अध्ययन से प्रमाणित होता है कि गुप्त सम्राट जो ब्राह्मण पुनरुत्थान के निर्माता माने जाते हैं, इस आन्दोलन के नेता ही नहीं अनेक अर्थ में स्वयं भी इस आन्दोलन की देन थे।

गुप्तों के आदिराज्य की स्थिति का प्रश्न गुप्त इतिहास का एक अत्यन्त विवादग्रस्त विषय रहा है। आजकल सामान्यतः स्वीकृत मतानुसार गुप्त नरेश मूलतः मगध के निवासी थे। यद्यपि कुछ विद्वान् जैसे मजूमदार, गंगोली एवं चट्टोपाध्याय उनके आदिराज्य की स्थिति बंगाल में सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं। इसके विपरीत डॉ० श्रीराम गोयल ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गुप्तों का उदय पूर्वी उत्तर प्रदेश में हुआ था और उनकी शक्ति का आदि केन्द्र प्रयाग नगर था। अगर गुप्त साम्राज्य के अभ्युत्थान का कुछ भी सम्बन्ध ब्राह्मण संस्कृति के पुनरुत्थान के साथ था तो उपर्युक्त मतों में डॉ० गोयल का सुभाव ही सही होना चाहिये। गोयल के सुझाव से तत्कालीन राजनीतिक विकास से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण घटना—साम्राज्यिक वंश की उत्पत्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध तत्कालीन धार्मिक वातावरण के साथ होना प्रमाणित होता है। इसीलिये हम इस समस्या पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

गुप्तादिराज्य को मगध में मानने वाले विद्वानों ने कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये हैं। इस सम्बन्ध में वे केवल चीनी यात्री ई-चिंग के साक्ष्य को प्रस्तुत करते हैं। ई-चिंग नामक चीनी यात्री सातवीं शती ई० में भारत आया था। उसने अपने ग्रन्थ 'क्यू-फा-को-साँग-चुआन' में लिखा है कि 'उसके समय से 500 वर्ष पूर्व' शी-ली-कि-तो नामक राजा ने मी-ली-क्या-सी-क्या-पो-नो के समीप चीनी यात्रियों की सुविधा के हेतु एक मन्दिर बनवाया था तथा उसके खर्च

नोट

के लिए चौबीस गाँव दान में दिए थे। स्मिथ, एलन, गंगोली, जगन्नाथ, मुकजी आदि विद्वानों ने शी-ली-कि-तो की पहचान प्रथम गुप्त नरेश श्री गुप्त से करके गुप्तादिराज्य की स्थिति निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु फ्लीट का कथन है कि गुप्तवंश के आदिराज का नाम गुप्त था जबकि ई-चिंग द्वारा वर्णित शासक श्रीगुप्त कहलाता था। दूसरे, ई-चिंग ने जिस श्रीगुप्त का उल्लेख किया है उसका समय उसी के अनुसार 175 ई० होना चाहिए जबकि प्रथम गुप्त नरेश ने तृतीय शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में शासन किया था। फ्लीट की दोनों आपत्तियों का उत्तर एलन ने दिया है। उनके अनुसार ई-चिंग के श्रीगुप्त के नाम में 'श्री' शब्द को उसके नाम का अभिन्न अंग मानना जरूरी नहीं है। दूसरे, ई-चिंग ने उसका समय सुनी हुई बातों के आधार पर बताया था। एलन के अनुसार, यह बात बिल्कुल असम्भव है कि एक ही नाम के दो राजाओं ने लगभग एक ही समय एक ही प्रदेश पर शासन किया हो। एलन का यह तर्क सही नहीं है क्योंकि इतिहास में एक ही नाम वाले राजाओं के एक ही प्रदेश पर कुछ ही वर्षों के अन्तर से शासन करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं जैसे प्रथम कुमारगुप्त (415-454 ई०), द्वितीय कुमारगुप्त (473 ई०) तथा तृतीय कुमारगुप्त (लगभग 535 ई०), एवं प्रथम चन्द्रगुप्त (319-लगभग 350 ई०) और द्वितीय चन्द्रगुप्त (376-लगभग 415 ई०)। गोयल ने एलन आदि विद्वानों की आलोचना करते हुए सही ही लिखा है—“ये विद्वान पहले तो चे-ली-कि-तो और महाराज गुप्त को अभिन्न सिद्ध करने के लिए यह मान लेते हैं कि उन्होंने एक ही प्रदेश पर राज्य किया और तदुपरान्त चे-ली-कि-तो के राज्य की स्थिति निर्धारित करके महाराज गुप्त के राज्य की स्थिति निर्धारित करते हैं, लेकिन हमारा उद्देश्य अगर महाराज गुप्त के राज्य की स्थिति जानना है तो हम यह मानकर कैसे चल सकते हैं कि महाराज गुप्त ने उसी प्रदेश पर राज्य किया था जिस पर चे-लि-कि-तो ने ? वस्तुतः हमें पहले महाराज गुप्त के राज्य की स्थिति निर्धारित करनी चाहिए और फिर यह दिखाना चाहिये कि चे-लि-कि-तो ने जिस स्थान पर मन्दिर बनवाया था वहाँ महाराज गुप्त ने भी राज्य किया था।” वह आगे लिखते हैं कि “ई-चिंग के साक्ष्य का अध्ययन करते समय जो तथ्य हमें सबसे विचित्र प्रतीत होता है वह है इसके आधार पर विद्वानों का यह विश्वास कि गुप्तादिराज्य मगध में था। चे-लि-कि-तो ने चीनी यात्रियों के लिए मन्दिर या तो सारनाथ में बनवाया था अथवा पश्चिमी बंगाल में। इनमें पहला विकल्प अधिक विश्वसनीय है। अब अगर तर्क के लिए यह मान कर भी चला जाए कि चे-लि-कि-तो और महाराज गुप्त अभिन्न थे तब भी इससे इतना ही निष्कर्ष निकलेगा कि गुप्तादिराज्य या तो पूर्वी उत्तर प्रदेश में था अथवा बंगाल में। यह सही है कि चे-लि-कि-तो चीनी यात्रियों से बोधगया में मिला था परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसका अधिकार मगध पर भी था।”

गुप्तवंश के आदिराज्य विषयक समस्या पर डॉ० गोयल ने आधुनिक पुरातात्विक सामग्री के आधार पर विचार किया है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह राज्य पूर्वी उत्तर प्रदेश में था। उनके अनुसार किसी भी राजवंश के प्राचीनतम अभिलेख और सिक्के प्रायः उसी क्षेत्र में पाये जाते हैं जहाँ उसके प्रारम्भिक नरेशों का आधिपत्य रहा था। इस दृष्टि से यदि गुप्तवंशीय अभिलेखों तथा मुद्राओं का अध्ययन किया जाए तो गुप्तादिराज्य की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रकाश मिलता है और ज्ञात होता है कि गुप्तों की शक्ति का प्राचीनतम केन्द्र प्रयाग नगर था। इस सम्बन्ध में गोयल ने कई ठोस प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। एक, प्रथम गुप्त नरेश प्रथम चन्द्रगुप्त की मुद्राएँ पूर्वी उत्तर प्रदेश के आयोध्या, लखनऊ, सीतापुर, टांडा, गाजीपुर और बनारस आदि स्थानों पर मिली हैं। इस क्षेत्र के बाहर ये केवल मथुरा और बयाना से मिली हैं। गुप्त सुवर्ण मुद्राओं की निधियाँ भी पूर्वी उत्तर प्रदेश में ही अधिक मिली हैं। बंगाल व बिहार से प्राप्त 2-2 निधियों की तुलना में पूर्वी उत्तर प्रदेश से उपलब्ध 14 निधियाँ स्पष्टतः अत्यधिक मानी जाएगीं। दूसरे, इन निधियों में प्राप्त सिक्कों के विश्लेषण से भी स्पष्ट है पूर्वी उत्तर प्रदेश से प्राप्त निधियों में प्रारम्भिक नरेशों की मुद्राएँ अपेक्षतया अधिक हैं। इससे भी प्रारम्भिक गुप्त नरेशों का पूर्वी उत्तर प्रदेश के साथ अधिक गहरा और प्राचीनतम सम्बन्ध होने का संकेत मिलता है। तीसरे, गुप्तों के प्रारम्भिक अभिलेख भी अधिकतर पूर्वी उत्तर प्रदेश में ही प्राप्त हुए हैं। स्कन्दगुप्त की मृत्यु होने तक व्यतीत होने वाले करीब डेढ़ सौ वर्षों के कुल पन्द्रह अभिलेख पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार व बंगाल में मिले हैं। उनमें से आठ अभिलेख पूर्वी उत्तर प्रदेश से प्राप्त हुए हैं। दो बिहार से और पांच बंगाल से। इनमें बिहार से प्राप्त दोनों अभिलेखों (समुद्रगुप्त के नालन्दा व गया-दानशासन) की विश्वसनीयता के बारे में विद्वानों को शंका है। बंगाल से प्राप्त पांच अभिलेख भी दानशासन ही हैं। इनसे गुप्तों के बंगाल पर आधिपत्य मात्र का प्रमाण मिलता है, यह सिद्ध नहीं होता कि गुप्तों का उदय बंगाल में ही हुआ था। इसके

नोट

विपरीत पूर्वी उत्तर प्रदेश में प्राप्त आठ अभिलेखों से गुप्तों का पूर्वी उत्तर प्रदेश से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट होता है। इनमें भित्ति-अभिलेख एक प्रतिष्ठा-दानशासन हैं। समुद्रगुप्त की प्रयोग-प्रशस्ति के, जो गुप्तों का सबसे महत्वपूर्ण अभिलेख है और एक विशुद्ध प्रशस्ति है, प्राप्ति स्थल से समुद्रगुप्त का प्रयाग से विशेष सम्बन्ध संकेतित होता है। चौथे, गोयल के मत की पुष्टि पुराणों के साक्ष्य से भी होती है। 'वायुपुराण' में कहा गया है कि 'गुप्तवंशीय नरेश अनुगंगा प्रयाग, साकेत और मगधों को भोगेंगे' अधिकांश विद्वान इससे प्रथम चन्द्रगुप्त के साम्राज्य विस्तार का वर्णन मानते हैं। विष्णुपुराण में गुप्त साम्राज्य का वर्णन थोड़ा भिन्न है। उसमें कहा गया है, 'अनुगंगा प्रयाग मागधागुप्ताश्चभोक्ष्यन्ति'। मजूमदार ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है, "प्रयाग तक विस्तृत गंगा के तटवर्ती प्रदेश को मागध और गुप्त भोगेंगे।" गोयल के अनुसार इस कथन का तात्पर्य यह हुआ कि पूर्वी उत्तर प्रदेश प्रयाग तक विस्तृत प्रदेश व मगध पर गुप्तों तथा मागधों का संयुक्त शासन था। इन मागधों की पहचान अनायास लिच्छवियों से की जा सकती है जिनके साथ गुप्तों के संयुक्त रूप से शासन करने का ज्ञान अन्य साक्ष्य से भी होता है। इससे एक ओर यह प्रमाणित होता है कि गुप्त मगधवासी नहीं थे और दूसरी ओर संकेत मिलता है कि उनका राज्य प्रयाग के आसपास था। यह निष्कर्ष डॉ० गोयल के इस मत से भी संगत है कि गुप्त सम्राट धर्मारण्य (मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश) के आसपास रहने वाले धारणगोत्रीय ब्राह्मण थे।

गुप्तों के आदिराज्य की स्थिति के समान उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न भी अत्यन्त विवादग्रस्त रहा है। गुप्तों के अभिलेखों से इस विषय में हमें कोई सूचना प्राप्त नहीं होती लेकिन द्वितीय चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता ने, जो वाकाटक नरेश द्वितीय रुद्रसेन की पत्नी थी, सूचना दी है कि वह धारण गोत्र में उत्पन्न हुई थी। जब चूँकि उसके पति का गोत्र विष्णुवृद्ध था इसलिये उसके धारणसगोत्रा होने से यही तात्पर्य हो सकता है कि उसके पितृकुल अर्थात् गुप्तवंश का गोत्र धारण था। इस आधार पर रायचौधरी गुप्तों को शुंग सम्राट अग्निमित्र की रानी धारिणी का वंशज मानते हैं। लेकिन यह अनुमान विशुद्ध कल्पना है। एलन ने चन्द्रगुप्त मौर्य को शूद्र मानते हुए इसी नाम के प्रथम गुप्त नरेश को शूद्र माना है। लेकिन अब चन्द्रगुप्त मौर्य का क्षत्रिय होना सिद्ध-सा माना जाता है। कुछ विद्वानों का आग्रह है कि क्योंकि 'विष्णुपुराण' के अनुसार गुप्त नाम वैश्य वर्ण के लोग धारण करते थे। इसलिए गुप्त सम्राट वैश्य रहे होंगे, लेकिन इस नियम का अनुकरण सदैव नहीं होता था। हम जानते हैं कि प्राचीन भारत में ब्राह्मण भी गुप्त नाम का प्रयोग करते थे।



उदाहरण विष्णुगुप्त कौटिल्य व खगोलवेत्ता ब्रह्मगुप्त ब्राह्मण ही थे।

काशीप्रसाद जायसवाल ने 'कौमुदी-महोत्सव' के आधार पर गुप्तों को निम्नकुल का माना है। लेकिन यह मत भी आजकल नहीं माना जाता। अब यह बात निर्विवाद है कि 'कौमुदी-महोत्सव' का गुप्त इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है। आजकल अधिकतर विद्वान मानते हैं कि गुप्त सम्राट क्षत्रियजातीय थे। इस मत के प्रमुख प्रतिपादक गौरीशंकर हीराचन्द ओझा थे। ओझा के मत का समर्थन उपाध्याय, मेहता, चट्टोपाध्याय आदि विद्वानों ने किया है। उनकी मान्यता का मुख्य आधार है प्रथम चन्द्रगुप्त का लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से और द्वितीय चन्द्रगुप्त का नाम राजकुमारी कुबेरनागा से विवाह। इसके अलावा उन्होंने मध्य प्रदेश के एक गुप्त वंशीय राजा महाशिवगुप्त की सिरपुर-प्रशस्ति का उल्लेख भी किया है जिसमें उसे चन्द्रवंशीय कहा गया है। इसी प्रकार पंचोभ (बिहार) ताम्रपत्र में कुछ गुप्तनामान्त राजाओं का विवरण दिया है जो स्वयं को अर्जुन का वंशज मानते थे। लेकिन 'गुप्त' नाम धारण करने के कारण अथवा उनके विवाह सम्बन्धों का आधार मानकर गुप्तों को निर्विवाद रूप से क्षत्रिय मान लेना उचित नहीं है। ध्यान रखना चाहिए कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक राजा द्वितीय रुद्रसेन से किया था और तालगुण्ड-अभिलेख के अनुसार ब्राह्मण कदम्ब काकुत्स्थ वर्मा ने अपनी पुत्री का विवाह किसी गुप्त राजा या कुमार से। इनमें ब्राह्मण कदम्बों का अपनी लड़की गुप्तों का देना गुप्तों को ब्राह्मण प्रमाणित करता है। अतः हम डॉ० गोयल के इस मत से सहमत हैं कि गुप्त सम्राट ब्राह्मणजातीय थे। उन्होंने यह भी ध्यान दिलाया है कि प्रभावती गुप्ता के पुना-व रिथपुर-दानपत्रानुसार वह धारण गोत्रोत्पन्ना थी अर्थात् गुप्त सम्राट धारण गोत्र के थे और 'स्कन्दपुराण' में धर्मारण्य (पूर्वी उत्तर प्रदेश का मिर्जापुर खण्ड) प्रदेश के धारणगोत्रीय ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता

नोट

है। इस प्रसंग में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि स्वयं गुप्त सम्राटों ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक नरेश द्वितीय रुद्रसेन से किया था। इसी प्रकार परमार्थ ने अपने ग्रन्थ 'वसुबन्धु की जीवनी' में उल्लेख किया है कि बालादित्य नामक गुप्त सम्राट ने अपनी बहिन का विवाह वसुरात नामक ब्राह्मण से किया था। इन साक्ष्यों से अब इस बात में शंका की संभावना नहीं रह जाती कि गुप्त नरेश ब्राह्मणवंशीय ही थे। अपने स्वर्गवास के पूर्व डॉ० राजबली पाण्डेय ने भी डॉ० गोयल के इस सुझाव को मान लिया था।

गुप्तों का ब्राह्मणजातीय होना हमारे अध्ययन की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे यह प्रमाणित होता है कि तीसरी-चौथी शती ई० के धार्मिक पुनर्जागरण के कारण न केवल गंगा की उपरली घाटी में उद्भूत होने वाले एक वंश को साम्राज्य-स्थापना में सफलता मिली वरन् इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक शक्ति, जो कुषाण काल में ब्राह्मणों के हाथ से निकल गई थी, पुनः उनके हाथ में आ गई। जैसाकि हम पीछे देख चुके हैं, मौर्योत्तर युग में 'राज्य-संगठन के विभिन्न अंगों पर ब्राह्मणों की प्रभुसत्ता स्थापित हो गई थी। लेकिन कुषाण काल में इस प्रवृत्ति को धक्का पहुँचा। तीसरी-चौथी शती ई० के धार्मिक पुनर्जागरण ने, जिसका सम्बन्ध शक और कुषाण जातियों के प्रभुत्व के साथ था, ब्राह्मण धर्म को नई जीवन शक्ति देने के साथ ब्राह्मणों की राजनीतिक स्थिति को भी सबल किया। उत्तर भारत में ब्राह्मणजातीय गुप्तवंश का और दक्षिण में वाकाटक एवं कदम्ब आदि वंशों का, जो निश्चय ही ब्राह्मण थे, उदय होना इसी पृष्ठभूमि में बोधगम्य हो सकता है। उपर्युक्त वंशों के अलावा कामरूप का वर्मा वंश, बघेलखण्ड का परिव्राजक और एरिकिण प्रदेश का 'विष्णु' वंश (पाँचवीं-छठी ई०) एवं दक्षिण के पल्लव तथा अन्यान्य अनेक राजवंश कम से कम मूलतः ब्राह्मण वर्ण से सम्बन्धित थे चाहे इनमें से कुछ को बाद में क्षत्रिय मान लिया गया हो। यह तथ्य गुप्तकालीन राजनीतिक स्थिति पर धर्म के प्रभाव का एक अच्छा उदाहरण है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. गुप्तों के आविर्भाव के समय जाति पूर्वी भारत की एक श्रद्धेय शक्ति थी।
2. भारशिव नागों ने दस यज्ञ किये थे।
3. वायुपुराण में कहा गया है कि चक्रवर्ती नरेश के अवतार होते हैं।
4. गुप्त साम्राज्य को ब्राह्मण पुनरुत्थान का माना जाता है।

4.3 प्रारम्भिक गुप्त इतिहास पर धर्म का प्रभाव (Religion Effects on Earlier Gupta's History)

गुप्तवंश का प्रारम्भिक इतिहास मुख्यतः प्रयाग-प्रशस्ति एवं अन्य गुप्त लेखों में प्रदत्त वंशावली से ज्ञात होता है। इससे मालूम होता है कि इस वंश का प्रथम नरेश गुप्त (लग० 295-300) एवं उसका पुत्र घटोत्कच (लग० 303-319) केवल 'महाराज' थे जब कि घटोत्कच के पुत्र प्रथम चन्द्रगुप्त (319 से लग० 350 ई०) ने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। घटोत्कच ने अपने पुत्र का विवाह लिच्छवि कुमारी कुमारदेवी के साथ किया। यह विवाह-सम्बन्ध अनेक कारणों से अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। सम्भवतः इसीलिये कुछ अभिलेखों में (जैसे स्कन्दगुप्त का सूपिया-अभिलेख एवं प्रभावती गुप्ता के रिथपुर एवं-दान पत्र) घटोत्कच को गुप्तवंश का 'आदिराज' कहा गया है। इन तीनों नरेशों का अभी तक कोई अभिलेख उपलब्ध नहीं हुआ है—'श्री गुप्त' नाम का उल्लेख करने वाली कुछ मुहरों को छोड़ कर जिनको प्रथम गुप्त नरेश की मुहरें प्रमाणित करना ज्ञान की वर्तमान अवस्था में सम्भव नहीं है।

प्रथम चन्द्रगुप्त की महादेवी कुमारदेवी जिस लिच्छवि जाति में उत्पन्न हुई थी उसका निवास आधुनिक बिहार में था। छठी शताब्दी ई० पू० में यह जाति अत्यन्त शक्तिशाली थी और इसकी राजधानी वैशाली भारत के प्रधान नगरों में परिगणित होती थी। अजातशत्रु के हाथों परास्त होने के उपरान्त इसके अधिकांश सदस्य भागकर नेपाल चले गये

नोट

जहाँ उन्होंने ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में एक शक्तिशाली राजाधीन राज्य स्थापित किया। स्वयं भारत में इस जाति का बुद्धोत्तर इतिहास लगभग पूर्णतः अज्ञात है। लेवी और चट्टोपाध्याय जैसे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि कुमारदेवी का पितृकुल नेपाल में था। लेकिन यह मत उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि गुप्तों ने अपने लिच्छवि-सम्बन्धों में अत्यन्त गर्व अभिव्यक्त किया है (जिसका प्रमाण इस विवाह की स्मृति में जारी की गई 'चन्द्रगुप्त-कुमार देवी प्रकार' की सुवर्ण मुद्राएँ एवं गुप्त अभिलेखों में समुद्रगुप्त 'लिच्छवि दौहित्र' कहा जाता है) जब कि प्रयाग-प्रशस्ति में नेपाल की गणना समुद्रगुप्त के अधीन राज्यों में की गई है। इसलिये अन्य अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि कुमारदेवी का पितृकुल वैशाली का स्वामी था। गोयल ने इस मत में संशोधन करते हुए सुझाव रखा है कि चौथी शती ई० में लिच्छवियों ने पाटलिपुत्र पर भी अधिकार कर रखा था। दूसरे शब्दों में जिस समय गुप्तों ने लिच्छवियों से विवाह सम्बन्ध किया, लिच्छवि मगध में निवास कर रहे थे। गोयल ने अपने इस मत के समर्थन में विष्णु पुराण के साक्ष्य को प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में गुप्तों का उल्लेख करते हुए कहा गया है 'अनुगंगा प्रयागं मागधागुप्ताश्च भौक्ष्यन्ति।' मजूमदार ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है "अनुगंगा प्रयाग पर मागध और गुप्त शासन करेंगे।" इस कथन से स्पष्ट है कि एक तरफ मागध गुप्तों से भिन्न थे और दूसरी तरफ उन्होंने गुप्तों के साथ मिलकर संयुक्त-राज्य स्थापित किया था जिसमें मगध के अतिरिक्त (जहाँ मागधों का निवास था) कम से कम प्रयाग प्रदेश अवश्य सम्मिलित था। अब गुप्तों के इतिहास में केवल एक बार ऐसी स्थिति दिखाई देती है जब उन्होंने किसी जाति के साथ संयुक्त-राज्य स्थापित किया हो। यह स्थिति तब उत्पन्न हुई थी जब जैसा कि लगभग सभी विद्वान मानते हैं प्रथम चन्द्रगुप्त के शासन काल में गुप्त और लिच्छवि राज्यों को मिलाकर एक संयुक्त-राज्य अथवा साम्राज्य का रूप दिया गया था। इसलिये प्रथम चन्द्रगुप्त के सम्बन्धी लिच्छवि निश्चय ही विष्णुपुराण के मागध और तदनुसार मगध के निवासी होने चाहिये।

वायुपुराण के एक श्लोक में भी गुप्तों के साम्राज्य का वर्णन है—

अनुगंगा प्रयागञ्च साकेतं मगधातस्था।

एतान् जनपदान्सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः ॥

इस श्लोक में गुप्त साम्राज्य की सीमाएँ 'विष्णु-पुराण' में वर्णित स्थिति से अगली अवस्था की द्योतक हैं क्योंकि इसमें एक ओर गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत साकेत को भी सम्मिलित कर लिया गया है और दूसरी तरफ इसमें मगध के निवासियों को गुप्तों का सह-शासक न बताकर उनके अधीन बताया गया है। यह स्थिति प्रथम चन्द्रगुप्त के शासन के उत्तरार्द्ध की अथवा समुद्रगुप्त के शासन के प्रारम्भिक वर्षों की—उसके द्वारा साम्राज्य विस्तार के पूर्व की रही होगी।

जिस समय लिच्छवियों का गुप्तों से विवाह सम्बन्ध स्थापित हुआ लिच्छवियों की शासन व्यवस्था नाम के लिए गणतन्त्रात्मक थी, लेकिन उसमें राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के तत्व विकसित हो चुके थे। उनकी राजकुमारी कुमारदेवी के साथ चन्द्रगुप्त के विवाह की स्मृति में 'चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी प्रकार' नाम से प्रसिद्ध जो सुवर्ण मुद्राएँ जारी की गईं उनमें सीधी तरफ चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी की मूर्तियाँ बनी हैं और उनके नाम लिखे हैं और उल्टी तरफ दुर्गा की मूर्ति बनी है और 'लिच्छवयः' लेख लिखा है। 'लिच्छवयः' लेख में लिच्छवियों का बहुवचन में उल्लेख इस बात की ओर संकेत देता है कि छठी शताब्दी ई०पू० के समान इस समय भी उनकी शासन-व्यवस्था गणतन्त्रात्मक थी, लेकिन इसके साथ ही सभी विद्वान यह मानते हैं कि चन्द्रगुप्त का लिच्छवि श्वसुर पुत्रहीन था इसलिये उसके राज्य की उत्तराधिकारिणी उसकी पुत्री कुमारदेवी बनी थी। लेकिन ऐसा तभी संभव था जब लिच्छवियों की राजसत्ता उनके शासकों में वंश-परम्परागत रूप से चलती रही हो। उसी अवस्था में कुमारदेवी के पिता का राज्य उसके पिता के द्वारा मनोनीत उत्तराधिकारी को मिल सकता था। गुप्तकाल के मालव आदि गणराज्यों में भी यह वैचित्र्य दिखलाई देता है। आजकल अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि कुमारदेवी अपने पिता की उत्तराधिकारिणी थी इसलिए वह उसी प्रकार लिच्छवि राज्य की राज्याधिकारिणी शासिका थी जिस प्रकार प्रथम चन्द्रगुप्त साम्राज्य का था। इस मत के अनुसार 'चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी प्रकार' की मुद्राएँ कुमारदेवी और चन्द्रगुप्त के द्वारा जारी की गईं सह-मुद्राएँ थीं। लेकिन विशम्भरशरण पाठक और उनका अनुसरण करते हुए श्री राम गोयल को यह सुझाव स्वीकार

नोट

नहीं है। ये विद्वान यह तो मानते हैं कि गुप्तों और लिच्छवियों की विवाह-सन्धि के कारण उनके राज्य संयुक्त हो गये थे लेकिन वे कुमारदेवी को उसके पिता की उत्तराधिकारिणी नहीं मानते। उनका कहना है कि प्राचीन भारत में किसी प्राचीन राजा के पुत्रहीन मरने पर उसका राज्य उसकी पुत्री को मिलने का न तो शास्त्रानुमोदित नियम था और न तत्कालीन समाज में इस प्रकार की कोई परम्परा प्रचलित थी। ऐसी स्थिति में किसी राजा के उपरान्त उसके राज्य पर या तो उसके निकटतम पुरुष सम्बन्धी का अधिकार माना जाता अथवा उसके द्वारा गोद लिये गये पुत्र का। अब, शास्त्रों में पुत्रों के जो प्रकार बतलाये गये हैं उनमें एक 'पुत्रिकापुत्र' प्रकार भी है जो किसी व्यक्ति की पुत्री का वह पुत्र होता था जिसे उसका नाना अपना पुत्र मान लेता था अर्थात् दौहित्र प्रकार का पुत्र। ये 'पुत्रिकापुत्र' भी दो प्रकार के होते थे। एक वे जो मात्र अपने नाना के उत्तराधिकारी माने जाते थे और दूसरे वे जो अपने नाना व पिता दोनों के उत्तराधिकारी माने जाते थे, दोनों को पिण्डदान देते थे और उनकी सम्पत्ति प्राप्त करते थे। दौहित्र या पुत्रिकापुत्र प्रकार के ऐसे द्वामुष्यायण कहलाते थे। अब अभिलेखों में उपलब्ध वंशावली में समुद्रगुप्त को प्रथम चन्द्रगुप्त का पुत्र बताए जाने के अतिरिक्त बराबर 'लिच्छवि-दौहित्र' भी कहा गया है। पाठक और गोयल का आग्रह है कि समुद्रगुप्त को इस प्रकार 'लिच्छवि दौहित्र' कहे जाने का तात्पर्य यही हो सकता है कि वह द्वामुष्यायण था अर्थात् अपने पिता प्रथम चन्द्रगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी होने के साथ अपने नाना का भी 'दौहित्र' प्रकार का पुत्र और उत्तराधिकारी माना गया था। दूसरे शब्दों में, प्रथम चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी के विवाह के परिणाम स्वरूप गुप्त और लिच्छवि राज्य संयुक्त तो हुए परन्तु लिच्छवि राज्य समुद्रगुप्त को सीधे अपने नाना से प्राप्त हुआ था, उसकी माँ अपने पिता की उत्तराधिकारिणी नहीं थी। इस निष्कर्ष से यह भी स्पष्ट संकेत मिलता है कि 'चन्द्रगुप्त कुमारदेवी-प्रकार' के सिक्के प्रथम चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी के सहसिकके नहीं वरन् समुद्रगुप्त द्वारा गुप्त-लिच्छवि विवाह-सन्धि की स्मृति में जारी की गई स्मारक-मुद्राएँ थीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि या तो प्रथम चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी के विवाह के समय अथवा इस विवाह के उपरान्त कुमारदेवी के पिता ने यह घोषित कर दिया था कि वह कुमारदेवी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनायेगा। इस घोषणा के परिणामस्वरूप यह निश्चित हो गया होगा कि अगर प्रथम चन्द्रगुप्त ने अपना राज्य कुमारदेवी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को दिया तो वह पुत्र अर्थात् समुद्रगुप्त, गुप्त और लिच्छवि दोनों राज्यों का स्वामी बन जायेगा, लेकिन प्रथम चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी अगर उसकी किसी अन्य रानी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र बना तो दोनों राज्य पूर्ववत् पृथक् रहेंगे। इन विकल्पों में से प्रथम को व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रथम चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त के पक्ष में सम्भवतः सिंहासन त्याग कर दिया।

समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक में उसको प्रथम चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी बनाए जाने का उल्लेख है। अधिकांश विद्वान इस श्लोक में समुद्रगुप्त के युवराज रूप में मनोनीत किए जाने का उल्लेख मानते हैं, लेकिन मजूमदार ने इसका तात्पर्य यह माना है कि प्रथम चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त के पक्ष में सिंहासन त्याग कर दिया था मजूमदार के मत की पुष्टि एरण शिलालेख के चतुर्थ श्लोक से भी होती है। इसके अनुसार समुद्रगुप्त अपने पिता द्वारा अभिषिक्त हुआ था एवं 'राजा' उपीधि से सम्मानित किया गया था। प्राचीन भारत में वृद्धावस्था में सिंहासन त्यागकर धर्मलाभ के हेतु सन्यास ले लेना राजाओं के लिये आदर्श माना जाता था। इस सम्बन्ध में कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। 'रघुवंश' के अनुसार रघुवंशी नरेश प्रारम्भिक जीवन में विद्याध्ययन, यौवन में गृहस्थ सुखों का उपभोग, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति का पालन तथा जीवन के अन्त में योगविद्या द्वारा शरीर त्याग करते थे।



उदाहरण राजा दिलीप ने वृद्धावस्था में सांसारिक सुख त्यागकर अपने पुत्र रघु को शास्त्रानुसार छत्र, चंवर आदि राजचिह्न सौंप दिये थे और स्वयं अपनी रानी सुदक्षिणा के साथ तप करने हेतु जंगल में चले गये थे।

'उत्तररामचरित' से भी राजाओं के इस आदर्श की पुष्टि होती है। कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' के अनुसार कश्मीर नरेश मातृगुप्त वृद्धावस्था में अपने पुत्र को राज्यभार सौंप कर स्वयं सन्यासी रूप में वाराणसी चला गया था। इसी प्रकार कश्मीर के ही कलश नामक नरेश ने भी अपने पुत्र का राज्याभिषेक करके वाराणसी अथवा नन्दिक्षेत्र में जाकर धर्मलाभ किया था। जैसा कि हम आगे देखेंगे कि सम्भवतः गुप्त सम्राट प्रथम कुमारगुप्त ने वृद्धावस्था में मुनित्व ग्रहण

नोट

कर लिया था। इसका संकेत उसके 'अप्रतिघ' प्रकार के सिक्कों, 'कथासरित्सागर' तथा 'चन्द्रगर्भपरिपृच्छा' नामक ग्रन्थों एवं चन्द्रगुप्त के जूनागढ़-लेख में मिलता है। जूनागढ़-लेख में कहा गया है कि कुमारगुप्त ने आत्मशक्ति से स्वर्ग प्राप्त किया था अर्थात् वृद्धावस्था में आत्म-साधना द्वारा देह-त्याग किया था।

प्रथम चन्द्रगुप्त के द्वारा समुद्रगुप्त को राजा के रूप में प्रतिष्ठित कर देने का एक प्रमुख कारण राजपरिवार में उत्पन्न होने वाली दलबन्दी थी। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं गुप्त राजवंश अनेक अर्थ में पूर्वी उत्तर प्रदेश विशेषतः प्रयाग प्रदेश की ब्राह्मण संस्कृति के वातावरण और ब्राह्मण पुनरुत्थान की देन था। स्वयं गुप्त सम्राट् ब्राह्मणजाति और ब्राह्मण धर्म तथा संस्कृति के कट्टर समर्थक थे। इसके विपरीत मगध के लिच्छवि ब्राह्मण दृष्टिकोणानुसार ब्राह्मण क्षत्रिय थे और बौद्ध धर्म तथा संस्कृति के परम्परागत समर्थक थे। ब्राह्मण शास्त्र उन्हें 'सावित्री' के अधिकार से वंचित मानते थे। इस प्रकार गुप्तों और लिच्छवियों में अन्य भेदों (जैसे दोनों की प्रशासकीय व्यवस्था में अन्तर) के अतिरिक्त धर्म और धार्मिक दृष्टिकोण का जबरदस्त अन्तर था। इसलिये जब यह सम्भावना उत्पन्न हुई होगी कि समुद्रगुप्त के राजत्व काल में गुप्त और लिच्छवि साम्राज्य के सह-शासक बनेंगे तो गुप्त राज्य के ऐसे सभासद जो ब्राह्मण धर्म और परम्परा के कट्टर समर्थक रहे होंगे, साम्राज्य में ब्राह्मण क्षत्रियों के प्रभाव बढ़ने की सम्भावना से असन्तुष्ट हुए होंगे, लेकिन कुछ उदार गुप्त सभासदों ने एवं लिच्छवियों तथा बौद्ध धर्म समर्थक व्यक्तियों ने इस सम्भावना का स्वागत किया होगा। जैसा कि गोयल ने साग्रह कहा है प्रयाग-प्रशस्ति के चौथे श्लोक में समुद्रगुप्त के चुनाव का उल्लेख करते समय जिन 'सभ्य' जनों के आनन्दित होने का उल्लेख हुआ है वे समुद्रगुप्त के ऐसे ही समर्थक सभासद रहे होंगे। लेकिन इनके अलावा उस समय राजसभा में वे सभासद भी उपस्थित रहे होंगे जो समुद्रगुप्त के चुनाव पर म्लान मुख हो जाने वाले 'तुल्यकुलजों' के समर्थक थे। हरिषेण के द्वारा प्रदत्त इस वर्णन को तत्कालीन राजनीतिक पृष्ठभूमि के आलोक में देखते ही स्पष्ट हो जाता है कि समुद्रगुप्त और उसके 'तुल्यकुलजों' का संघर्ष केवल महत्वाकांक्षी राजकुमारों का संघर्ष नहीं वरन्, अन्य बातों के अतिरिक्त, दो धार्मिक दृष्टिकोणों का संघर्ष भी था।

समुद्रगुप्त के जो 'तुल्यकुलज' उसके चुनाव से म्लान मुख हुए, उनका नेता सम्भवतः काच था। यह भी सम्भव है कि वह प्रथम चन्द्रगुप्त का बड़ा पुत्र रहा हो और इस कारण स्वयं को उसका उत्तराधिकारी समझता हो। उस अवस्था में प्रथम चन्द्रगुप्त द्वारा सभासदों के समक्ष समुद्रगुप्त को राज्यभार देने की घोषणा से उसका म्लान मुख होना स्वाभाविक था। काच की मुद्राएं जो चक्रध्वज प्रकार की हैं जौनपुर, टांडा कुमारखान तथा बयाना से मिली हैं। उनके पुरोभाग पर चक्रध्वज मिलता है परन्तु एक मुद्रा पर साथ में गरुडध्वज भी अंकित है। इन मुद्राओं का भार 111 ग्रेन से 118 ग्रेन तक है। इनकी नाप, तौल, बनावट, इन पर अंकित राजा की पोशाक, मुद्रालेख आदि की समुद्रगुप्त की मुद्राओं से बड़ी साम्यता है। अब इतना तो स्पष्ट है कि काच नाम का यह नरेश गुप्तवंशीय था। उसने स्पष्टः द्वितीय चन्द्रगुप्त से पूर्व शासन किया क्योंकि द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय गुप्त सुवर्ण मुद्राओं का तौल मान 121 ग्रेन हो गया था जबकि काच की मुद्राएं 111-118 ग्रेन भार वाली हैं। अतः काच की पहचान के सम्बन्ध में तीन विकल्प प्रस्तुत किये जा सकते हैं : प्रथम, काच समुद्रगुप्त का ही दूसरा नाम था। इस सुझाव को एलन और रायचौधरी ने स्वीकार किया है। द्वितीय, काच समुद्रगुप्त का कोई प्रतिद्वन्दी था। इसे हेरास, पी०एल० गुप्त और गोयल आदि ने माना है। तृतीय, काच समुद्रगुप्त का कोई उत्तराधिकारी था जिसने द्वितीय चन्द्रगुप्त से कुछ समय पहले थोड़े समय के लिये शासन किया। इनमें हमें दूसरा विकल्प सही लगता है। जैसा कि हमने उल्लेख किया है, हरिषेण ने चौथे श्लोक में लिखा है कि समुद्रगुप्त के 'तुल्यकुलज' उसके चुनाव से म्लान मुख हुए थे। इसके आगे वह पांचवें और छठे श्लोकों में किसी युद्ध का वर्णन करता है। अभाग्यवश ये श्लोक अब अंशतः ही पट्य हैं, लेकिन इनके पट्य अंश से स्पष्ट है कि इनमें समुद्रगुप्त के जिन शत्रुओं का उल्लेख किया उनमें कुछ उसके अमनुजसदृश कार्यों को देखकर उसकी ओर आकृष्ट हो गये थे, कुछ उसके शौर्य से सन्तुष्ट होकर उसकी शरण में आ गये थे और कुछ जिन्होंने उसका भारी अपकार किया था, उसके द्वारा पराजित हुए थे। दूसरे, बौद्धग्रन्थ 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त का भस्म नाम का एक भाई था जिसने तीन वर्ष राज्य किया था। क्योंकि इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं राजाओं के नामों का अनुवाद मात्र दिया गया है और 'काच' शब्द का एक अर्थ 'भस्म' या 'क्षारमृत्तिका' भी होता है, अतः यह निश्चित लगता है इस ग्रन्थ में भस्म नाम से काच का ही उल्लेख किया गया था।

नोट

काच की भस्म के साथ पहचान और समुद्रगुप्त के रूप में उसका अस्तित्व सिद्ध हो जाने से हमें समुद्रगुप्त और उसके भाइयों के पारस्परिक संघर्ष का कारण जानने में सहायता मिलती है और हमारे उस अनुमान का समर्थन होता है जो हमने गुप्त और लिच्छवि राज्यों के संयुक्त हो जाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो जाने वाली स्थिति के विषय में लगाया गया है। हमने सुझाया है कि ब्राह्मण पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आने वाले ब्राह्मणजातीय गुप्त वंश की सन्तान-सन्धि ब्राह्मण संस्कृति के गढ़ मगध पर शासन करने वाली ब्राह्मण जाति लिच्छवि के साथ हो जाने से धार्मिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई होगी। समुद्रगुप्त और काच का संघर्ष हमारे इस अनुमान का समर्थक है, जैसा कि सर्वज्ञात है कि समुद्रगुप्त ब्राह्मण धर्म का समर्थक था। उसने अश्वमेध किया था तथा लाखों गायें और सुवर्ण मुद्राएं स्पष्टतः ब्राह्मणों को दान दी थीं। व्यक्तिगत रूप से उसने वैष्णव धर्म स्वीकार किया था जैसा कि उसके द्वारा विष्णु के वाहन गरुड़ को अपना राजचिह्न बनाने से स्पष्ट है। गया और नालन्दा-दानपत्रों में उसे 'परम भागवत' कहा गया है। इन अभिलेखों को प्रायः जाली माना जाता है परन्तु जैसा कि मजूमदार, गुप्त और गोयल ने प्रदर्शित किया है ये अभिलेख सम्भवतः असली अभिलेखों के आधार पर छठी और सातवीं शती ई. में तैयार की गई नकलें हैं। अगर यह मत सही है तो मानना पड़ेगा कि परवर्ती गुप्त और वर्द्धन युग में ऐसे दान-पत्र उपलब्ध थे जिनमें समुद्रगुप्त को 'परमभागवत' कहा गया था। समुद्रगुप्त का वैष्णव धर्म में विश्वास मेहरौली लौह स्तम्भ-लेख से भी स्पष्ट है। इस लेख में 'चन्द्र' नामक एक राजा का वर्णन है जिसने भगवान विष्णु के सम्मान में विष्णुपद पहाड़ी पर विष्णुध्वज (वह लौह स्तम्भ जिस पर यह लेख लिखा है) स्थापित करवाया था। इस लेख में 'चन्द्र' का न तो पूरा नाम दिया गया है, न तिथि दी गई और न ही उसकी वंशावली दी हुई है। इसलिये उसकी पहचान के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इस विषय में हमें डॉ॰ गोयल का यह मत सर्वाधिक विश्वसनीय लगता है कि इस नरेश की पहचान समुद्रगुप्त से की जानी चाहिए। रमेशचन्द्र मजूमदार ने भी इस मत को तर्कसम्मत बतलाया है। अगर यह सुझाव सही है तो इससे समुद्रगुप्त का वैष्णव होना अतिरिक्त रूप से प्रमाणित होगा। समुद्रगुप्त प्रयाग-प्रशस्ति में अपने को 'धर्मप्राचीरबन्ध' कहने में और अपनी तुलना धनद, वरुण, इन्द्र और अन्तक से करने में गर्व का अनुभव करता है। जैसा कि गोयल ने ध्यान दिलाया है उसकी प्रयाग-प्रशस्ति पर गीता के विचारों की भी स्पष्ट छाप है। हरिषेण ने उसे कृष्ण के समान अचिन्त्य पुरुष और साधुजनों के उत्कर्ष और दुर्जनों के विनाश का कारण बताया है, लेकिन वैदिक धर्म और वैष्णव मत से इस प्रकार प्रभावित होने के बावजूद उसने उदार धार्मिक दृष्टिकोण का परिचय दिया और विशेषरूप से बौद्ध धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाई थी। श्वान-च्यांग के साक्ष्यानुसार लंका के राजा श्री मेघवर्ण ने उससे बोधगया में एक विहार बनवाने की अनुमति मांगी थी और समुद्रगुप्त ने यह अनुमति सहर्ष प्रदान की थी। दूसरे, उसने सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वृद्ध वसुबन्धु को संरक्षण प्रदान किया था इस प्रसंग में यह तथ्य भी अत्यन्त रोचक है कि 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' का लेखक जिसका उद्देश्य ही बौद्ध धर्म का इतिहास लिखना और बौद्धधर्म के प्रति उदारता दिखाने वाले राजाओं की प्रशंसा और उसके साथ कठोरता का व्यवहार करने वाले नरेशों की आलोचना करना था, समुद्रगुप्त की बड़ी प्रशंसा करता है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि व्यक्तिगत रूप से वैदिक धर्म और वैष्णव मत में श्रद्धा रखते हुए भी समुद्रगुप्त ने वैदिकेतर धर्मों विशेषतः बौद्धधर्म के प्रति उदारता दिखाई थी। इसका कारण उसका मगध और लिच्छवियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होना प्रतीत होता है। इसके विपरीत काच उर्फ भस्म का दृष्टिकोण बौद्धधर्म विरोधी था। आर्यमञ्जु श्री मूलकल्प के लेखक ने भस्म की उसी भाषा में बुराई की है जिसमें उसने पुष्यमित्र शुंग, मिहिरकुल और शशांक आदि बौद्धधर्म विरोधी नरेशों की। वह काच को 'दुर्मति', 'दुमेघ' और 'निघृणी', इत्यादि कहता है और अफसोस प्रकट करता है कि उसका राज्य दुष्ट ब्राह्मणों और तार्किकों से भर गया था। यहाँ यह तथ्य भी महत्वपूर्ण हो सकता है कि इस ग्रन्थ के लेखक ने जिस तरह पुष्यमित्र, मिहिरकुल और शशांक जैसे बौद्धधर्म विरोधी नरेशों का नाम न देकर उसके नाम का पर्याय दिया है। उसी तरह काच का नाम भी न देकर उसके नाम का पर्याय लिखा है। स्पष्ट है कि उसकी दृष्टि में काच भी इन नरेशों के समान बौद्धधर्म का कट्टर विरोधी था। इस प्रकार इन तथ्यों से प्रमाणित होता है कि काच और समुद्रगुप्त का संघर्ष केवल दो महत्वाकांक्षी राजकुमारों का संघर्ष ही नहीं दो धार्मिक दृष्टिकोणों—उदार और सहिष्णु दृष्टिकोण जिसका प्रतिनिधि समुद्रगुप्त था और कट्टर ब्राह्मण दृष्टिकोण जिसका प्रतिनिधि काच था—का भी संघर्ष था। इसमें अन्ततोगत्वा समुद्रगुप्त और उसका दृष्टिकोण विजयी हुए।

नोट

4.4 समुद्रगुप्त की दिग्विजय, प्रशासकीय व्यवस्था और नीतियों पर धर्म का प्रभाव (Effects of Religion on Rules and Administration System, Widespread Conquest of Samudragupta)

उत्तराधिकार के संघर्ष में विजय प्राप्त करने के उपरान्त समुद्रगुप्त ने साम्राज्य-स्थापना की ओर ध्यान दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम उसने पश्चिमी उत्तर प्रदेश और निकटस्थ-प्रदेशों के नाग राजाओं का उन्मूलन किया। प्रयाग-प्रशस्ति के सातवें श्लोक के अनुसार, जिसका कुछ अंश खण्डित और अपठनीय हो गया है, उसने अच्युत, नागसेन और गणपतिनाग नामक नाग राजाओं का उन्मूलन किया, अपनी सेनाओं द्वारा कोतकुलज को बन्दी बनवाया और पुष्पनगर में क्रीड़ा की। इन राजाओं में नागसेन सम्भवतः पद्मावती का भारशिववंशीय नाग राजा था। उसका उल्लेख 'हर्षचरित' में हुआ है। गणपतिनाग सम्भवतः मथुरा का शासक था जहाँ से उसकी मुद्राएँ प्रचुर संख्या में प्राप्त हुई हैं। अच्युत भी, जिसका पूरा नाम हो सकता है अच्युत नन्दि रहा हो, कोई नागवंशीय नरेश ही प्रतीत होता है। उसकी पहचान अहिच्छत्रा (पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बरेली जिले का रामनगर) से प्राप्त नागशैली की मुद्राओं से ज्ञात 'अच्यु' नामक नरेश से की जाती है। कोतकुलज का अभिज्ञान अनिश्चित है। हमें डॉ० गोयल का यह अनुमान सही प्रतीत होता है कि क्योंकि वह अच्युत नागसेन और गणपतिनाग का पड़ोसी रहा होगा, इसलिए उसकी पहचान प्रयाग-प्रशस्ति में अन्यत्र उल्लिखित मतिल से करनी उचित है जिसकी एक मुहर (जिस पर 'मत्तिल' नाम लिखा है) बुलन्दशहर जिले से मिली मानी जाती है। पुष्प नामक नगर का अभियान और समुद्रगुप्त के साथ उसका सम्बन्ध विवादग्रस्त है। बहुत-से विद्वान उसकी पहचान पाटलिपुत्र से करते हैं और उसे गुप्तों की तत्कालीन राजधानी मानते हैं। लेकिन हमें डॉ० गोयल का यह सुभाव अधिक सही लगता है कि यहाँ हरिषेण ने कान्यकुब्ज का उल्लेख किया है जो श्वान-च्यांग के अनुसार कुसुमपुर या पुष्पपुर के नाम से ही विख्यात था। डॉ० गोयल का अनुमान है कि कान्यकुब्ज को अपना सामरिक केन्द्र बनाकर समुद्रगुप्त ने पद्मावती के नागसेन, मथुरा के गणपतिनाग तथा अहिच्छत्रा के अच्युत का उन्मूलन और बुलन्दशहर प्रदेश के कोतकुलज (= मतिल) का बन्दीकरण किया होगा और इन सफलताओं के उपरान्त कान्यकुब्ज में क्रीड़ा की होगी अर्थात् विजयोत्सव मनाया होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त का पहला और सबसे महत्वपूर्ण अभियान नागों के विरुद्ध था। यह तथ्य स्पष्ट होते ही समुद्रगुप्त के द्वारा गरुड़ को, जिसे हिन्दू धर्मकथाओं में नागों का शत्रु माना गया है, अपना राजचिह्न बनाना सारगर्भित प्रतीत होने लगता है और समुद्रगुप्त की राजनीति पर धर्म के प्रभाव की हल्की-सी छाया दिखाई देने लगती है। समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारी सामान्यतः धार्मिक सहिष्णुता की नीति में विश्वास करते थे। इसलिये आधुनिक विद्वान प्रायः मानते हैं कि गुप्तों की राजनीति पर धर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। लेकिन अब इस धारणा में कुछ संशोधन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है। डॉ० गोयल ने ध्यान दिलाया है कि गुप्तों के अधिकांश शत्रु और प्रतिस्पर्धी-नाग, वाकाटक, हूण और मालवराज यशोधर्मा-शैव थे जब कि स्वयं गुप्त सम्राट वैष्णव थे। इस तथ्य को विशुद्ध संयोग भी माना जा सकता है और तत्कालीन राजनीति पर धर्म का परोक्ष प्रभाव भी। लेकिन डॉ० गोयल के शब्दों में, "हम अगर यह ध्यान रखें कि समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों ने जिन अधीन राजवंशों की स्थापना की (जैसे कामरूप का वर्मा-वंश, मन्दसौर का वर्मा वंश, एरण-अभिलेखों के मातृविष्णु का वंश आदि) उसमें अधिकांश वैष्णव थे और वैष्णव धर्म के प्रसार में सहायक हुए तो कम से कम यह मानने में कोई आपत्ति नहीं रहेगी कि गुप्तों के हृदय में वैष्णवों के प्रति कुछ पक्षपात अवश्य था। इस मनोवृत्ति का सर्वोत्तम प्रमाण वाकाटक वंश के इतिहास से मिलता है। इस वंश के नरेश प्रायः शैव थे। प्रथम प्रवरसेन ने वैदिक यज्ञ धर्म में आस्था के बावजूद प्रवरेश्वर नाम से विख्यात शिव-मन्दिर बनाया था और प्रथम रुद्रसेन महाभैरव का उपासक था। प्रथम पृथ्वीषेण और बाद में द्वितीय प्रवरसेन भी महेश्वर के परम भक्त थे। वे यह विश्वास करते थे कि उन पर शम्भु की विशेष कृपा है, लेकिन द्वितीय चन्द्रगुप्त के काल में जब वाकाटक राजवंश पर गुप्तों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा, द्वितीय रुद्रसेन ने अपने परिवार के परम्परागत शैव धर्म को छोड़ दिया और चक्रपाणि (विष्णु का एक रूप) का उपासक हो गया। इतना ही नहीं वह यह भी कहने लगा कि उसे भगवान चक्रपाणि की कृपा से ही श्री (राजलक्ष्मी) उपलब्ध हुई है। वाकाटक राजवंश की परम्परा की पृष्ठभूमि में यह परिवर्तन महत्वपूर्ण हो जाता है।

नोट

यहाँ हमारा आशय यह नहीं है कि गुप्त नरेश शैव धर्म का आदर नहीं करते थे अथवा उन्होंने वैष्णव धर्म का बलात् प्रचार किया। हमारा इतना ही कहना है कि सामान्यतः सहिष्णु होते हुए भी उनके राजनीतिक दृष्टिकोण पर वैष्णव धर्म की कुछ छाया अवश्य आ जाती थी। जब वे अपने शत्रुओं के बारे में सोचते थे तो उनके और उनके शत्रुओं के धार्मिक दृष्टिकोण में अन्तर उनके राजनीतिक निर्णय को अवश्य ही प्रभावित करता था। यह अन्तर उनमें और नागों में भी था वाकाटकों के समान भारशिव राजाशैव थे, शिव के 'परितोष' से अपने वंश का उद्भव मानते थे और अपने शरीर पर शिवलिंग धारण करते थे। उनके विषय में विचार करते समय समुद्रगुप्त अपनी धर्म-भावना से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा सका था। जब उसने विष्णु के वाहन गरुड़ को, जिसे नागों का परम शत्रु कहा गया है, अपना राजचिह्न बनाया, उस समय उसका उसके शत्रुओं के प्रति दृष्टिकोण अपेक्षया कुछ संकीर्ण साम्प्रदायिक भावना से ही प्रभावित हुआ होगा। इस प्रकार जब स्कन्दगुप्त ने यह घोषित किया कि उसने गरुड़ रूपी प्रतिनिधियों द्वारा नागों के समान गर्वीले शत्रुओं का दमन किया है, उस समय अपने शत्रुओं के विषय में उसका दृष्टिकोण भी साम्प्रदायिक भावना से पूर्णतः अछूता नहीं था।”

नागों के विरुद्ध लड़े गए युद्ध का वर्णन करने के उपरान्त हरिषेण ने चार सूचियों में उन सब राजाओं और राज्यों को गिनाया है जिन्हें समुद्रगुप्त ने समय-समय पर उन्मूलित किया अथवा न्यूनाधिक रूप से अपने अधीन किया। ये सूचियाँ न समुद्रगुप्त द्वारा लड़े गए युद्धों के तिथिक्रमानुसार हैं और न भौगोलिक क्रमानुसार। वास्तव में इसमें हरिषेण ने समुद्रगुप्त द्वारा परास्त राजाओं व राज्यों को उसके द्वारा उनके प्रति अपनाई गई नीतियों के अनुसार चार वर्गों में विभाजित कर दिया है। प्रथम सूची में उसने ऐसे बारह नरेश गिनाए हैं जिन्हें समुद्रगुप्त ने बन्दी बनाया (ग्रहण) परन्तु बाद में स्वतंत्र कर दिया (मोक्ष) और उनके राज्य उन्हीं को लौटा दिये (अनुग्रह) ये राजा थे—कोसलराज महेन्द्र, महाकान्तारपति व्याघ्रराज, कोराल-नरेश मण्टराज, पिष्टपुर का स्वामी महेन्द्रगिरि कोट्टूर का राजा स्वामिदत्त, एरण्डपल्ल नरेश दमन, काञ्चीपति विष्णुगोप, अवमुक्त नरेश नीलराज, वेङ्गीपति हस्तिवर्मा, पलक्कराज उग्रसेन, देवराष्ट्र का राजा कुबेर एवं कुस्थलपुर का स्वामीधनञ्जय। ये सभी राजा दक्षिणापथ के थे। इनमें कोसल (रायपुर, बिलासपुर व सम्बलपुर प्रदेश), पिष्टपुर (पीठापुरम्), काञ्ची (कान्जीवरम्, वेंगी पेडवेग्गी) तथा देवराष्ट्र (पल्लवों की एक प्राचीन प्रान्तीय राजधानी) की एवं राजाओं में विष्णुगोप (तत्कालीन पल्लव नरेश) तथा हस्तिवर्मा (शालकायन नरेश) की पहचान प्रश्नातीत रूप से निश्चित है और बाकी की पूर्णतः अज्ञात अथवा विवादग्रस्त इन राजाओं के साथ समुद्रगुप्त ने ग्रहण, मोक्ष और अनुग्रह की जो नीति अपनाई वह स्पष्टतः वह नीति थी जिसे प्राचीन हिन्दू धर्म में धर्मविजय की नीति माना जाता था। हिन्दू धर्म में तीन प्रकार की विजयें मानी गई हैं असुर विजय, लोभ विजय और धर्म विजय। इनमें धर्मविजयी नरेश शत्रु के मात्र आत्मसमर्पण करने से संतुष्ट हो जाते थे। यह विश्वास किया जाता था कि विजिगीषु की शरण में आने से दुर्बल राजा अपने को न केवल उसके आक्रमण के कारण उत्पन्न संकट से बचा ही लेते हैं। वरन् अन्य बलवान राजाओं से भी अपनी रक्षा कर लेते हैं। लोभ विजयी राजा भूमि और धन देने से संतुष्ट हो जाते थे। किन्तु असुर विजयी नरेश भूमि के साथ द्रव्य, स्त्री, पुत्र, और प्राणों तक को भी छीन लेते थे। रघुवंश में कालिदास ने रघु के द्वारा कोसल नरेश के प्रति धर्म विजय की नीति को अपनाये जाने का उल्लेख किया है—

गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।

श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥

स्पष्ट है समुद्रगुप्त हिन्दू धर्म के इस आदर्श से बहुत प्रभावित हुआ था और उसने इस आदर्श को कम-से-कम दक्षिणी भारत में व्यावहारिक रूप प्रदान किया था।

प्रयाग-प्रशस्ति दूसरी की सूची में हरिषेण ने समुद्रगुप्त के द्वारा पूर्णतः उन्मूलित किये गये राजाओं को गिनाया है ये राजा थे—रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युतनन्दि और बलवर्मा। ये सब आर्यावर्त नरेश कहे गये हैं। इनमें मतिल, गणपतिनाग, नागसेन और अच्युतनन्दि की पहचान हम पीछे पढ़ें हैं। रुद्रदेव सम्भवतः वाकाटक राजा प्रथम रुद्रसेन था, चन्द्रवर्मा बंगाल के सुसुनिया-अभिलेख में उल्लिखित चन्द्रवर्मा, नागदत्त सम्भवतः कोई नाग राजा और बलवर्मा अनुमानतः चन्द्रवर्मा का कोई सम्बन्धी अथवा किसी अन्य प्रदेश का स्वामी। इन राजाओं पर समुद्रगुप्त की विजयों के सम्बन्ध में हमें कोई अन्य सूचना उपलब्ध नहीं है।

नोट

प्रयाग प्रशस्ति की तीसरी सूची में हरिषेण ने उन राजाओं और राज्यों को गिनाया है जिन्हें समुद्रगुप्त ने अपना सेवक बनाया (परिचारकीकृत) अथवा जिन्होंने उसे सब प्रकार के कर देकर (सर्वकरदान), उसके आदेशों का पालन करके (आज्ञाकरण), एवं उसकी सेवा में उपस्थित होकर (प्रणामागमन) उसके प्रति निष्ठा का प्रदर्शन किया। उसे गुप्त साम्राज्य का 'संरक्षित-राज्य' कहा जा सकता है। वे राजा जो समुद्रगुप्त के 'परिचारक' बना दिये गये 'आटविक' अथवा वन्य प्रदेश (जबलपुर से छोटा नागपुर तक का विस्तृत प्रदेश) के नरेश थे। शेष राज्य, जिनके शासकों ने उसे सर्वकरदानादि द्वारा सन्तुष्ट किया, दो प्रकार के थे : नृपतन्त्रात्मक शासन पद्धति वाले 'प्रत्यन्त' राज्य जिनमें समतट (दक्षिण-पूर्वी बंगाल), (डवाक असम का नवगांग प्रदेश), कामरूप (उपरला असम), नेपाल (नेपाल की गण्डक और कोसी की घाटी) और कर्तुपुर (कुमायूं-गढ़वाल प्रदेश) को गिनाया गया है एवं संघात्मक शासन व्यवस्था वाली गणजातियाँ जिनमें कमशः मालव (अजमेर-टोंक-मेवाड़ प्रदेश), आर्जुनायन (देहली-जयपुर-आगरा प्रदेश), यौधेय (बहावलपुर रियासत की सीमा पर सतलज के दोनों ओर का प्रदेश) मुद्रक (रावी-चिनाव दोआब), आभीर (पश्चिमी-राजपूताना) प्रार्जुन (नरसिंहपुर जिला), सनकानीक (विदिशा प्रदेश) वाक (सांची प्रदेश) तथा खरपरिक (मध्य प्रदेश की एक मंगोलिद् जाति) की गणना की गई है।

इस सूची में 'प्रत्यन्त' शब्द का प्रयोग बड़ा महत्वपूर्ण है और इसके सही अर्थ से इन प्रदेशों के राजाओं के साथ अपनाई गई नीति बोधगम्य हो सकती है। 'अता' और 'प्रचंता' शब्द अशोक के अभिलेखों में भी मिलते हैं। वहाँ उनका प्रयोग साम्राज्य के बाहर स्थित पड़ोसी राज्यों के लिए किया गया है। लेकिन 'राजोवाद जातक' में 'प्रचंत भूमि' का अर्थ किसी राज्य के अन्दर स्थित सीमावर्ती-प्रदेश माना गया है। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में भी 'अन्त' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। इसी प्रकार 'रघुवंश' में कालिदास ने 'प्रत्यन्तों' को किसी साम्राज्य का सीमावर्ती राज्य ही माना है। स्पष्टतः हरिषेण का भी यही आशय होना चाहिये क्योंकि एक ओर उसके द्वारा अनुसूचित प्रत्यन्त राजा सब प्रकार के कर देने, उसकी आज्ञाओं का पालन करने और उसके पास 'प्रणाम' के लिए जाने के कारण समुद्रगुप्त के अधीन थे तो दूसरी ओर भौगोलिक दृष्टि से ये राज्य साम्राज्य की सीमा पर स्थित थे। प्रश्न उत्पन्न होता है कि समुद्रगुप्त ने इनके शासकों का उन्मूलन क्यों नहीं किया। अन्य कारणों के अतिरिक्त इसका एक कारण सम्भवतः प्रत्यन्त प्रदेशों के प्रति तत्कालीन हिन्दू विचारकों का धार्मिक दृष्टिकोण था। जैसे कि डॉ॰ गोयल ने ध्यान दिलाया है कि 'अमरकोश' में प्रत्यन्त राज्यों को म्लेच्छ कहा गया है। यह ग्रन्थ एक गुप्तकालीन रचना है इसलिये इसके लेखक का दृष्टिकोण गुप्तयुगीन दृष्टिकोण का प्रतिनिधि माना जा सकता है। 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में भी प्रत्यन्तवासियों को 'म्लेच्छ' और 'तस्करजीवी' कहा गया है एवं क्षीरस्वामी और हेमचन्द्र ने प्रत्यन्त देशों को भोट-देश बताया है। 'भोट' नाम का प्रयोग संस्कृत साहित्य में तिब्बती या मंगोलिद् जनों के लिये हुआ है। स्थूलतः इसे 'किरात' का पर्यायवाची माना जा सकता है। आज भी असम, नेपाल और अन्य पर्वतीय प्रदेशों में भोट या किरात जाति की प्रधानता मिलती है। स्पष्टतः गुप्त युग में ऐसे राज्य आर्य धर्म और सभ्यता से परे माने जाते थे। स्वयं हरिषेण ने इन राज्यों को उस सूची से पृथक् करके, जिसे वह आर्यावर्त नरेश की सूची कहता है, इसी, तथ्य की ओर संकेत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त ऐसे प्रदेशों को जहाँ आर्य धर्म का पूरा प्रभाव नहीं पहुँचा था अपने साम्राज्य के केन्द्रीय भाग के समान सम्मान नहीं देना चाहता था। यह भी सम्भव है कि इनमें से कुछ म्लेच्छ जातियों में आर्य धर्म और संस्कृति, विशेषतः वैष्णव धर्म, का प्रचार करने के लिये उसने वैष्णव धर्मावलम्बी वंशों की स्थापना की हो। इसका सर्वोत्तम उदाहरण कामरूप है। कामरूप के वर्मा वंश का पहला राजा पुष्यवर्मा निश्यच ही समुद्रगुप्त का समकालीन था क्योंकि उसके और भास्करवर्मा के जिसकी तिथि सातवीं शती ई. का पूर्वार्द्ध है, बीच की पीढ़ियों की गणना करने पर उसका राज्यारोहण लगभग 350 ई. में पड़ता है। दूसरे उसके पुत्र और पुत्रवधू के नाम समुद्रवर्मा और दत्तदेवी थे जो स्पष्टतः उसने गुप्त सम्राट और साम्राज्ञी के नामों पर रखे होंगे। डॉ॰ गोयल का सुझाव है कि पुष्यवर्मा को 'श्री' समुद्रगुप्त (राज्यलक्ष्मी) की कृपा के कारण मिली होगी। श्वान-च्यांग ने इस वंश के राजाओं को ब्राह्मणजातीय बताया है। वे निश्चय ही वैदिकधर्म व वैष्णव मतों में आस्था रखते थे। इस वंश की उत्पत्ति नरक नामक असुर से बताई गई है जिसे पुराणों और महाकाव्यों में विष्णु का पुत्र कहा गया है। इस वंश के नरेशों ने कामरूप में यज्ञधर्म और वैष्णव मत का उसी प्रकार प्रचार किया जैसा साम्राज्य के अन्य अधिकांश प्रदेशों में उनके स्वामी गुप्त सम्राटों ने किया था।

नोट

समुद्रगुप्त ने साम्राज्य के अन्य प्रदेशों में भी यथासम्भव वैष्णव धर्म में आस्था रखने वाले लोगों को ही अपने अधीन राजपद पर नियुक्त किया। उदाहरणार्थ, उसके शासनकाल में पश्चिमी मालवा में औलिकर या वर्मा वंश अस्तित्व में आया। इस वंश के तीसरे नरेश नरवर्मा की ज्ञात तिथि 404 ई० है और चौथे नरेश विश्ववर्मा की 423 ई०। इसलिये इस वंश के प्रथम और द्वितीय नरेश जयवर्मा और सिंहवर्मा ने चौथी शती ई० के उत्तरार्द्ध में शासन किया होगा। इस वंश के राजा भी प्रायः वैष्णव मतावलम्बी थे जैसा कि विश्ववर्मा के गंगाधर प्रस्तर अभिलेख से संकेतित है।

बुन्देलखण्ड-बघेलखण्ड में अर्थात् तत्कालीन आटविक प्रदेश में समुद्रगुप्त ने तीन नये वंशों की स्थापना की—परिव्राजक, उच्चकल्प और पाण्डव। परिव्राजकों के अभिलेखों में उन्हें अष्टादश अटवि राज्यों और डमाल का शासक बतलाया गया है। इस वंश की स्थापना नृपति परिव्राजक सुशर्मा ने की थी। उसके अतिरिक्त इस वंश के देवादय, प्रमञ्चन, दामोदर, हस्ती और संक्षोम नाम के राजा ज्ञात हैं। इनमें हस्ती ने कम से कम गुप्त सम्वत् 156 से 198 तक अर्थात् 475 से 517 ई० तक शासन किया। इसलिये उसके पूर्वज सुशर्मा का शासन हो सकता है, 360 ई० के लगभग अर्थात् समुद्रगुप्त के शासनकाल में प्रारम्भ हुआ हो। उनके पड़ोस में उच्चकल्प वंश का राज्य था। इस वंश के 6 राजाओं के नाम ज्ञात हैं : औघदेव, कुमारदेव, जयस्वामी, व्याघ्र, जयनाथ और शर्वनाथ। इनमें शर्वनाथ परिव्राजकवंशीय हस्ती का समकालीन था इसलिये उसका पूर्वज और उच्चकल्प वंश का संस्थापक औघदेव भी स्थूलतः समुद्रगुप्त का समकालीन रहा हो सकता है।



क्या आप जानते हैं? बघेलखण्ड में शासन करने वाला तीसरा राजवंश, जिसकी स्थापना समुद्रगुप्त ने की प्रतीत होती है पाण्डव वंश था।

इसका अस्तित्व इस वंश के नरेश भरतवल के बम्हनी-दानपत्र से ज्ञात होता है क्योंकि लिपिशास्त्रीय दृष्टि से यह अभिलेख 5वीं शती ई० के मध्य का है, इसलिए इस वंश की स्थापना चौथी शती ई० के तीसरे पाद में किसी समय स्पष्टतः समुद्रगुप्त की कृपा से हुई होगी। कम से कम इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बुन्देलखण्ड-बघेलखण्ड प्रदेश में समुद्रगुप्त के काल में यकायक तीन राजवंशों का आविर्भाव केवल संयोग की बात नहीं हो सकती। जैसा कि डॉ० गोयल ने सुझाया है इस तथ्य की सर्वाधिक तर्कसंगत व्याख्या इसी धारणा के आधार पर हो सकती है कि ये राजवंश समुद्रगुप्त की कृपा से उसके द्वारा अपनाई गई एक विशेष नीति के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आये थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त ने बुन्देलखण्ड-बघेलखण्ड में एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार और एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति हेतु राजनीतिक पुनर्गठन किया था। इस योजना और इसके लिए अपनाई गई नीति पर उसकी धार्मिक विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त ने जानबूझकर ब्राह्मण धर्म और संस्कृति में आस्था रखने वाले व्यक्तियों को इस प्रदेश में नियुक्त किया था। परिव्राजक नरेश स्वयं ब्राह्मण थे और उनकी उत्पत्ति चौदह विद्याओं के तत्त्वज्ञ, कपिल के अवतारस्वरूप श्रेष्ठ ऋषि, सभी तत्त्वों के ज्ञाता भारद्वाजगोत्रीय नृपति परिव्राजक सुशर्मा से हुई थी। उच्चकल्प वंश की सामाजिक प्रतिष्ठा अज्ञात है लेकिन उनके एक राजा के नाम में 'स्वामी' शब्द आता है जो उस युग में ब्राह्मणों में लोकप्रिय था। स्वयं उच्चकल्प अभिलेखों में ऐसे अनेक ब्राह्मणों का उल्लेख हुआ है जिनके नाम के अन्त में 'स्वामी' शब्द आता है। लेकिन पाण्डव वंश के नरेश स्पष्टतः चन्द्रवंशीय क्षत्रिय थे यद्यपि इतना निश्चित है कि परिव्राजकों और उच्चकल्पों के समान वे भी ब्राह्मणों को दान देने में बहुत रुचि रखते थे। वास्तव में इन वंशों के अभिलेखों ब्राह्मणों को भूमिदान दिये जाने की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। यह तथ्य अत्यन्त रोचक है कि केवल परिव्राजक और उच्चकल्प इन दो राजवंशों के ही ब्राह्मणों को भूमिदान का उल्लेख करने वाले एक दर्जन से अधिक दानपत्र आजकल उपलब्ध हैं। इतने अधिक दानपत्र गुप्त साम्राज्य के किसी अन्य प्रान्त से नहीं मिलते। दूसरे, इन दानपत्रों में भूमिदान की प्रशंसा और समर्थन में 'महाभारत' को उद्धृत किया गया है। उदाहरणार्थ शर्वनाथ के 214 गुप्त सम्वत् के खोह दान-पत्र में कहा गया है। "शतसाहस्री संहिता महाभारत में वेद-व्यवस्थापक, ऋषि-श्रेष्ठ, पराशर-पुत्र व्यास द्वारा यह कहा गया है—हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर ब्राह्मण को दान दी गई भूमि की सावधानी से रक्षा करो; यह (सत्य ही) (दान की) रक्षा दान देने से अधिक पुण्यकर

नोट

है। नियमानुसार, राजाओं को किसी अमांगलिक अवस्था का अनुभव नहीं करना पड़ता, किन्तु भूमिदान करने से वे सदैव के लिये शुद्ध हो जाते हैं। पृथ्वी सागर से प्रारम्भ होकर (बहुसंख्यक) राजाओं द्वारा भोगी गई है; जो भी किसी समय विशेष पर पृथ्वी का स्वामी होता है, उसे उस समय विशेष पर (यदि वह इस दान को बनाए रखता है तो इसका फल!) भूमि दान करने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में सुखलाभ करता है, (किन्तु) दान का अपहरणकर्ता तथा (अपहरण-कार्य का) अनुमोदन करने वाला उतने ही वर्षों तक नरकवास करेंगे। जो दान में दी गई भूमि का-चाहे वह स्वयं द्वारा दान दी गई हो अथवा किसी अन्य के द्वारा दान दी गई हो-अपहरण करता है, वह कुत्ते की विष्टा का कीड़ा बनता है तथा अपने पितरों के साथ (नरक में) अधःपतित होता है। जो पहले दान में दी गई भूमि का अपहरण करते हैं, वे पुनः शुष्क वृक्ष कोटरों में तथा जल-विहीन मरुस्थलों में निवास करने वाले सर्पों के रूप में जन्म ग्रहण करते हैं।”

हमने खोह-दानपत्र के इस अंश को विस्तृत रूपेण उद्धृत किया है क्योंकि यह अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस उद्धरण से न केवल यह ज्ञात होता है कि गुप्त सम्वत् 214 में ‘महाभारत’ शतसाहस्री संहिता के रूप में अस्तित्व में आ चुकी थी, वरन् इससे उच्चकल्प और परिव्राजक वंशों में इस ग्रन्थ की विशेष लोकप्रियता और प्रभाव का संकेत मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के द्वारा नियुक्त इन वंशों ने वन्य प्रदेश में ब्राह्मणों को सायास बसाने और ‘महाभारत’ की सहायता से बुन्देलखण्ड-बघेलखण्ड की वन्य जातियों में आर्यधर्म और संस्कृति को फैलाने की नीति अपनाई थी। अगर हम यह याद रखे कि आटविक जातियाँ भारत के सुसभ्य राज्यों के लिये सदैव संकट का कारण रहती थीं एवं अशोक जैसे सम्राट को भी अपने अभिलेखों में उन्हें प्रच्छन्न चेतावनी देनी पड़ी थी कि अगर उन्होंने अपने उपद्रवी स्वभाव को नहीं छोड़ा तो उसे उनके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा तो समुद्रगुप्त के द्वारा अपने प्रभुत्व के अन्तर्गत ब्राह्मण राजवंशों की नियुक्ति और उनके माध्यम से आटविक जातियों में ब्राह्मणों धर्म को फैलाने एवं उनके बीच में भूमिदान के आकर्षण द्वारा उच्च जातीय और विद्वान ब्राह्मणों को बसाने का प्रयास उसके द्वारा आटविक जातियों को उपद्रवी बनने से रोकने की नीति का अंग मानना पड़ेगा। यह तथ्य समुद्रगुप्त की राजनीति में धर्म के प्रभाव और उपयोग का अच्छा उदाहरण है।

प्रयाग-प्रशस्ति को चौथी और अन्तिम सूची में हरिषेण ने उन राजाओं को गिनाया है जिन्होंने सेवा करने के लिए अपने आपको प्रस्तुत करके (आत्म निवेदन), अपनी कन्याओं को विवाह में देकर (कन्योपायनदान) एवं अपने राज्यों पर शासन करते रहने के लिए गरुड़ की मुहर लगे आज्ञापत्र मांगकर (गरुत्म-दङ्क स्वविषय मुक्ति शासन याचन) समुद्रगुप्त के प्रचण्ड शासन को परितुष्ट किया। इन राजाओं को समुद्रगुप्त के मित्र और अधीन-मित्र राज्य माना जा सकता है। यह मानना आवश्यक नहीं है कि समुद्रगुप्त ने इन तीनों नीतियों का प्रयोग इस सूची के प्रत्येक राजा के साथ किया था। इन राजाओं में हरिषेण ने दैवपुत्रवाहि (जिसकी पहचान लघु कुषाण नरेश किदार से की जा सकती है), वाहानुषाहि (ईरान का सासानी शाहशाह) तथा सिंहल (आधुनिक लंका) आदि सब द्वीपों (दक्षिणी-पूर्वी एशिया का द्वीप समूह) के शासकों को परिगणित किया है। इनमें लंका के साथ समुद्रगुप्त के सम्बन्ध की पृष्ठभूमि में धर्म की कुछ भूमिका दिखाई देती है। वांग-हिण्ट्जे द्वारा लिखित एक चीनी ग्रंथ ‘हिंग-चु आन’ में चर्चा आई है कि सिंहल के राजा श्री मेघवर्ण ने भारत नरेश सॉम्यु-तो-त्लो कि-तो (समुद्रगुप्त) के पास एक दूत मण्डल भेजकर सिंहली भिक्षुओं के लिए बोध गया में एक विहार बनवाने की अनुमति मांगी थी। समुद्रगुप्त ने यह अनुमति सहर्ष प्रदान की। सातवीं शती ई० में श्वान-च्यांग की भारत यात्रा के समय तक यह विहार एक शानदार संस्था बन चुका था। इसके प्राचीन इतिहास की चर्चा करते समय श्वान-च्यांग ने लिखा है कि इसे बनवाने की अनुमति पाने के लिए सिंहल नरेश ने अपने देश के सब मणिमुक्त भारत-नरेश को दे दिये थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त व्यक्तिगत रूप से वैदिक यज्ञ धर्म और वैष्णव मत में आस्था रखता था लेकिन अन्य धर्मों, विशेषतः बौद्ध धर्म के साथ उसके अच्छे सम्बन्ध थे। उसने एक ओर वैदिक और वैष्णव मतों को व्यक्तिगत रूप से प्रश्रय दिया और दूसरी ओर अन्य धर्मावलम्बियों के साथ सहिष्णुता का व्यवहार किया। उसकी इस विचारधारा को उसके उत्तराधिकारी बराबर महत्व देते रहे। उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों के अनुसार उसने चिरोत्सन अश्वमेघ किया था। उसके अश्वमेघ का उल्लेख प्रयाग प्रशस्ति में नहीं है, लेकिन इस अवसर पर उसके द्वारा जारी की गई सुवर्ण मुद्राएँ आजकल उपलब्ध हैं। उसकी पौत्री प्रभावती गुप्ता के पूना दानपत्र में तो उसे

नोट

‘अनेकाश्वमेधयाजी’ भी कहा गया है। सामान्यतः ‘चिरोत्सन’ शब्द का अर्थ ‘दीर्घकाल से प्रचलित’ माना जाता है परन्तु जैसा कि विश्वम्भरशरण पाठक और जगन्नाथ अग्रवाल ने दिखाया है, इस शब्द का सही अर्थ ‘दीर्घकाल तक चलने वाला’ है। शायद समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों का आशय यह था कि जबकि अन्य नरेशों ने कुछ ही समय में सम्पन्न हो जाने वाले अश्वमेध किये थे। समुद्रगुप्त ने ‘दीर्घकाल तक चलने वाला’ अश्वमेध किया। प्रयाग प्रशस्ति में अश्वमेध के अनुल्लेख का कारण सामान्यतः प्रशस्ति का इस यज्ञ के उपरान्त उत्कीर्ण होना माना जाता है, परन्तु डॉ॰ गोयल का कहना है कि यह प्रशस्ति हो सकता है अश्वमेध के अवसर पर उत्कीर्ण करवाई गई हो और जिस स्तम्भ पर यह उत्कीर्ण है उसको यज्ञ में शोभा यूप के रूप में काम लाया गया हो।

समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उसे ‘धर्म प्राचीर बन्ध’ कहा गया है। इसके साथ ही वह अपने शासन को प्रचण्ड शासन भी बताता है। उसने धर्म के संरक्षण और अभिवृद्धि के साथ एक प्रचण्ड शासन व्यवस्था की स्थापना करके अपने को एक आदर्श हिन्दू राजा सिद्ध किया। वास्तव में समुद्रगुप्त का जीवन, विजय और व्यक्तित्व, एक हिन्दू सम्राट का सर्वोत्तम आदर्श उपस्थित करते हैं। वह बौद्ध धर्म के राजनीतिक आदर्श का, जिसका प्रतिनिधित्व अशोक की उपलब्धियों में माना जाता है, हिन्दू धर्म के द्वारा प्रस्तुत सर्वोत्तम उत्तर कहा जा सकता है। अशोक के समान वह भी एक धार्मिक आदर्श से प्रभावित हुआ लेकिन यह आदर्श वैदिक और वैष्णव चिन्तन का परिणाम था। वह अपने को घनद, वरुण, इन्द्र और अन्तक के समान अर्थात् उत्तर, पश्चिम, पूर्व और दक्षिण के लोकपालों के समान बतलाता है। यह पद सर्वप्रथम हमें सातवाहनों के अभिलेखों में मिलता है। ‘मनुस्मृति’ में भी कहा गया है कि राजा अपने प्रभाव से अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्र, यम, वरुण कुबेर व इन्द्र होता है। समुद्रगुप्त के द्वारा ‘घनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य’ पद का प्रयोग इस ओर संकेत करता है कि वह सम्राट् पद की दैवी अवधारणा में विश्वास करता था। यम के साथ उसकी तुलना उसकी ‘कृतान्तपरशु’ उपाधि में भी की गई है। प्रयाग-प्रशस्ति में एक स्थल पर उसको ‘पृथिव्यामप्रतिरथ’ कहा, गया है। **फ्लीट** ने इसका अर्थ किया था ‘वह जिसका पृथ्वी पर कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो’ और सोहनी ने ‘अप्रतिमरथी’ परन्तु जैसा कि **छाबड़ा** ने ध्यान दिलाया है ‘विष्णु सहस्रनाम’ में अप्रतिरथ विष्णु का एक नाम है। इसलिए इस पद का अर्थ पृथ्वी पर विचरण करने वाला अप्रतिरथ अर्थात् विष्णु भी हो सकता है। प्रयाग प्रशस्ति में आगे समुद्रगुप्त को ‘अचिन्त्य’ भी कहा गया है। इसे भी ‘विष्णु सहस्रनाम’ के 89वें ‘श्लोक में विष्णु का एक नाम बताया गया है। इस अभिलेख में उसका ‘साध्वसाधूदय प्रलय हेतु पुरुषस्य’ रूप में वर्णन तो गीता में कृष्ण के इस कथन का अनायास स्मरण करा देता है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

—भगवद्गीता, 4.8

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त अपने को विष्णु का अवतार मानता था। प्रयाग-प्रशस्ति के अगले भाग में ही हरिषेण उसे पृथ्वी पर वास करने वाला देवता (लोकधामनोदेवस्य) कहता है। इस प्रकार अशोक और समुद्रगुप्त के आदर्श दो पृथक् धार्मिक चिन्तन के परिणाम के रूप में उभरकर हमारे सम्मुख आते हैं। व्यावहारिक राजनीति पर इन दोनों आदर्शों के प्रभाव का अन्तर भी स्पष्ट है। जैसा कि डॉ॰ गोयल ने कहा है अशोक की नीति के परिणामस्वरूप उसके समय से मौर्य साम्राज्य के विघटन का इतिहास प्रारम्भ होता है और समुद्रगुप्त के आविर्भाव से गुप्त साम्राज्य के गौरव का, जिसका वह स्वयं निर्माता और मूर्त रूप था।

4.5 रामगुप्त (Ramagupta)

गुप्त अभिलेखों से सूचित होता है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त बना परन्तु विशाखदत्त द्वारा रचित ‘देवी चन्द्रगुप्तम्’ नाटक के उपलब्ध अंशों, बाण के ‘हर्षचरित’ राजशेखर की ‘काव्यमीमांसा’ तथा एक मुस्लिम कृति ‘मजमलुततवारीख’ आदि साहित्यिक साधनों एवं राष्ट्रकूटों के संजन, कैम्बे तथा सांगली दानपत्रों के सम्मिलित साक्ष्य से संकेतित है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त बना जिसे उसके अनुज द्वितीय चन्द्रगुप्त ने मारकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। उपर्युक्त साक्ष्यों के अनुसार

नोट

रामगुप्त एक कायर एवं नपुंसक शासक था और शक नरेश द्वारा कहीं पर घेर लिये जाने पर उसने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकाधिपति को देना स्वीकार कर लिया था। इस पर द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शकाधिपति को धोखे से मारकर साम्राज्ञी और साम्राज्य का सम्मान बचाया और बाद में अवसर पाकर रामगुप्त की भी हत्या करके सिंहासन पर अधिकार और ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया। ये घटनाएँ ऐतिहासिक हैं अथवा नहीं इस विषय में पिछले करीब पचास वर्षों से बड़ा विवाद चला आ रहा है, परन्तु पिछले कुछ वर्षों से रामगुप्त के सिक्के व अभिलेख प्रकाश में आ जाने से उसकी ऐतिहासिकता सिद्ध हो गई है, लेकिन ये सिक्के एवं उसके अभिलेख केवल पूर्वी मालवा से मिले हैं। यह तथ्य इस साहित्यिक परम्परा के विरुद्ध है कि रामगुप्त ने अपने पिता के सम्पूर्ण साम्राज्य पर शासन किया था और उस समय द्वितीय चन्द्रगुप्त केवल एक 'कुमार' था। इस विरोधाभास को सुलझाने के लिये डॉ० गोयल ने सुझाव रखा है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद द्वितीय चन्द्रगुप्त ने, जो रामगुप्त से छोटा था, साम्राज्य पर अधिकार कर लिया होगा लेकिन रामगुप्त ने उसके अधिकार को न मानकर पूर्वी मालवा में विद्रोह कर दिया होगा। बाद में चन्द्रगुप्त ने इस प्रदेश पर शक आक्रमण का लाभ उठाकर पहिले शकों को वहां से निष्कासित किया होगा और फिर रामगुप्त को मारकर ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया होगा। अपने अग्रज की हत्या और अपनी भाभी के साथ विवाह के कारण उसकी जो बदनामी हुई उसे दूर करने के लिये उसने 'देवी-चन्द्रगुप्तम' नाटक लिखवाया होगा जिसमें रामगुप्त को कायर और नपुंसक बताकर चन्द्रगुप्त के द्वारा सिंहासन पर अधिकार व ध्रुवदेवी के साथ विवाह को उचित ठहराने का प्रयास किया गया। बी.पी. सिन्हा तथा एस.के. मेती ने डॉ० गोयल के इन सुझावों को सत्य के निकटतम माना है। जो भी हो अब इतना तो निश्चित है कि रामगुप्त गुप्तवंशीय नरेश था और केवल पूर्वी मालवा का शासक था। रामगुप्त के सिक्के विदिशा-एरिकिण प्रदेश (पूर्वी मालवा) से मिले हैं। डॉ० के.डी. वाजपेयी ने इनको सिंह, गरुड़, गरुड़ध्वज तथा 'बार्डर लीजेण्ड' इन चार प्रकारों में विभाजित किया है। इन सिक्कों पर गरुड़ ध्वज का अकेल रामगुप्त को गुप्तवंशीय प्रमाणित करता है। उसके अभिलेख विदिशा के समीप दुर्जनपुर ग्राम से मिले हैं। ये जैन मूर्ति-अभिलेख हैं। इन प्रतिमाओं की स्थापना रामगुप्त ने करवाई थी। इससे लगता है (यद्यपि पूर्णतः प्रमाणित नहीं होता) कि रामगुप्त जैन था। इनमें दो प्रतिमाएँ जैनाचार्य चन्द्रप्रभ की हैं और तीसरी जैनाचार्य पुष्यदन्त की। रामगुप्त के जैन होने का सूक्ष्म-सा संकेत राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के संजन-दानपत्र से भी मिलता है। इसमें जैन धर्मावलम्बी अमोघवर्ष ने रामगुप्त के स्थान पर द्वितीय चन्द्रगुप्त की आलोचना की है। यह सर्वथा सम्भव है कि अहिंसावादी जैन धर्म अपनाने के कारण ही विशाखदत्त ने द्वितीय रामगुप्त पर कायर होने का आरोप लगा दिया हो।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. गुप्तवंश का प्रारंभिक प्रयाग प्रशस्ति एवं अन्य गुप्त लेखों में प्रदत्त वंशावली से ज्ञात होता है।
 (क) जीवनी (ख) इतिहास
 (ग) कथाकल्प (घ) कथासाहित्य
6. प्रथम चन्द्रगुप्त की महारानी कुमारदेवी राज्य की राजकुमारी थी।
 (क) गुप्त (ख) नन्द
 (ग) लिच्छवि (घ) मौर्य
7. चन्द्रगुप्त के द्वारा को राजा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था।
 (क) समुद्रगुप्त (ख) कुमारगुप्त
 (ग) स्कन्दगुप्त (घ) अशोक
8. गणपति नाग संभवतः का शासक था।
 (क) द्वारका (ख) मथुरा
 (ग) लिच्छवि (घ) मगध

4.6 द्वितीय चन्द्रगुप्त का धार्मिक आदर्श (Religious Ideal of Chandragupta II)

नोट

द्वितीय चन्द्रगुप्त, जिसने रामगुप्त को मारकर सम्पूर्ण साम्राज्य को अधिकृत किया, समुद्रगुप्त की महादेवी दत्तदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। उसने 'विक्रम' उपाधि धारण की जो विभिन्न शब्दों के साथ उसके सिक्कों पर प्रयुक्त मिलती है यथा सिंहविक्रम, अजितविक्रम, विक्रमादित्य, चक्रविक्रम आदि। उसके बहुत से अभिलेख और अनेक प्रकार के सिक्के उपलब्ध हैं। इनसे राजनीतिक महत्त्व की बहुत कम सूचनाएँ ज्ञात होती हैं, परन्तु इनसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि उसने अपने पूर्वजों की तरह धर्म-सहिष्णुता की नीति को अपनाया था। उसने विभिन्न मतावलम्बियों को शासन-तन्त्र में उच्च पदों पर नियुक्त किया था। उसका मन्त्री वीरसेन, जिसने शिव की पूजा करने हेतु एक गुफा बनवाई थी, शैव था और सेनापति आम्रकादर्दव बौद्ध। आम्रकादर्दव ने सांची प्रदेश में स्थित काकनादबोट महाविहार को 25 दीनार तथा ईश्वरवासक नामक ग्राम प्रतिदिन पांच भिक्षुओं को भोजन कराने तथा रत्नगृह में दीपक जलाने हेतु दान किये थे। आम्रकादर्दव के बौद्ध होने के बावजूद उस पर द्वितीय चन्द्रगुप्त की बड़ी कृपा थी। मथुरा से प्राप्त एक लेख के अनुसार लकुलीश सम्प्रदाय के शैव आचार्य ने चन्द्रगुप्त के शासनकाल में पुण्य लाभ हेतु एक गुफा में कपिल विमल तथा उपमित विमल नामक आचार्यों की प्रतिमाएँ शिवलिंग सहित स्थापित की थीं। चीनी यात्री फाह्यान ने भी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में सर्वत्र धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण पाया था। यह वातावरण द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासनकाल में अपने ग्रन्थों की रचना करने वाले महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में भी मिलता है। ये तथ्य चन्द्रगुप्त द्वारा धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाये जाने के प्रमाण हैं।

लेकिन धार्मिक रूप से उदार और सहिष्णु होते हुए भी चन्द्रगुप्त की राजनीति उसके धार्मिक विचारों से अछूती नहीं रही। व्यक्तिगत रूप से वह वैष्णव मत में श्रद्धावान था। इसके कई प्रमाण उपलब्ध हैं। उसके द्वारा शक-विजय के उपलक्ष में जारी की गई मुद्राओं पर एवं अभिलेखों में उसे 'परमभागवत' कहा गया है। उसकी रजत मुद्राएँ विष्णु के वाहन गरुड़ से सुशोभित हैं। उसके उत्तराधिकारियों के लेखों में उसके लिये 'स्वयं च अप्रतिरथ' वाक्य का प्रयोग किया है। छाबड़ा के अनुसार इसका तात्पर्य है, साक्षात् अप्रतिरथ अर्थात् 'विष्णु' क्योंकि विष्णुसहस्रनाम में 'अप्रतिरथ' को विष्णु का एक नाम बताया गया है। हो सकता है चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारियों की यह मान्यता रही हो कि जिस प्रकार विष्णु ने दैत्यों को हराया था उसी तरह चन्द्रगुप्त ने भी शकों को हराकर पृथ्वी को म्लेच्छों से विहीन किया, क्योंकि वह वैष्णव था इसलिये उसके कार्यों की तुलना विष्णु से की जानी स्वाभाविक थी।

द्वितीय चन्द्रगुप्त के राजनीतिक आदर्श को समझने के लिये चक्रविक्रम प्रकार की मुद्राएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन मुद्राओं पर एक बड़े चक्र में भगवान विष्णु का चक्रपुरुष के रूप में अंकन हुआ है। उनके सामने राजा खड़ा है जिसे चक्रपुरुष तीन गोल वस्तुएँ देते हुए दिखलाये गए हैं। शिवराममूर्ति की मान्यता थी कि भगवान चक्रपुरुष सम्राट को जो तीन वस्तुएँ दे रहे हैं वे तीन शक्तियाँ हैं—प्रभुशक्ति, उत्साह शक्ति, तथा मन्त्रशक्ति। वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस सिक्के का अध्ययन पांचरात्र आगम के 'अहिर्बुधन्य संहिता' नामक ग्रन्थ की सहायता से किया है।



सावधानी

यह ग्रन्थ 'चक्र' तथा 'चक्रिन' की स्तुति से प्रारम्भ होता है। इसमें 'चक्र' को प्रमुख आयुध ही नहीं बताया गया है स्वयं भगवान के समकक्ष कहा गया है। बताया गया है कि सुदर्शन चक्र रूप में प्रकट भगवान विष्णु वहीं हैं जिनको शैव-शिव रूप में, बौद्ध बुद्ध रूप में, जैन जिन रूप में, याज्ञिक यज्ञपुरुष रूप में और कपिल के अनुयायी पुरुष रूप में पूजते हैं।

विष्णु की दो शक्तियाँ हैं—इच्छा या लक्ष्मी और क्रिया या सुदर्शन। समस्त जगत् के जड़ और चेतन इसी चक्र में समाये हुए हैं। इस ग्रन्थ में 'सुदर्शनवपुः श्रीमान्', 'सर्व जगत्स्थावरजगमम्', 'चक्रस्वरूप धृक्भगवान्', 'चक्रात्मा हरिः', 'चक्ररूपी स्वयं हरिः' आदि वाक्य चक्र की महिमा के लिए आये हैं। इस ग्रन्थ में चक्रपुरुष की मूर्ति बनाने के नियम भी प्रस्तुत मुद्रा पर बनी मूर्ति के अनुरूप दिए गए हैं। इसमें कहा गया है कि महाचक्र सुदर्शन के 64 आरे तथा दुहरी किनारे होती है जिसके मध्य भगवान् विष्णु का स्वरूप दिखलाई पड़ता है। मानव रूप में सुदर्शन पुरुष दो भुजाओं वाला तथा दैवी स्वरूप में आठ, सोलह अथवा बासठ भुजाओं वाला होता है। उसे चक्र के मध्य अंकित किया जाता

नोट

है और राजा के द्वारा पूजित दिखाया जाता है। प्रस्तुत मुद्रा में, जिसमें 64 आरे दिखाने के लिए किनारे पर इतनी ही घुण्डियाँ बनायी गई हैं, ये सभी विशेषताएँ मिलती हैं।

‘अहिर्बुध्न्य संहिता’ में कहा गया है कि जो राजा सार्वभौम सत्ता प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं उन्हें सुदर्शन चक्र पुरुष की पूजा करनी चाहिए। जो राजा उसकी पूजा करता है वह अल्प समय में ही चक्रवर्ती सम्राट् बन जाता है और इस लोक में यश तथा कीर्ति प्राप्त करने के साथ परलोक में भी सार्वभौम सत्ता प्राप्त करता है। एक बार सौराष्ट्र के राजा श्रुतकीर्ति को गन्धर्व नगर के राजा ने हरा दिया, लेकिन सुदर्शन चक्र की पूजा करके श्रुतकीर्ति ने पुनः विजय प्राप्त कर ली। एक अन्य कथानुसार जब मणिशेखर नामक राजा पर संकट आया तो उसने सुदर्शन पुरुष की पूजा करके उससे मुक्ति प्राप्त की। जब उसने इसके पश्चात् भी एक माह तक उसकी भक्ति जारी रखी तो उसे चक्र पुरुष के दर्शन प्राप्त हुए। इस प्रकार चक्र पुरुष की अवधारणा का प्रतिपादन करके भागवत सम्प्रदाय के चिन्तकों ने तत्कालीन राजनीतिक विचारधारा को प्रभावित किया और इस राजनीतिक विचारधारा ने गुप्त सम्राटों को स्पष्ट है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त इस वैष्णव आदर्श में गम्भीररूपेण आस्थावान था।

डॉ. बी.सी. छाबड़ा ने द्वितीय चन्द्रगुप्त व अन्य गुप्त नरेशों की धार्मिक विचारधारा पर ‘विष्णुसहस्रनाम’ की सहायता से रोचक प्रकाश डाला है। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि लगभग सभी गुप्त सम्राटों के नाम भगवान विष्णु के उन नामों के पर्याय हैं जिनका उल्लेख ‘विष्णुसहस्रनाम’ में है। गुप्त वंश के संस्थापक महाराज गुप्त का नाम इसका प्रथम उदाहरण है क्योंकि ‘गुप्त’ को ‘विष्णुसहस्रनाम’ में विष्णु का एक नाम बताया गया है। गुप्त के पुत्र का नाम घटोत्कच था। यह नाम ‘घट’ तथा ‘उत्कच’ दो शब्दों के मिलने से बनता है ‘घट’ का तात्पर्य कुम्भ से है जिसकी गणना विष्णु के नामों में की गई है। तीसरे राजा प्रथम चन्द्रगुप्त का नाम भी विष्णु के नामों में से एक है और उसके पुत्र ‘समुद्र’ के नाम के कई पर्याय ‘विष्णुसहस्रनाम’ में मिलते हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में हरिषेण ने उसके ‘पराक्रम’ तथा ‘कृतान्तपरशु’ आदि उपाधियों का उल्लेख किया है। ये उपाधियाँ ‘पराक्रम’ तथा ‘खण्डपरशु’ आदि शब्दों से बनी हैं जो विष्णु के सहस्र नामों में गिनाए गये हैं। इसी प्रकार इस लेख में तथा समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में समुद्रगुप्त को घनद, वरुण, इन्द्र तथा अंतक कहकर पुकारा गया है। ‘विष्णुसहस्रनाम’ में ये भी विष्णु के नामों के रूप में उल्लिखित हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है समुद्रगुप्त और द्वितीय चन्द्रगुप्त को ‘अप्रतिरथ’ भी कहा गया है जो इस ग्रन्थ में विष्णु का एक नाम बताया गया है। द्वितीय चन्द्रगुप्त की सुवर्ण मुद्राओं पर ‘देव श्रीः महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तः’ लेख अंकित मिलता है और ‘विष्णु सहस्रनाम’ के अनुसार देव विष्णु के सहस्रनामों में से एक है। द्वितीय चन्द्रगुप्त के पुत्रों के नाम गोविन्दगुप्त और कुमारगुप्त थे। इनमें ‘गोविन्द’ को ही नहीं ‘कुमार’ को भी विष्णु का नाम बताया गया है। इसी प्रकार प्रथम कुमारगुप्त ने ‘महेन्द्र’ ‘अजितमहेन्द्र’ ‘महेन्द्र सिंह’ ‘सिंहमहेन्द्र’ तथा ‘महेन्द्रकुमार’ आदि जो विरुद्ध धारण किये उनमें महेन्द्र तथा ‘अजित’ विष्णु के नाम हैं। कुमारगुप्त के पुत्र पुरुगुप्त का नाम भी विष्णु के ‘पुरुषोत्तम’ के नाम का लघुरूप हो सकता है। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त की धनुर्धारी प्रकार की मुद्राओं पर उपलब्ध ‘सुधन्वी’ उपाधि भी विष्णु के ‘धन्वी’ नाम का स्मरण कराने वाली है। द्वितीय चन्द्रगुप्त की वैष्णव धर्म में रुचि का तत्कालीन राजनीतिक स्थिति पर गम्भीर प्रभाव पड़ा इसका सर्वोत्तम उदाहरण वाकाटक इतिहास से मिलता है। उसने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक नरेश प्रथम पृथिवीषेण (लगभग 355-80 ई०) के युवराज द्वितीय रुद्रसेन (लगभग 380 ई०) से किया था। वाकाटक नरेश शैव थे। उनके अभिलेखों में प्रथम रुद्रसेन को महाभैरव का भक्त कहा गया है और प्रथम पृथ्वीषेण को ‘अत्यन्त माहेश्वर’। प्रथम पृथिवीषेण के उत्तराधिकारी भी प्रायः शैव ही थे। लेकिन उसके पुत्र द्वितीय रुद्रसेन ने गुप्त राजकुमारी प्रभावती गुप्ता से विवाह होने पर अपना परम्परागत शैव धर्म छोड़ दिया और चक्रपाणि विष्णु का उपासक बन गया। अब वह यह कहने लगा कि उसे श्री (राज्यलक्ष्मी) भगवान चक्रपाणि की कृपा से प्राप्त हुई थी। उसका यह मत-परिवर्तन इस तथ्य की पृष्ठभूमि में कि लगभग सभी वाकाटक शैव थे, बड़ा महत्वपूर्ण हो जाता है। इस परिवर्तन को उसके श्वसुर द्वितीय चन्द्रगुप्त एवं उसकी राजमहिषी प्रभावती गुप्ता के प्रभाव का परिणाम माना जा सकता है, क्योंकि प्रभावती गुप्ता भी अपने पिता की तरह परमवैष्णवी थी। उसके अभिलेखों में उसे ‘भगवत्पादनुध्याता’ कहा गया है। उसके पूना व रिथपुर-दानपत्र रामगिरिस्वामी की पादुकाओं के निकट से जारी किए गए थे।

नोट

द्वितीय चन्द्रगुप्त के दामाद द्वितीय रुद्रसेन की कुछ ही वर्ष शासन करने के पश्चात् मृत्यु हो गई (लग० 390 ई०)। उस समय उसके पुत्र दिवाकरसेन और दामोदरसेन अल्पवयस्क थे इसलिये उनके वयस्क होने तक वाकाटक शासन की बागडोर प्रभावती गुप्ता ने संभाली। प्रभावती गुप्ता एक प्रभावशाली व्यक्तित्व वाली महिला थी। अपने पितृकुल के लिये उसके मन में इतना सम्मान और अभिमान था कि विवाह के बाद भी उसने अपने नाम के साथ 'गुप्ता' शब्द का प्रयोग जारी रखा तथा स्वयं जारी किए गए अभिलेखों में गुप्त वंशावली दी।

राजमाता के रूप में प्रभावती गुप्ता ने 13 वर्ष तक अवश्य ही शासन किया। इसके कुछ समय पश्चात् अपने ज्येष्ठ पुत्र दिवाकरसेन की मृत्यु हो जाने पर वह अपने छोटे पुत्र दामोदरसेन की, जो बाद में द्वितीय प्रवरसेन के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ, संरक्षिका के रूप में शासन करने लगी। अपने संरक्षिका काल में प्रभावती गुप्ता ने सम्भवतः वैष्णव धर्म को प्रोत्साहन दिया। इसका प्रभाव उसके पुत्रों पर अवश्य पड़ा। यहाँ यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि द्वितीय प्रवरसेन अपने अभिलेखों में अपने मातामह द्वितीय चन्द्रगुप्त का देवगुप्त नाम से बराबर उल्लेख करता रहा।

4.7 शकों का उन्मूलन और उसमें धर्म की भूमिका (Abolishing of Shakas and Role of Religion)

द्वितीय चन्द्रगुप्त के शासन काल में समुद्रगुप्त द्वारा पराजित शकों ने पुनः सिर उठाया। उस समय उनका राज्य गुजरात तथा सौराष्ट्र तक ही रह गया था, लेकिन द्वितीय चन्द्रगुप्त उन्हें पड़ोसी रूप में न देखकर विदेशियों के रूप में देखता था। इसलिये उसने उनको उन्मूलित कर भारत भूमि को म्लेच्छों से विहीन करने के हेतु विजय अभियान प्रारम्भ किया। उसकी शक विजय की प्रमुख साक्षी उसकी वे रजत मुद्राएँ हैं जो उसने गुजरात व सौराष्ट्र के लिये शक मुद्राओं का अनुकरण करते हुए जारी की थी। इन मुद्राओं की विरलता एवं चन्द्रगुप्त के सेनापति आम्रकादर्दव के द्वारा 412 ई० में उदयगिरि की यात्रा (जो शक-अभियान के सिलसिले में की गई होगी) यह प्रमाणित करते हैं कि उसने यह आक्रमण अपने शासन के अन्तिम वर्षों में किया था।

शकों पर आक्रमण करते समय चन्द्रगुप्त सम्भवतः अपनी धर्म भावना से बहुत प्रभावित हुआ था। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं वह निष्ठावान वैष्णव था और अपने को साक्षात् विष्णुन्तक कहने में संकोच नहीं करता था। अब विष्णु का एक महनीय कार्य म्लेच्छों का संहार करना है। सम्भवतः चन्द्रगुप्त म्लेच्छ माने जाने वाले शकों का विनाश करके अपने उपर्युक्त दावे को सत्य सिद्ध करना चाहता था। इसका कुछ संकेत 'मुद्राराक्षस' नाटक से भी मिलता है। इस नाटक की रचना विशाखदत्त ने की थी जिसे अधिकांश विद्वान द्वितीय चन्द्रगुप्त का समकालीन मानते हैं। इस नाटक के 'भरतवाक्य' में कहा गया है—“इस पृथ्वी पर, जिसने चराचर जगत् की माता होने के कारण प्रलयकाल में अपने पुत्रों की प्राणरक्षा के लिये महाशक्तिशाली, रक्षासमर्थ वराहरूप में अवतीर्ण स्वयंभू भगवान विष्णु की दन्त-कोटि का अवलम्ब लिया था, भगवान् नारायण के ही राजरूप में हुए अवतार महाराज चन्द्रगुप्त अपने सुखी और समृद्ध बन्धु-बंधवों और अनुचर परिचरों सहित फलते-फूलते हुए सदा शासन करें जिनके प्रबल भुजदण्ड का आश्रय पृथ्वी ने विदेशी बर्बर आक्रान्ताओं से उत्पन्न संकट में लिया है।”

'मुद्राराक्षस' के भरतवाक्य से द्वितीय चन्द्रगुप्त के राजनीतिक आदर्श की धार्मिक पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाती है। स्पष्टतः वह अपने चक्रविक्रम प्रकार के सिक्कों एवं इस नाटक आदि के माध्यम से इस धारणा को लोकप्रिय बना रहा था कि वह पृथ्वी पर विचरण करने वाला विष्णु अथवा विष्णु का विशेष कृपापात्र है तथा पृथ्वी का म्लेच्छों से उद्धार करने वाला है। इसी धारणा की अभिव्यक्ति के लिए ही उसने सम्भवतः उदयगिरि गुफा में उपलब्ध वह सुप्रथित मूर्ति बनवाई थी जिसमें भगवान वराह को पृथ्वी का उद्धार करते हुए दिखाया गया है।

4.8 प्रथम कुमारगुप्त : धर्म सहिष्णुता की नीति (Kumaragupta I : Policy of Secularism)

द्वितीय चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका पुत्र प्रथम कुमार गुप्त था। गुप्त सम्वत् 96 (415 ई०) का बिलसद अभिलेख उसके शासनकाल का प्रथम अभिलेख है। मुद्राओं से उसकी अन्तिम तिथि सम्वत् 136 (455 ई०) ज्ञात है। अपने

नोट

जीवनकाल में उसने कई धर्मों में रुचि ली। अपने शासनकाल के प्रारम्भ में वह वैष्णव धर्मावलम्बी रहा होगा, क्योंकि गुप्त अभिलेखों में उसे 'परमभागवत' कहा गया है तथा उसके स्वयं के सिक्कों पर गरुड़ की मूर्ति एवं 'परमभागवत' विरुद्ध अंकित मिलते हैं। उसकी व्याघ्रनिहन्ता प्रकार की मुद्राओं पर उसे साक्षात् नरसिंह (विष्णु का एक अवतार) के समान कहा गया है। उसकी रुचि वैदिक यज्ञधर्म में थी। उसने निश्चय ही अश्वमेध भी किया था जिसके अवसर पर ब्राह्मणों को दान देने के लिए उसने अश्वमेध प्रकार की मुद्राएँ जारी कीं जिनपर यूप से बन्धे अथवा शोभा वस्त्रों व आभूषणों से अलंकृत अश्व का चित्र मिलता है। उसकी कुछ ताम्रमुद्राओं पर उसे आहुति देते हुए दिखाया गया है। परन्तु बाद में किसी समय उसका झुकाव कार्तिकेय उपासना की ओर हो गया लगता है क्योंकि उसने अपने पुत्र का नाम स्कन्द रखा तथा अपनी कुछ मुद्राओं पर कार्तिकेय का एवं मयूर का अंकन करवाया।

प्रथम कुमारगुप्त की कार्तिकेय उपासना का पड़ोसी और अधीर राज्यों पर भी कुछ प्रभाव पड़ा। उसका समकालीन नलवंशीय राजा भवत्तवर्मा था जिसने वाकाटकों पर आक्रमण करके उनके राज्यों पर कुछ समय के लिए अधिकार कर लिया था। जैसाकि डॉ॰ गोयल ने लगभग सिद्ध कर दिया है, नलों पर वह सफलता सम्भवतः प्रथम कुमारगुप्त की सहायता से प्राप्त हुई थी क्योंकि वाकाटक राजधानी पर अधिकार करके भवत्तवर्मा प्रयाग की, जो गुप्तों की राजधानी थी यात्रा करने गया था। उसकी मुद्राओं पर 'महेन्द्रादित्य' व उसके उत्तराधिकारियों की मुद्राओं पर 'विक्रमादित्य' लेख मिलने से भी उसका गुप्तों के अधीन होना प्रमाणित होता है। इन तथ्यों के प्रकाश में उसका अपने पुत्र का नाम स्कन्दवर्मा रखना और स्वयं कार्तिकेय में भक्ति प्रकट करना उसके ऊपर प्रथम कुमारगुप्त के प्रभाव का परोक्ष परिणाम माना जा सकता है।

लेकिन प्रथम कुमारगुप्त ने अपने मत का सायास प्रचार नहीं किया था। उसकी धार्मिक नीति धर्म सहिष्णुता की परम्परागत नीति थी। उसके शासन काल में हम सभी सम्प्रदायों को उन्नति करते हुए पाते हैं। गंगाधर-लेख के अनुसार उसके शासनकाल में विष्णु भट्ट तथा हरिभट्ट ने एक विष्णु मन्दिर की स्थापना करवायी थी। इसी लेख में एक शाक्त देवालय के निर्माण का भी उल्लेख मिला है। बैग्राम ताम्रलेख (448 ई॰) में गोविन्दस्वामी (विष्णु) के मन्दिर को दान देने का वर्णन किया गया है। करमदण्ड-लेख (436 ई॰) में कुमारगुप्त के महाबलाधिकृत शिखरस्वामी के द्वारा शिव की प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख आता है। बिलसद-लेख (415 ई॰) के अनुसार ध्रुवशर्मा नामक व्यक्ति ने कार्तिकेय के मन्दिर का निर्माण किया था। मंकुवार अभिलेख के अनुसार भिक्षु बुद्धमित्र ने गौतम बुद्ध की एक प्रतिमा का निर्माण कराया था और मन्दसौर अभिलेख के अनुसार दशपुर की तन्तुवाय श्रेणी (जुलाहों की समिति) ने एक भव्य सूर्य मन्दिर का। उदयगिरि के एक गुहा-लेख (425 ई॰) में श्रेष्ठ गुप्त सम्राटों के समृद्ध युग में पार्श्वनाथ की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख मिलता है। साँची-अभिलेख (451 ई॰) के अनुसार सनसिद्ध की पत्नी हरिस्वामिनी ने अपने माता व पिता के पुण्यार्थ साँची के काकनादबोट महाविहार को 12 दीनार दान दी थीं जिसके ब्याज से मठ में रहने वाले भिक्षुओं को भोजन कराया जा सके। उसने तीन दीनार का एक दान और दिया था जिसके ब्याज से रात में रत्नगृह में दीपक जलाया जा सके। हरिस्वामी ने भी एक दीनार दान दी थी जिसके सूद से बुद्ध मन्दिर में दीपक जलाया जा सके। धनैदह ताम्रलेख से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त के शासनकाल में भातुकटक निवासी छन्दोग् ब्राह्मण वराहस्वामी को एक कुल्यवाप भूमि प्रदान की गई थी। इस भूमिदान के साथ 'महाभारत' का भूमिदान माहात्म्य भी उद्धृत है। दामोदरपुर-ताम्रपत्र (432-33 ई॰) में तीन दीनार से खरीदी हुई एक कुल्यवाप भूमि की सिंचाई व्यवस्था हेतु दान दिए जाने का वर्णन है। इस लेख के साथ भी 'महाभारत' के भूमिदान माहात्म्य को उद्धृत किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में प्रथम कुमारगुप्त ने बौद्ध धर्म में कुछ दिलचस्पी ली थी। चीनी यात्री श्वान-च्यांग के अनुसार नालन्दा महाविहार की स्थापना 'शकादित्य' ने की थी। इस शकादित्य की पहचान प्रथम कुमारगुप्त से की जा सकती है क्योंकि उसकी उपाधि 'महेन्द्रादित्य' 'शकादित्य' का पर्याय है (महेन्द्र=शक=इन्द्र)। दूसरे, बौद्धग्रन्थ 'चन्द्रगर्भपरिपृच्छा' के अनुसार महेन्द्रसेन नाम के राजा के शासनकाल में यवनों, पल्लवों तथा शकों ने आक्रमण किये थे तथा वे गंगा तक बढ़ आये थे। लेकिन महेन्द्रसेन के पुत्र ने उन्हें पराजित कर दिया। तदुपरान्त महेन्द्रसेन अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर स्वयं भिक्षुरूप में धार्मिक जीवन व्यतीत करने चला गया। जयसवाल ने महेन्द्रसेन को प्रथम कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य से अभिन्न माना है। सोमदेव रचित 'कथासरित्सागर' के अनुसार भी

नोट

महेन्द्रादित्य अपने पुत्र विक्रमादित्य को जिसने म्लेच्छों को पराजित किया था, अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करके धर्मलाभ हेतु वाराणसी चला गया था। सिन्हा, गोयल व अन्य अनेक विद्वान मानते हैं कि महेन्द्रादित्य की पहचान कुमारगुप्त से व विक्रमादित्य की पहचान स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य से की जानी चाहिए। उपर्युक्त साक्ष्य के समवेत अध्ययन से यह बात निश्चित सी हो जाती है कि प्रथम कुमारगुप्त के जीवन के अन्तिम दिनों में उसका बौद्ध धर्म की ओर आकर्षण बढ़ गया था और वह राज्यभार अपने पुत्र स्कन्दगुप्त को सौंप कर वाराणसी चला गया था। इस निष्कर्ष की पुष्टि मौद्रिक साक्ष्य से भी होती है। प्रथम कुमारगुप्त के 'अप्रतिघ' प्रकार के सिक्के के पुरोभाग पर तीन मूर्तियाँ अंकित हैं जिनमें मध्यवर्ती मूर्ति प्रथम कुमारगुप्त की है। इसमें कुमारगुप्त धोती पहने हुए बिना राजोचित वेशभूषा व अलंकारों के हाथ जोड़े हुए दिखाया गया है। उसके सिर पर बुद्ध प्रतिमाओं के समान केश हैं बाएँ हाथ की ओर एक नारी है जो अपना दाहिना हाथ वितर्क मुद्रा में उठाये हुए है और उसके दाहिनी ओर एक पुरुष है जो बाएँ हाथ में ढाल लिये हुए है और दाहिना हाथ वितर्क मुद्रा में उठाये हुए है। अल्लेकर का मत है कि इस दृश्य में यह दिखाया गया है कि प्रथम कुमारगुप्त राज्यत्याग का निश्चय कर रहा है तथा उसकी रानी एवं युवराज उसे रोकने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन मुद्राओं के पृष्ठभाग पर उत्कीर्ण लेख 'अप्रतिघ' भी बौद्ध का स्मरण करवाने वाला है। 'प्रतिघ' शब्द का महायान बौद्ध धर्म में विशेष अर्थ है। वहाँ इसका अर्थ 'क्रोध' माना गया है और इसे मनुष्य को बन्धन में डालने वाले छः क्लेशों में एक बताया गया है। डॉ. गोयल का मत है कि इन सिक्कों पर लिखे 'अप्रतिघ' लेख का अर्थ क्रोध पर विजय प्राप्त करने वाला अथवा 'क्रोधहीन' मानना चाहिए। इससे संकेतित है कि कुमारगुप्त अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में बौद्ध बन गया था और साधना करके अपने को 'अप्रतिघ' कहने लगा था। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ये सिक्के उसके राजत्व काल के हैं, इसलिए मानना होगा कि उस समय धर्म साधना में लगा रहने के बावजूद वह नाम के लिए राजा बना रहा था। इसके बाद किसी समय वह सिंहासन त्याग कर पूर्णतः भिक्षु बन गया होगा। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख में प्रथम कुमारगुप्त के विषय में कहा गया है कि उसने 'आत्मशक्ति' से देवलोक प्राप्त किया था। डॉ. गोयल का सुझाव है कि यहाँ कुमारगुप्त के आत्मोत्सर्ग का उल्लेख है। यह असम्भव नहीं है। बौद्ध धर्म में इस प्रकार देहत्याग के अन्य कई उदाहरण ज्ञात हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. बघेलखंड में शासन करने वाला तीसरा राजवंश पांडव वंश था।
10. समुद्रगुप्त अपने को शिव का अवतार मानता था।
11. रामगुप्त एक कायर एवं नपुंसक राजा था।
12. चन्द्रगुप्त द्वितीय समुद्रगुप्त का अनुज था।

4.9 कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी (Successor of Kumaragupta)

प्रथम कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य (415-55 ई.) के शासनकाल के अन्त के साथ गुप्त साम्राज्य के चर्मोत्कर्ष का युग समाप्त हो गया। इसके बाद गुप्त वंश का इतिहास अपेक्षया तिमिराच्छन्न है। यहाँ तक कि उसके बाद से लेकर गुप्तवंश के पतन (550 ई.) तक राजाओं का क्रम और तिथिक्रम तक भी सुनिश्चित नहीं है। वस्तुतः प्रथम कुमारगुप्त युग में गुप्त सम्राटों के क्रम और तिथिक्रम को निर्धारित करना, जो हमारे अध्ययन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है, गुप्त इतिहास की सबसे बड़ी समस्या रही है। इस युग के लगभग एक शताब्दी के इतिहास में स्कन्दगुप्त (ज्ञात तिथियाँ 455-567 ई.) और बुधगुप्त (ज्ञात तिथियाँ 476-495 ई.) ये दो नरेश ऐसे हैं जिन्होंने काफी लम्बे समय तक शासन किया और जिनके शासन की अवधियाँ भी निश्चित सी हैं। इसलिए प्रथम कुमारगुप्त के उत्तराधिकारियों के क्रम और तिथिक्रम की समस्या को हम तीन भागों में बांट सकते हैं—

1. प्रथम कुमारगुप्त के तत्काल बाद किसने शासन किया?

नोट

2. स्कन्दगुप्त और बुधगुप्त के बीच किन-किन राजाओं ने शासन किया? और

3. बुधगुप्त के उपरान्त गुप्तों का राजक्रम व तिथिक्रम क्या रहा?

स्कन्दगुप्त के भित्ति-अभिलेख के अनुसार वह अपने पिता का पुत्र और उत्तराधिकारी था जबकि नरसिंहगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त की भित्ति-मुहर में प्रथम कुमारगुप्त के बाद पुरुगुप्त का उसके पुत्र व उत्तराधिकारी के रूप में उल्लेख है। इन दोनों में स्कन्दगुप्त की तिथियाँ सुनिश्चित हैं और प्रथम कुमारगुप्त के तत्काल बाद पड़ती हैं। अतः प्रश्न उत्पन्न होता है—पुरुगुप्त ने कब शासन किया? इसके समाधान के लिए हॉर्नले और कृष्णदेव ने यह सुझाव रखा है कि स्कन्दगुप्त और पुरुगुप्त अभिन्न थे, बसाक का कहना है कि प्रथम कुमारगुप्त के बाद साम्राज्य का स्कन्दगुप्त व पुरुगुप्त के बीच विभाजन हो गया था और पन्नालाल तथा रायचौधरी आदि का मत था कि पुरुगुप्त ने स्कन्दगुप्त के बाद राज्य किया था। लेकिन ये तीनों ही विकल्प कठिनाइयों से परिपूर्ण हैं। इस विषय में हमें सबसे सही मत मजूमदार सिन्हा और गोयल का लगता है जिनके अनुसार पुरुगुप्त स्कन्दगुप्त का प्रतिद्वन्द्वी भाई था अर्थात् उसने स्कन्दगुप्त के विरुद्ध विद्रोह करके कुछ समय के लिए शासन किया। यह विकल्प जूनागढ़-अभिलेख के इस कथन के साथ संगत है कि 'मनुजेन्द्र' अर्थात् प्रथम कुमारगुप्त के अन्य पुत्रों का परित्याग करके लक्ष्मी ने कुमारगुप्त को अपना पति चुना था। स्कन्दगुप्त के अन्य प्रतिद्वन्द्वी भाई हो सकता है—घटोत्कचगुप्त व द्वितीय समुद्रगुप्त रहे हों।

स्कन्दगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि 467 ई. है तथा प्रथम बुधगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि है 476 ई.। इस बीच व्यतीत होने वाले 9 वर्षों में 473 ई. के सारनाथ अभिलेख वाले कुमारगुप्त ने अवश्य ही शासन किया होगा। उसके पिता का नाम अज्ञात है लेकिन भित्ति-मुहर में प्रदत्त वंशावली के अनुसार इस मुहर का कुमारगुप्त प्रथम कुमारगुप्त का प्रपौत्र, पुरुगुप्त का पौत्र तथा नरसिंह गुप्त का पुत्र था। श्री पन्नालाल ने उसकी पहचान सारनाथ-अभिलेख के कुमारगुप्त से की है और न्यूनाधिक संशोधनों के साथ इस सुझाव को अनेक विद्वानों ने माना है। लेकिन सिन्हा तथा पं० ला० गुप्त और अन्य कई विद्वानों ने इसके विरुद्ध कई आपत्तियाँ उठाई हैं। एक, नौ वर्षों का समय तीन पीढ़ियों के तीन राजाओं के लिए बहुत कम है। दो, विष्णुगुप्त की नालन्दा मुहर में उसे कुमारगुप्त का पुत्र कहा गया है, इसलिए इस मत को मानने पर 9 वर्षों में चार पीढ़ियों के चार राजाओं को रखना पड़ेगा जो सर्वथा असम्भव है। तीसरे, नरसिंह गुप्त की उपाधि बालादित्य थी अतः पन्नालाल के मत को मानने पर बालादित्य ने 467-73 ई. के बीच कभी शासन किया जबकि श्वान-च्यांग के अनुसार बालादित्य छठी शती ई. के पूर्वार्द्ध में शासन करने वाले मिहिरकुल का समकालीन था। डॉ. गोयल ने इन सब आपत्तियों का बहुत ही युक्तियुक्त समाधान प्रस्तुत किया है। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि प्रथम कुमारगुप्त 'महेन्द्रादित्य' के अलावा गुप्तवंश में दो कुमारगुप्त और हुए जिन्होंने 'क्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। यह बात, जिसे सिन्हा व गुप्त आदि भी मानते हैं, मौद्रिक साक्ष्य से प्रमाणित है क्योंकि हमें कुमारगुप्त क्रमादित्य का उल्लेख करने वाले ऐसे दो वर्गों के सिक्के मिलते हैं जिनमें शुद्ध सुवर्ण की मात्रा, तौलमान और बनावट के आधार पर करीब 50 वर्ष का अन्तर मानना आवश्यक है। गोयल का कहना है कि क्योंकि ठीक यही अन्तर नरसिंहगुप्त बालादित्य के सिक्कों में भी मिलता है। इसलिए हमें मौद्रिक साक्ष्य के आधार पर इस नाम के दो राजाओं का अस्तित्व भी मानना चाहिए। प्रकटादित्य के सारनाथ-अभिलेख में दो बालादित्यों का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। इसी प्रकार साहित्यिक साक्ष्य भी दो बालादित्यों का उल्लेख करता है। पहले बालादित्य का उल्लेख, जिसने स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी के रूप में शासन किया, परमार्थ द्वारा लिखित 'वसुबन्धु की जीवनी' 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में मिलता है और दूसरा बालादित्यराज वह था जो श्वान-च्यांग के अनुसार मिहिरकुल का समकालीन था। इसलिए गोयल ने माना है कि स्कन्दगुप्त पुत्रहीन मरा था और उसके उपरान्त क्रमशः पुरुगुप्त के पुत्र प्रथम नरसिंहगुप्त बालादित्य और नरसिंह गुप्त के पुत्र द्वितीय कुमारगुप्त क्रमादित्य ने शासन किया। यह कुमारगुप्त ही सारनाथ-अभिलेख का कुमारगुप्त था। उसे अपदस्थ करके उसके चाचा बुधगुप्त ने (जो पुरुगुप्त का पुत्र था), 476 ई. में या उसके कुछ पहले साम्राज्य पर अधिकार किया।

बुधगुप्त के उपरान्त हमें केवल दो राजाओं की तिथियाँ ज्ञात हैं। एक 506 ई. के गुणैधर-अभिलेख से ज्ञात वैन्यगुप्त जो सिक्कों से ज्ञात वैन्यगुप्त द्वादशादित्य है, और दूसरा 510 ई. के एरण-अभिलेख से ज्ञात भानुगुप्त जिसके सिक्के नहीं मिलते। सिक्कों और अभिलेखों के अतिरिक्त हमें जिन राजाओं के नाम ज्ञात होते हैं उनमें तृतीय चन्द्रगुप्त

नोट

विक्रमादित्य और प्रकाशादित्य सम्मिलित हैं। अब 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में एक स्थान पर चार गुप्त नरेशों की सूची मिलती है—देव, चन्द्र, द्वादश और भकार तथा एक अन्य स्थल पर इस ग्रन्थ में भकार का उत्तराधिकारी प्रकार को बतलाया गया है। डॉ. गोयल ने इन पांचों राजाओं की पहचान क्रमशः बुधगुप्त (बुध=बुद्धदेव), तृतीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (जो सिक्कों से ज्ञात है), वैज्यगुप्त द्वादशादित्य, भानुगुप्त और प्रकाशादित्य से की है। प्रकाशादित्य के उपरान्त उन्होंने सिक्कों से ज्ञात द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य को रखा है जिसकी पहचान वह मिहिरकुल के प्रतिद्वन्द्वी बालादित्यराज से और नालदा-मुहर के विष्णुगुप्त के पितामह नरसिंहगुप्त (द्वितीय) से करते हैं। बालादित्यराज के उपरान्त उसके पुत्र तृतीय कुमारगुप्त विक्रमादित्य और विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य ने शासन किया। इस कुमारगुप्त की पहचान चीनी साहित्य में बालादित्यराज के उपरान्त उल्लिखित वज्र एवं सारनाथ अभिलेख के प्रकटादित्य से; जो बालादित्य का पुत्र था, की जा सकती है। यह भी सम्भव है कि वज्र प्रकटादित्य तृतीय कुमारगुप्त का भाई रहा हो। तृतीय कुमारगुप्त के पुत्र विष्णुगुप्त के साथ 550 ई. में गुप्तवंश का अन्त हो गया। डॉ. एस के मैती ने गोयल द्वारा प्रस्तावित गुप्त सम्राटों के इस अनुक्रम और तिथिक्रम को यथावत स्वीकृत किया है।



टास्क शकों के उन्मूलन में धर्म का क्या प्रभाव था?

4.10 स्कन्दगुप्त और उसकी धार्मिक नीति (Skandagupta and his Religious Policy)

उपर्युक्त तिथिक्रमानुसार प्रथम कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के दिवंगत हो जाने पर उसके पुत्र स्कन्दगुप्त (ज्ञात तिथियाँ 455-67 ई.) ने शासन किया। वह अपने वंश का अन्तिम महान नरेश था। उसके शासनकाल के कई अभिलेख और उसके द्वारा जारी की गई अनेक प्रकार की मुद्राएँ उपलब्ध हैं। इनके प्राप्ति स्थलों और अन्तःसाक्ष्य से प्रमाणित है कि स्कन्दगुप्त ने अपने पूर्वजों के विशाल साम्राज्य को यथावत् बनाये रखा था। लेकिन इसके लिए उसे बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था और अनेक शत्रुओं पर विजय पानी पड़ी थी। इनका विस्तृत विवरण उसके जूनागढ़-अभिलेख (जिसमें 455-56 ई.) तक की घटनाएँ वर्णित हैं) और तिथिविहीन भित्ति-अभिलेख में मिलता है। इनसे ज्ञात होता कि स्कन्दगुप्त की कठिनाइयाँ उसके पिता के जीवनकाल में ही प्रारम्भ हो गई थीं। इन दोनों अभिलेखों में उसके जिन शत्रुओं को गिनाया है उसको इस प्रकार अनुसूचित किया जा सकता है—

1. भित्ति-अभिलेख के पुष्यमित्र;
2. भित्ति-अभिलेख के हूण जिनकी पहचान जूनागढ़-अभिलेख के म्लेच्छों से की जा सकती है;
3. जूनागढ़-अभिलेख में उल्लिखित अन्य 'मनुजेन्द्र-पुत्र' अर्थात् स्कन्दगुप्त के भाई; तथा
4. अन्य शत्रु नरेश जिनका बिना नाम दिये 'भुजंग नरपतियों' के रूप में उल्लेख है।

लेकिन इतनी अधिक कठिनाइयों के बावजूद स्कन्दगुप्त हतोत्साह नहीं हुआ। 456 ई. तक वह अपने सब शत्रुओं पर विजय पाने में सफल हुआ। हूणों पर प्राप्त उसकी विजय विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि इस बर्बर जाति ने इसी समय ईरान पर भी आक्रमण किया लेकिन ईरान के सासानी सम्राट् उसको रोकने में असफल हुए थे जबकि स्कन्दगुप्त ने उस पर निर्णायकरूपेण विजय प्राप्त की।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में स्कन्दगुप्त वैष्णव धर्म में बहुत आस्था रखता था और शायद अन्त तक वह इसी धर्म में विश्वास करता रहा यद्यपि हो सकता है कि अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उसकी रुचि बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख हो गई हो। उसके जूनागढ़-अभिलेख में उसकी तुलना विष्णु से की गई है। उसके कुछ सिक्कों पर उसको 'परमभागवत' कहा गया है। उसके भित्ति-अभिलेख में उसके द्वारा अपने पिता की स्मृति में भगवान शाङ्गी की एक मूर्ति स्थापित कराये जाने का उल्लेख है। गिरीनगर के नगर रक्षक चक्रपालित ने उसके शासनकाल में भगवान विष्णु का एक मन्दिर बनवाया था। सूपिया-पाषाण-स्तम्भ लेख में स्कन्दगुप्त की तुलना भगवान राम से की गई है और कहौम-पाषाण स्तम्भ-अभिलेख में इन्द्र के साथ (शकोपम)। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि

नोट

स्कन्दगुप्त वैष्णव धर्म में विश्वास करता था। एक राजा के रूप में भी उसके विचार वैष्णव धर्म के प्रभाव से अछूते नहीं थे। अपने जूनागढ़-अभिलेख में सम्भवतः वैष्णव धर्म के परिणाम स्वरूप ही उसने अपने शत्रुओं की तुलना भुज्गों अर्थात् नागों से की जिनको निर्विष करने के लिए उसने अपने गरुड़ रूपी प्रतिनिधियों को भेजा था। स्पष्टतः वह उसी वैष्णव राजनीतिक आदर्श से प्रभावित हुआ था। वह आदर्श धर्म की रक्षा के लिए म्लेच्छों के उन्मूलन और प्रचण्ड शासन की स्थापना का आदर्श था। साम्राज्य की सैनिक शक्ति का समुचित रूपेण उपयोग करके और अपने शत्रुओं का पूर्णतः दमन करके स्कन्दगुप्त ने इस आदर्श में अपनी आस्था प्रकट की। उसकी 'विक्रमादित्य' उपाधि एवं उसके 'गुप्तवंशैकवीर' रूप में वर्णन से भी यही ध्वनित होता है।

4.11 गुप्त साम्राज्य की अवनति में धर्म की भूमिका (Role of Religion in Decline of Gupta Empire)

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त साम्राज्य तीव्रता से अवनति की ओर उन्मुख होने लगा। इसका प्रधान कारण गुप्त सम्राटों की नीतियाँ थीं। समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य को सामन्ती इकाइयों के रूप में संगठित किया था। उसने न केवल प्रत्यन्त राज्यों को यथावत रहने दिया था वरन् अपने प्रभुत्व में अनेक नए राजवंशों की स्थापना भी की थी, जिनको आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों के शासनकाल में ये राजवंश स्वतंत्र होने का प्रयत्न करने लगे जिससे साम्राज्य कमजोर हो गया।

समुद्रगुप्त द्वारा विकसित सामन्तवादी व्यवस्था को ब्राह्मणों को अग्रहार दिए जाने की प्रथा से बहुत बल मिला। गुप्त नरेश ब्राह्मण थे जिससे उनके शासनकाल में ब्राह्मणों की राजनीतिक शक्ति में विशेष वृद्धि हुई थी। वे ब्राह्मणों को अग्रहार रूप में जो भूमिदान देते थे उस पर उन्हें न केवल प्रशासकीय अधिकार दे देते थे वरन् उसमें स्थित चारागाहों, खानों, निधियों तथा आय के बहुत से साधनों को भी उन्हें सौंप देते थे। अगर किसी ब्राह्मण को ऐसी बहुत-सी भूमिदान में मिल जाती थी तो वह छोटा-मोटा जामींदार बन बैठता था। ऐसे व्यक्तियों के लिए साम्राज्य के हासकाल में अपनी शक्ति बढ़ाकर स्वतंत्र होने का प्रयास करना कोई कठिन बात नहीं थी। बुन्देलखण्ड के परिव्राजकों का मूल पुरुष सुशर्मा ब्राह्मण जाति का था। परिव्राजक-अभिलेखों में उसे कपिल के समान चतुर्दश विद्याओं का ज्ञाता कहा गया है। इसी प्रकार मातृविष्णु तथा उसके भाई धन्यविष्णु के लेखों से मालूम होता है कि उनका प्रपितामह इन्द्रविष्णु यज्ञकर्म और स्वाध्याय में रत रहता था और पितामह वरुणविष्णु इस विषय में अपने पिता का अनुगमन करता था। लेकिन वरुण-विष्णु का पुत्र हरिविष्णु अपने वंश की उन्नति का कारण बना और हरिविष्णु का पुत्र मातृविष्णु तो इतना शक्तिशाली हो गया कि विधाता की इच्छा से स्वयं राज्यलक्ष्मी ने स्वयंवर में उसका वरण किया था। वह अपने यश को "चारों ओर समुद्रों तक फैलानेवाला, अक्षय मान और धन का स्वामी तथा अनेक समरों का विजेता था।" गुप्तकाल में ब्राह्मणों को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर किस प्रकार मिला, यह इसका अच्छा उदाहरण है।

लेकिन गुप्त साम्राज्य को अवनति की ओर धकेलने में अधिक हाथ गुप्त राजपरिवार पर बौद्ध धर्म के प्रभाव का रहा। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं बौद्ध धर्म के प्रति समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों का बड़ा उदार दृष्टिकोण था। लेकिन वे व्यक्तिगत रूप से वैष्णव थे और वैष्णव राजनीतिक आदर्श के अनुसार आचरण करते थे परन्तु प्रथम कुमारगुप्त के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में स्वयं गुप्त सम्राटों की रुचि बौद्ध धर्म में होने लगी जिसके परिणाम स्वरूप सम्राटों की युद्ध प्रियता घटने लगी। अपने प्रारम्भिक वर्षों में प्रथम कुमारगुप्त वैष्णव धर्मावलम्बी था लेकिन अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण वह पुण्यार्जन की चिन्ता करने लगा और भिक्षु बन गया। उसकी अप्रतिघ प्रकार की मुद्राएँ इसका प्रमाण हैं। श्वान-च्यांग के अनुसार शकादित्य (प्रथम कुमारगुप्त) ने नालन्दा में बौद्ध महाविहार की स्थापना भी कराई थी।

प्रथम कुमारगुप्त का उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त वैष्णव था लेकिन उसने बौद्ध धर्म को भी संरक्षण प्रदान किया था। अपने उत्तराधिकारी प्रथम नरसिंहगुप्त बालादित्य के शिक्षक के रूप में उसने बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु की नियुक्ति की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि नरसिंहगुप्त बालादित्य पर बौद्ध धर्म की निवृत्तिमार्गी विचारधारा का जबरदस्त प्रभाव पड़ा था। 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में उसका वर्णन एक श्रद्धालु नरेश के रूप में है। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि बालादित्य

नोट

ने 36 वर्ष 1 माह की आयु में आत्महत्या कर ली थी (श्लोक 651-52)। बौद्ध धर्म में इस प्रकार देहत्याग के कई उदाहरण मिलते हैं। स्वयं प्रथम कुमारगुप्त ने भी सम्भवतः इसी प्रकार देहोत्सर्ग किया था। इस प्रकार बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण गुप्त सम्राटों की युद्धप्रियता घटने लगी और उनका ध्यान पुण्यार्जन करने में लग गया।

परवर्ती गुप्त सम्राट् बौद्ध संस्थाओं को बहुत अधिक दान देते थे। नालन्दा महाविहार इसका प्रमुख उदाहरण है। जिस समय पाँचवीं शती ई० में फाह्यान ने भारत-यात्रा की उस समय तक नालन्दा मात्र एक गाँव था। इसके लगभग 50 वर्ष बाद प्रथम कुमारगुप्त ने वहाँ एक महाविहार बनवाया। उसके पश्चात् बुधगुप्त, तथागतराज (डॉ० गोयल के अनुसार बुधगुप्त का ही गलती से लिख दिया गया दूसरा नाम; तथागत= बुद्ध-बुध) बालादित्यराज, और वज्र ने वहाँ नये-नये संघाराम बनवाये। सातवीं शती ई० में जब श्वान-च्यांग भारत आया उस समय तक नालन्दा-महाविहार भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण धार्मिक और शैक्षणिक संस्था बन चुका था। उस समय उसमें 10,000 भिक्षु रहते थे जिनके प्रतिपालन हेतु महाविहार को सौ गाँवों की आय मिलती थी। उन गाँवों के निवासी इस संस्था को कई सौ 'पिकल' चावल कई सौ 'केट्टी' मक्खन और दूध प्रतिदिन देते थे। श्वान-च्यांग के अनुसार तत्कालीन भारत में इसमें छोटे विहार 'दसियों हजार' थे। इनका पोषण स्पष्टतः इसी प्रकार होता होगा। बौद्ध महाविहारों को इतनी अधिक सहायता देने का राजकोष पर स्पष्टतः बहुत बुरा प्रभाव पड़ा होगा।

4.12 हूणों का आक्रमण और उनका धार्मिक दृष्टिकोण (Attack of Huna and their Religious View)

जिस समय गुप्त साम्राज्य सामन्तीय-व्यवस्था व बौद्ध धर्म के हानिकर प्रभाव के कारण अवनतिशील हो रहा था हूणों ने तोरमाण के नेतृत्व में तीसरा आक्रमण कर दिया। हूण मध्य-एशिया की एक खानाबदोश बर्बर जाति थे। भारत पर उनके आक्रमण का सम्भवतः प्रथम साहित्यिक उल्लेख 'रघुवंश' में है और अभिलेखिक उल्लेख स्कन्दगुप्त के भित्ति लेख में मिलता है। स्कन्दगुप्त ने हूणों को पूर्णतः पराजित कर दिया था लेकिन उसकी मृत्यु के पश्चात् गुप्त साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाकर वे पुनः सक्रिय हो गये तथा छठी शती ई० के प्रारम्भ में उन्होंने तोरमाण के नेतृत्व में आक्रमण कर दिया।

तोरमाण के तिथिविहीन कुरा-प्रस्तर लेख में उसे 'राजाधिराज महाराज तोरमाण षाहि-जऊबल' कहा गया है। उसकी कौशाम्बी से मिलने वाली मुहरों पर क्रमशः 'तोरमाण' और 'हूणराज' लेख लिखे हैं जिनसे उसका हूणजातीय होना प्रमाणित है। तोरमाण के सिक्के पंजाब और सतलज, यमुना के मध्यवर्ती प्रदेश में मिले हैं। जिन पर 52 तिथि अंकित है। इन सिक्कों व अभिलेखों के प्राप्ति-स्थल के आधार पर कहा जा सकता है कि तोरमाण ने पंजाब को जीता था। जैन ग्रन्थ 'कुवलयमाला' के अनुसार वह समस्त उत्तरापथ का स्वामी था। इस ग्रन्थ के अनुसार उसके गुरु का नाम हरिगुप्त था जो गुप्त वंश में उत्पन्न हुआ था। हरिगुप्त नाम के एक राजा की कुछ मुद्राएँ पञ्चाल से उपलब्ध हुई हैं। इसके आधार पर कहा जाता है कि तोरमाण ने दिल्ली-कुरुक्षेत्र-पानीपत वाले मार्ग से प्रविष्ट होकर अन्तर्वेदी पर विजय प्राप्त की थी। इसके बाद वह कौशाम्बी तक बढ़ आया था जहाँ से उसकी उपर्युक्त मुहरें मिली हैं। इसके पश्चात् उसने पहले बिहार और बंगाल पर और फिर मालवा पर विजय प्राप्त की। 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार तोरमाण (हकाराख्य) पश्चिम से आकर गंगा की घाटी को जीतता हुआ गौड़ तक बढ़ गया था। इसके बाद वह पूर्वी मालवा पहुँचा। 510 ई० के एरण-अभिलेख से संकेतित है कि वहाँ उस का प्रतिरोध भानुगुप्त ने किया था। तोरमाण से हुए इस युद्ध में भानुगुप्त के मित्र गोपराज को वीरगति प्राप्त हुई थी। गोयल के अनुसार तोरमाण-भानुगुप्त युद्ध 510 ई० के लगभग हुआ था।

भानुगुप्त को परास्त करके तोरमाण ने उसके पुत्र 'प्र' (= प्रकाशादित्य) को अपने अधीन राजा बनाया। प्रकाशादित्य की मुद्राओं से यह संकेतित है कि उसने द्वितीय नरसिंहगुप्त से पूर्व शासन किया था। 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार भकाराख्य के पुत्र प्रकाशाख्य का जन्म पूर्वी प्रान्तों में हुआ था। उसे उसके पिता के आदेश पर गोप नामक राजा ने बन्दीगृह में डाल दिया था। वहाँ-से उसे शूद्र राजा हकाराख्य ने मुक्त किया और नन्दपुर में उसका अभिषेक किया। जायसवाल ने हकाराख्य की पहचान हूण नरेश तोरमाण से तथा भकाराख्य की भानुगुप्त से की है, परन्तु वह

नोट

‘आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प’ के प्रकाराख्य की पहचान खण्डित सारनाथ-अभिलेख के प्रकटादित्य से करते हैं, जो सही नहीं है। हमें प्रकाराख्य को मुद्राओं से ज्ञात प्रकाशादित्य मानना अधिक तर्कसंगत एवं उचित लगता है।

‘आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प’ के अनुसार तोरमाण नन्दपुर से काशी आया परन्तु वहाँ बीमार हो गया और अपने पुत्र ग्रह (=मिहिरकुल) का अभिषेक करने के उपरान्त मृत्यु को प्राप्त हुआ। तोरमाण की मृत्यु 510 ई० के उपरान्त किसी समय हुई होगी। यशोधर्मा (ज्ञात तिथि 532 ई०) के मन्दसौर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि मिहिरकुल यशोधर्मा के हाथों परास्त हुआ था। उसके पूर्व उसने 15 वर्ष अवश्य शासन किया (द्र० मिहिरकुल का ग्वालियर-लेख)। इसलिये मिहिरकुल का राज्यारोहण 532-15=517 ई० के चार पांच वर्ष पूर्व अर्थात् 512 ई० के लगभग हुआ होगा।

धार्मिक दृष्टि से तोरमाण बहुत अधिक कट्टर नरेश नहीं था। उसके शासनकाल के कुरा-अभिलेख में रोटसिद्धवृद्धि नामक व्यक्ति द्वारा एक विहार बनवाये जाने का उल्लेख है और एरण-लेख में धन्यविष्णु द्वारा नारायण मन्दिर बनवाये जाने का। उसकी अपनी मुद्राओं से प्रतीत होता है कि वह सूर्योपासक था। ‘कुवलयमाला’ के साक्ष्यानुसार वह जैन धर्म के प्रति श्रद्धावान था। ‘आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प’ में, जहाँ बौद्ध धर्म विरोधी राजाओं की बुराई की गई है, तोरमाण के बारे में कुछ नहीं लिखा गया है। इस तथ्य से स्पष्ट है कि तोरमाण की धार्मिक नीति गुप्त सम्राटों की धार्मिक सहिष्णुता की नीति के समान ही थी। राजनीतिक दृष्टि से इसका लाभ उसे उस समय मिला जब धन्यविष्णु जैसे प्रान्तीय शासकों ने हूणों के प्रभुत्व को अनायास मान लिया।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, तोरमाण का उत्तराधिकारी उसका पुत्र मिहिरकुल था। उसका समकालीन गुप्त नरेश द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य था। मिहिरकुल ने 512 ई० में शासन करना प्रारम्भ किया तथा इसके बाद पन्द्रह वर्ष तक अर्थात् कम-से-कम 527 ई० तक करता रहा। श्वान-च्वांग के अनुसार जिस समय मिहिरकुल ने शासन करना प्रारम्भ किया हूणों का प्रभुत्व पंजाब के अतिरिक्त गंगा की पूरी घाटी पर था। वह स्पष्ट शब्दों में लिखता है कि मिहिरकुल ने शाकल को राजधानी बनाकर ‘भारत’ पर शासन किया और सब प्रदेशों को अपने अधीन किया। इसके विपरीत 520 ई० में गन्धार की यात्रा करने वाली चीनी यात्री सुंग-युन के अनुसार उस समय गन्धार पर शासन करने वाले मिहिरकुल का की-पिन (कश्मीर) से युद्ध चल रहा था जिसे लड़ते हुए तीन वर्ष बीत चुके थे। इससे लगता है कि मिहिरकुल केवल गन्धार का राजा था। लेकिन यूनानी लेखक कोसमस इण्डिकोप्ल्युटिज के ग्रन्थ ‘क्रिश्चियन टोपोग्राफी’ (535-547 ई०) से यह विरोधाभास दूर हो जाता है। उसके अनुसार, “भारत के उपरले भाग में (उत्तर) श्वेत हूण हैं। उनका राजा गोल्ल (=मिहिरकुल) जब युद्ध के लिये जाता है तो दो सहस्र हाथी एवं विशाल अश्वारोही सेना अपने साथ ले जाता है। वह ‘भारत का स्वामी’ है और जनता पर अत्याचार कर उन्हें कर देने के लिए बाध्य करता है।” इसके आगे वह बताता है कि फिसोन नदी (सिन्धु नदी) भारत के सब देशों को हूण देश से पृथक् करती है। कोसमस के इस कथन से कि हूणराज्य सिन्धु के पश्चिम में था सुंग-युन के साक्ष्य की पुष्टि होती है और इस कथन से कि मिहिरकुल भारत का स्वामी था श्वान-च्वांग के कथन की।

मिहिरकुल के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटनाएँ उसके मालवा-नरेश यशोधर्मा उर्फ विष्णुवर्द्धन तथा गुप्त सम्राट नरसिंह बालादित्य के साथ युद्ध थे। यशोधर्मा के तिथिविहीन मन्दसौर-लेख के अनुसार उसने उन प्रदेशों को भोगा था जिनको स्वयं गुप्त सम्राट और हूण-स्वामी भी अपने वंश में नहीं कर पाये थे। इसमें आगे लिखा है कि उसने उस मिहिरकुल को भी अपने चरणों में नत किया था जिसका सिर भगवान स्थाणु के अतिरिक्त कभी किसी के सामने नहीं झुका था। इससे स्पष्ट है कि यशोधर्मा ने मिहिरकुल को निश्चित रूप से पराजित किया था। यह घटना जैसा कि मन्दसौर-लेख से संकेतित है, मालव संवत् 589 (=532 ई०) से पूर्व किसी समय घटी होगी। लेकिन यशोधर्मा से पराजित हो जाने पर भी मिहिरकुल की शक्ति नष्ट नहीं हुई। इसके बाद भी उसका ग्वालियर प्रदेश तक विस्तृत भू-भाग पर अधिकार बना रहा। उसकी शक्ति को अन्तिम रूप से तोड़ा बालादित्य राज अर्थात् द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य ने। डॉ. गोयल का विचार है कि मिहिरकुल के कश्मीर युद्ध तथा उसके यशोधर्मा से संघर्ष में फंसे होने का लाभ द्वितीय नरसिंहगुप्त ने उठाया और स्वतंत्र हो गया। जब मिहिरकुल सब संकटों से मुक्त हुआ तो उसने द्वितीय नरसिंहगुप्त पर आक्रमण कर दिया। यह घटना सम्भवतः 527 और 532 ई० के मध्य घटी होगी।

4.13 गुप्त-हूण संघर्ष पर धर्म का प्रभाव

(Effects of Religion on Gupta-Huna Conflicts)

गुप्त हूण संघर्ष का कारण जहाँ गुप्त सम्राटों द्वारा अपने वंश की खोई प्रतिष्ठा को प्राप्त करने की चेष्टा करना एवं हूणों का अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न था, वहाँ इसके पीछे दोनों पक्षों की धार्मिक नीति का भी बहुत कुछ हाथ रहा। यह युद्ध भारतीय इतिहास में लड़े गए उन युद्धों में से है जिनको प्रकृत्या 'धार्मिक' कहा जा सकता है। जैसा कि हम अध्ययन कर चुके हैं तोरमाण एक धर्मसहिष्णु व्यक्ति था। उसकी व्यक्तिगत रुचि सौर धर्म में थी लेकिन वह जैन एवं बौद्ध के प्रति भी श्रद्धा रखता था। उसका पुत्र मिहिरकुल प्रारम्भ में अपने पिता के समान धर्मसहिष्णु था, लेकिन बौद्ध धर्माधिकारियों की बुद्धिहीनता के कारण वह बौद्ध धर्म का शत्रु बन गया, श्वान-च्यांग ने लिखा है कि मिहिरकुल अपने अवकाश में बौद्ध धर्म का अध्ययन करना चाहता था। इसलिए उसने बौद्ध संघ से किसी योग्य भिक्षु को भेजने का अनुरोध किया। लेकिन संघ के अधिकारियों ने राज परिवार के एक पुराने सेवक को, जो भिक्षु बन गया था, मिहिरकुल को बौद्ध धर्म की शिक्षा देने के हेतु भेज दिया। इस अपमान से मिहिरकुल क्रोधित हो उठा और उसने बौद्ध धर्म को समूल नष्ट करने का बीड़ा उठा लिया। श्वान-च्यांग के साक्ष्यानुसार गन्धर्ब में मिहिरकुल ने बौद्ध धर्म का विनाश करने की योजना को 'पुनः चालू' कर दिया और इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए 1600 स्तूपों तथा विहारों को ध्वस्त कराया एवं नौ करौड़ उपासकों को मौत के घाट उतार दिया। श्वान-च्यांग के कथन का समर्थन करते हुए सुंग-युन लिखता है, "उसका (मिहिरकुल का) स्वभाव क्रूर और प्रतिकारशील है। वह अत्यन्त बर्बरतापूर्ण अत्याचार करता है। वह बौद्ध धर्म में श्रद्धा नहीं रखता लेकिन भूत पिशाचों को पूजता है।" 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' में मिहिरकुल को बौद्ध धर्म विरोधी, प्रमादी और कामाचारी बतलाया गया है। पुरातात्विक साक्ष्य से संकेतित है कि उत्तर भारत में अनेक स्थलों पर बौद्ध विहारों का विध्वंस छठी शती के प्रारम्भ में हुआ था। कौशाम्बी का घोषिताराम विहार भी उसी सामान्य युग में विनष्ट हुआ था जिस युग में वहाँ तोरमाण की मुहरें प्रचलित थीं। लेकिन जैसा कि डॉ. गोयल ने ध्यान दिलाया है वहाँ तोरमाण की मुहरों के मिलने से संकेतित है कि उसका विध्वंस मिहिरकुल के शासनकाल में हुआ होगा, तोरमाण के काल में नहीं।

मिहिरकुल व्यक्तिगत रूप से शैव मतावलम्बी था। यशोधर्मा के तिथिविहीन मन्दसौर लेख के छोटे श्लोक में कहा गया है कि मिहिरकुल भगवान् स्थाणु (शिव का एक रूप) के अतिरिक्त किसी अन्य के समक्ष सिर नहीं झुकाता था। उसकी कुछ रजत मुद्राओं पर वृषभ, वृषध्वज, त्रिशूल तथा 'जयति वृषध्वज' लेख आदि उत्कीर्ण मिलते हैं। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में मिहिरकुल द्वारा मिहिरेश्वर महादेव का मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख किया है।

मिहिरकुल का शत्रु एवं विरोधी द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य एक निष्ठावान बौद्ध था। जैसा कि हम अध्ययन कर चुके हैं। प्रथम कुमारगुप्त के अन्तिम दिनों में गुप्त राजवंश पर बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ना प्रारम्भ हुआ था। द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य के शासनकाल में यह प्रभाव अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। इस समय तक बौद्ध धर्म गुप्त राजनीति को नियन्त्रित करने वाली प्रमुख शक्ति बन चुका था। यद्यपि गुप्तवंश इस समय आर्थिक दृष्टि से दुर्बल था द्वितीय बालादित्य द्वारा केवल 54 प्रतिशत सुवर्ण वाली मुद्राएँ चलाई गईं, फिर भी बालादित्यराज ने बौद्ध संघ को अत्यधिक आर्थिक सहायता दी, चैत्यों का निर्माण करवा कर पूर्व दिशा को समुद्र पर्यन्त सुसज्जित किया एवं सारे देश में विहार, आराम, वापी, उद्यान और मण्डप बनवाए। चीनी साक्ष्य में उसे एक 'अत्युत्साही बौद्ध' और नालन्दा महाविहार का संरक्षक कहा गया है। यशोवर्मदेव के नालन्दा अभिलेख में भी उसे नालन्दा में मन्दिर बनवाने वाले नरेश के रूप में उल्लिखित किया गया है। ऐसे नरेश के लिए स्वाभाविक था कि यह सुनकर कि 'मिहिरकुल बौद्धों पर अत्याचार कर रहा है' वह उसे कर देना बन्द कर देता, लेकिन उसने यह कदम सोच-विचार कर नहीं वरन् अपनी धर्मनिष्ठा के कारण उठाया था। इसलिये श्वान-च्यांग के अनुसार, जब मिहिरकुल एक सेना लेकर उस पर आक्रमण करने के लिए आया तो उसने अपने मन्त्रियों से कहा, "मैंने सुना है कि चोर आ रहे हैं और मैं उनसे लड़ने में असमर्थ हूँ। अपने मन्त्रियों की अनुमति से मैं इस निकम्मे शरीर को कच्छ के जंगल में छिपा लूँगा।" इतना कहकर वह राजमहल से चला गया और पर्वतों और रेगिस्तानों में घूमने-फिरने लगा, क्योंकि उसकी जनता उसे बहुत चाहती थी, इसलिए उसके अनुगामी भी, जो दसियों हजार थे, उसके साथ भाग गये और समुद्र के द्वीपों में जा छिपे। स्पष्ट है

नोट

बालादित्य शांति का उपासक था। समुद्रगुप्त की तरह प्रचण्ड शासन की स्थापना अथवा स्कन्दगुप्त की तरह अपने शौर्य से राज्य लक्ष्मी को पुनः प्रतिष्ठित करने जैसे कार्य उसके प्रति स्वप्नवत् थे।

द्वितीय नरसिंहगुप्त की इस कायरतापूर्ण नीति का लाभ उठाते हुए मिहिरकुल को बंगाल तक धाबा बोलने में कठिनाई नहीं हुई। सम्भवतः कसिया और कौशाम्बी के बौद्ध विहारों का विनाश भी इसी समय हुआ होगा। कोसमस ने हूण-नरेश द्वारा मध्य देश पर घेरा डालने का उल्लेख किया है। जैन लेखक सोमदेव ने भी किसी हूण राजा द्वारा चित्रकूट जीते जाने का उल्लेख किया है। लेकिन इतनी कायरता दिखाने के बावजूद विजय नरसिंहगुप्त के भाग्य में लिखी थी। शायद इसमें उसे अपने अधीन नरेशों से बहुत सहायता मिली। इनमें सम्भवतः तत्कालीन मौखरी नरेश ईश्वरवर्मा (लग. 520-540 ई.) प्रमुख था जो मिहिरकुल एवं बालादित्य दोनों का समकालीन था। जौनपुर-अभिलेख के अनुसार उसने कूरजनों के आगमन के कारण लोकानन्द में उत्पन्न बाधा को दूर किया था। मौखरियों की हूण-विजय का उल्लेख आदित्यसेन के अफसद लेख में भी मिलता है। श्वान-च्यांग के अनुसार बालादित्यराज के अश्वारोहियों ने मिहिरकुल को पकड़ लिया और उसे नरसिंहगुप्त के पास ले गए। लेकिन अप्रत्याशित रूप से सफलता पाने के बाद नरसिंहगुप्त ने फिर राजनीतिक बुद्धिहीनता का परिचय दिया। उसका कारण भी उसकी बौद्ध धर्म के प्रति निष्ठा ही थी। श्वान-च्यांग के अनुसार जब मिहिरकुल पकड़ कर लाया गया, बालादित्य की माता ने अपने पुत्र को आदेश दिया कि वह मिहिरकुल को उसके समक्ष उपस्थित करे। ऐसा किये जाने पर उसने मिहिरकुल को संसार की नश्वरता का उपदेश दिया और अपने पुत्र को क्षमाशीलता का। इसके बाद उसने अपने पुत्र से मिहिरकुल को क्षमा करने और छोड़ देने का अनुरोध किया। उसने भविष्यवाणी की कि मिहिरकुल शीघ्र ही एक छोटे से राज्य का स्वामी हो जाएगा। बालादित्य ने अपनी माता के अनुरोध को स्वीकार करते हुए पुण्य लाभ करने के हेतु मिहिरकुल का एक नवयुवती से विवाह कर दिया। इसके बाद मिहिरकुल ने कश्मीर में शरण ली और वहाँ के नरेश को धोखे से मारकर उस राज्य को हस्तगत कर लिया।

हूण आक्रमणकारी को मुक्त करके धर्मलाभ प्राप्त करने की जो नीति बालादित्य ने अपनाई, डॉ. गोयल ने उसकी आलोचना की है। उनके शब्दों में, “अगर बालादित्य की जगह कोई अन्य कर्मठ और युद्ध से विमुख न होने वाला नरेश रहा होता तो वह अपनी इस विजय को साम्राज्य प्रसार की भूमिका बना देता। लेकिन बालादित्य ने अवसर को हाथ से निकल जाने दिया और श्वान-च्यांग के अनुसार धर्म लाभ हेतु बौद्ध भिक्षु बनकर संघ में प्रविष्ट हो गया। यह सही है कि विजित राजाओं को पुनः प्रतिष्ठित करने की नीति समुद्रगुप्त जैसे राजाओं ने भी अपनाई थी, परन्तु ऐसा उन्होंने कूटनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु किया था और उनकी सैन्य शक्ति इस बात की गारंटी थी कि इस प्रकार पुनः प्रतिष्ठित राजा साम्राज्य के लिए नवीन संकट का कारण नहीं हो जायेंगे, परन्तु नरसिंहगुप्त ने किसी अधीन राजा को पुनः प्रतिष्ठित नहीं किया था वरन् एक रक्त पिपासु दानव को बन्दी बनाकर मुक्त कर दिया था। दूसरे, उसने मिहिरकुल को कूटनीतिक कारणवश नहीं, अपनी माता के आदेश को पूरा करने के लिए छोड़ा था और स्वयं राजमाता यह चाहती थी कि उसका पुत्र शत्रु को छोड़कर अपने पुण्य की वृद्धि करे। स्पष्टतः सातवीं शती ई. के बौद्ध विद्वानों की दृष्टि में (जिनसे श्वान-च्यांग को यह कथा ज्ञात हुई होगी) नरसिंहगुप्त बालादित्य पुण्य अर्जन करने के लिए साम्राज्य के हित का बलिदान देने में बिलकुल नहीं हिचकिचाता था। किसी साम्राज्य के कर्णधार के राजनीतिक आदर्शों का इससे बढ़कर दिवालियापन और क्या हो सकता था?”

द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य ने मिहिरकुल को पराजित करने के बाद सम्भवतः सिंहासन-त्याग कर दिया था। जैसा कि हमने ऊपर अध्ययन किया है, उसका उत्तराधिकारी सम्भवतः उसका पुत्र वज्र-प्रकटादित्य बना। उसने लघु काल के लिए शासन (530 ई. के लगभग) किया। श्वान-च्यांग के अनुसार उसकी बौद्ध धर्म में अटूट श्रद्धा थी और उसने नालन्दा में एक संधाराम बनवाकर अपनी धर्मनिष्ठा का परिचय दिया था। उसकी पहचान विष्णुगुप्त की नालन्दा मुहर के (तृतीय) कुमारगुप्त क्रमादित्य से की जा सकती है। यह भी हो सकता है कि वज्र-प्रकटादित्य व तृतीय कुमारगुप्त दो पृथक् व्यक्ति रहे हों। वज्र या कुमारगुप्त को यशोधर्मा के आक्रमण का सामना करना पड़ा होगा। उसने सम्भवतः मौखरी नरेश ईश्वरवर्मा या ईशानवर्मा की सहायता से इसका प्रतिरोध किया क्योंकि जौनपुर-लेख के अनुसार ईश्वरवर्मा या ईशानवर्मा ने धारा की ओर से आई अग्निकणिका को शांत किया था। तृतीय कुमारगुप्त की मुद्राएँ बड़ी संख्या में पाई जाती हैं। उसकी रुचि भी बौद्ध धर्म में थी। चीनी साहित्य से ज्ञात होता है कि 531 ई. में चीन के

नोट

लियांग वंश के सम्राटवृत्ति अथवा शियाओयेन ने महायान ग्रन्थों के संग्रह और उनका चीनी भाषा में अनुवाद करने के लिए एक भारतीय बौद्ध विद्वान को लाने हेतु एक दूत मण्डल 'मगध नरेश' के पास भेजा था। यह मगध नरेश सम्भवतः तृतीय कुमारगुप्त ही था। उसने दूत मण्डल का स्वागत किया और उसके साथ परमार्थ नामक विद्वान को चीन भेज दिया।

तृतीय कुमारगुप्त का उत्तराधिकारी उसका पुत्र विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य बना। डॉ. गोयल ने 'आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प' के 'उकार' नामक राजा को चन्द्रादित्य से अभिन्न माना है। विष्णुगुप्त गुप्तवंश का अन्तिम नरेश था। उसके साथ लगभग 550 ई० में भारत का यह गौरवशाली वंश इतिहास के रंगमंच से विलुप्त हो गया।

4.14 सारांश (Summary)

- कुषाण साम्राज्य के विघटन के उपरान्त उत्तर भारत में अनेक लघु राज्यों का उदय हुआ जिनमें कुछ गणाधीन थे और कुछ राजाधीन। राजाधीन राज्यों में सबसे शक्तिशाली भारशिव-नाग राज्य था जिसकी राजधानी पद्यावती थी।
- अ० स० अल्तेकर के शब्दों में, “उपलब्ध साक्ष्य से प्रतीत होता है कि वैदिक यज्ञ उतने लोकप्रिय कभी नहीं रहे जितने तीसरी और चौथी शताब्दियों में हिन्दू धर्म का पुनर्जागरण होने पर हुए।”
- ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान प्रकृत्या राष्ट्रीय होने के अतिरिक्त एकीकरण की प्रवृत्ति को सबल करने वाली एक महान शक्ति भी सिद्ध हुआ।
- गुप्त साम्राज्य उस अर्थ में ब्राह्मण पुनर्जागरण की देन था जिस अर्थ में नन्द-मौर्य साम्राज्य मगध की अवैदिक सांस्कृतिक परम्पराओं की देन रहा था।
- गुप्तवंश का प्रारम्भिक इतिहास मुख्यतः प्रयाग-प्रशस्ति एवं अन्य गुप्त लेखों में प्रदत्त वंशावली से ज्ञात होता है। इससे मालूम होता है कि इस वंश का प्रथम नरेश गुप्त (लग० 295-300) एवं उसका पुत्र घटोत्कच (लग० 303-319) केवल 'महाराज' थे जबकि घटोत्कच के पुत्र प्रथम चन्द्रगुप्त (319 से लग० 350 ई०) ने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी।
- द्वितीय चन्द्रगुप्त, जिसने रामगुप्त को मारकर सम्पूर्ण साम्राज्य को अधिकृत किया, समुद्रगुप्त की महादेवी दत्तदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। उसने 'विक्रम' उपाधि धारण की जो विभिन्न शब्दों के साथ उसके सिक्कों पर प्रयुक्त मिलती है।
- स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त साम्राज्य तीव्रता से अवनति की ओर उन्मुख होने लगा। इसका प्रधान कारण गुप्त सम्राटों की नीतियाँ थीं।
- स्कन्दगुप्त ने हूणों को पूर्णतः पराजित कर दिया था लेकिन उसकी मृत्यु के पश्चात् गुप्त साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाकर वे पुनः सक्रिय हो गये तथा छठी शती ई० के प्रारम्भ में उन्होंने तोरमाण के नेतृत्व में आक्रमण कर दिया।

4.15 शब्दकोश (Keywords)

- **प्रशस्ति लेख**—किसी राजा या राजवंश की प्रशंसा में लिखा गया लेख।
- **विजिगीषु**—विजय की इच्छा रखने वाला राजा।
- **सर्वकरदान**—सभी प्रकार के कर देकर।
- **प्रणामागमन**—राजा के प्रति निष्ठा का प्रदर्शन करना।

नोट

4.16 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान से क्या समझते हैं? ये किस काल में हुआ?
2. गुप्त वंश को 'ब्राह्मण पुनरुत्थान की देन' क्यों कहते हैं? विवेचना करें।
3. प्रारंभिक गुप्त इतिहास पर धर्म के प्रभावों का वर्णन करें।
4. समुद्रगुप्त की दिग्विजय एवं प्रशासकीय व्यवस्था पर प्रकाश डालें।
5. समुद्रगुप्त की शासन-व्यवस्था एवं नीतियों पर धार्मिक प्रभावों का वर्णन करें।
6. रामगुप्त का चरित्र-वर्णन करें।
7. चन्द्रगुप्त द्वितीय कौन था? उसके शासन एवं धार्मिक आदर्शों की विवेचना करें।
8. कुमारगुप्त के धर्म सहिष्णुता की नीति का वर्णन करें।
9. कुमारगुप्त के उत्तराधिकारियों के शासनकाल के तिथिक्रम का विश्लेषण करें।
10. स्कन्दगुप्त और उसकी धार्मिक नीति का वर्णन करें।
11. गुप्त साम्राज्य की अवनति में धर्म की भूमिका की समीक्षा करें।
12. भारत पर हूणों के आक्रमण एवं उनके धार्मिक दृष्टिकोणों का वर्णन करें।
13. गुप्त शासक एवं हूणों के बीच हुए संघर्ष पर धर्म के प्रभावों की विवेचना करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|---------------|----------------|--------------------|--------------|
| 1. लिच्छवि | 2. अश्वमेध | 3. विष्णु | 4. निर्माता |
| 5. (ख) इतिहास | 6. (ग) लिच्छवि | 7. (क) समुद्रगुप्त | 8. (ख) मथुरा |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. सत्य | 12. असत्य। |

4.17 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
2. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
3. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
4. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-5: मौखरी-वर्द्धन युग (Maukhary-Vardhan Age)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 5.1 मौखरी-वर्द्धन युग में कलियुग के दुष्प्रभावों की अवधारणा
(Concept of Badeffects of Kaliyuga in Maukhary-Vardhan Age)
- 5.2 छठी शती में उत्तर-भारतीय राज्यों पर धर्म का प्रभाव
(Effects of Religion on North-Indian States in 6th Century)
- 5.3 सारांश (Summary)
- 5.4 शब्दकोश (Keywords)
- 5.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 5.6 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- मौखरी-वर्द्धन युग में कलियुग के दुष्प्रभावों की अवधारणा को समझने में;
- छठी शती में उत्तर-भारतीय राज्यों पर धर्म के प्रभाव को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

छठी शती ई० में सार्वभौम सत्ता के रूप में गुप्तों का स्थान लेने का सबलतम प्रयास पश्चिम मालवा के वर्द्धनों और कन्नौज के मौखरियों ने किया और इसके उपरान्त सातवीं शती के प्रारम्भ में थानेसर के पुष्यभूतियों ने। वलभी के मैत्रक, मालव जनपद के परवर्ती गुप्त, राजस्थान और नन्दीपुर के गुर्जर, कामरूप के बर्मा एवं बंगाल के विभिन्न राजवंशों का इस युग में केवल प्रादेशिक महत्त्व था। इनमें अधिकांश वंशों पर गुप्त सम्राटों के धार्मिक दृष्टिकोण की व्यावहारिक असफलता का प्रभाव अवश्य पड़ा था और इसलिए वे चाहे जानबूझकर अथवा अनजाने में बौद्ध और वैष्णव आदर्शों के दायरे से निकले और अन्य मतों से, विशेषतः शैवमत से, जो व्यावहारिक रूप में उग्र होने और अशुभ शक्तियों के दमन के हेतु भौतिक बल अर्थात् हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करने की छूट देने के कारण युद्धप्रिय वर्गों में सदैव लोकप्रिय रहा है, अधिक प्रभावित हुए। यह धार्मिक प्रतिक्रिया यद्यपि पूरी तरह उभर कर कभी भी स्पष्ट नहीं हुई, परन्तु उपर्युक्त राजवंशों के अभिलेखों और तत्कालीन साहित्य में इसे एक अन्तर्भूत प्रभाव के रूप में अवश्य देखा जा सकता है। हमारा विचार है कि इस प्रतिक्रिया को भली-भाँति समझे बिना मौखरी-वर्द्धन युग का राजनीतिक विकास बोधगम्य नहीं हो सकता।

नोट

5.1 मौखरी-वर्द्धन युग में कलियुग के दुष्प्रभावों की अवधारणा (Concept of Badeffects of Kaliyuga in Maukhary-Vardhana Age)

मौखरी-वर्द्धन युग में उत्तर भारत में हूणों के आक्रमणों और अत्याचारों का जनमानस पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। इस महान विपत्ति को तत्कालीन विचारकों ने कलियुग के दुष्प्रभाव के रूप में लिया। यह तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि हिन्दू विश्वासानुसार कलियुग का प्रारम्भ महाभारत-युद्ध के युग में हुआ था, परन्तु कलियुग के दुष्प्रभावों की ओर संकेत भारतीय अभिलेखों और साहित्य में हूण आक्रमणों के पूर्व विरलतः ही मिलता है। लेकिन छठी शती ई० से भारतीय अभिलेख और साहित्य कलियुग में होने वाले अनाचारों की बार-बार चर्चा करते हैं और लोग दावा करते हैं कि उन्होंने संसार में कलियुग का प्रभाव मिटाकर सतयुग स्थापित करने की चेष्टा की। उदाहरणार्थ, ईशानवर्मा के हराहा-अभिलेख में कहा गया है कि उसके पिता ईश्वरवर्मा ने “सदाचार के द्वारा कलियुग के प्रभाव को विनष्ट कर दिया था।” (श्लोक 8)। “यद्यपि विश्व (उस समय) कलियुग के प्रभाव में निमग्न हो रहा था परन्तु वह परिश्रम से कभी नहीं थकता था।” (श्लोक 9)। इसी प्रकार इस अभिलेख में स्वयं ईशानवर्मा के बारे में कहा गया है कि उसने “भुवन मण्डल को, जहाँ सत्य का पथ आच्छादित हो गया था, कलियुग के अन्धकार में मग्न होने से बचाकर उचित मार्ग पर संलग्न कर दिया था।” (श्लोक 12) और “जिस समय कलियुग के मारुत वेग के कारण पृथ्वी रसातल रूपी समुद्र में मग्न होने जा रही थी, ईशानवर्मा ने उसे, भग्न नौका की भाँति, अपने सैकड़ों गुण रूपी रस्सियों से बांध दिया।” (श्लोक 15)। इस लेख में कलियुग पर विजय प्राप्त करने का दावा ईशानवर्मा के पुत्र सूर्यवर्मा के लिए भी किया गया है। कहा गया है कि उसने “कलियुग के अन्धकार को ध्वस्त कर दिया था।” (श्लोक 16) और “जब तक प्रवृद्ध कलि ने अपने बल के द्वारा सदाचार को दबा रखा था.... विधाता ने उस (सूर्यवर्मा) के लोकप्रिय वपु का निर्माण ही नहीं किया था।” (श्लोक)।

कलियुग के दुष्प्रभावों की ओर संकेत तत्कालीन युग के एक अन्य महत्वपूर्ण सम्राट यशोधर्मा-विष्णुवर्द्धन के मन्दसौर से प्राप्त तिथिविहीन-अभिलेख में से मिलता है। इसके दूसरे श्लोक में कहा गया है कि पृथ्वी ने (यशोधर्मा) की भुजाओं की, “जिसकी अग्रभुजाएँ भगवान् शार्ङ्गपाणि की अग्रभुजाओं की तरह धनुष की कठोर प्रत्यञ्चा (के भाँजने से उत्पन्न) कठोर चिह्नों से अंकित है (और) लोकोपकार के व्रत की सफल कार्यान्विति के प्रति धैर्ययुक्त है” उस समय शरण ली थी जब वह “इस युग के राजाओं द्वारा जो घमण्ड दिखाने वाले थे, विनय में शिक्षित न होने के कारण क्रूर हो गए थे, मदान्ध होने के कारण सदाचार के मार्ग का उल्लंघन करते थे और कुत्सित रतियों के उपभोग में लीन रहते थे,” सताई गई थी। (श्लोक 2)। इस लेख में यशोधर्मा को “उस युग में, जो सदाचार का विनाशक है, अपने गुणों के कारण देदीप्यमान” भी कहा गया है। (श्लोक 3)।

कलिधर्म के वर्तमान दुष्प्रभावों का वर्णन तत्कालीन साहित्य में भी सुरक्षित है।



उदाहरण बाण ने ‘हर्षचरित’ में कई स्थलों पर कलियुग के राजाओं के निन्द्याचरण की चर्चा की है।

यह भी सर्वथा सम्भव है कि ‘विष्णुपुराण’ में कलिधर्म का जो निरूपण किया गया है वह छठी सती ई० में हूण आक्रमण के परिणामस्वरूप उत्पन्न उपर्युक्त निराशाजनक वातावरण में ही लिखा है। इस पुराण की रचना निश्चित रूप से गुप्त वंश की स्थापना के उपरान्त हुई क्योंकि इसमें कलियुग के राजाओं का गुप्त वंश की स्थापना तक का इतिहास दिया गया है। परन्तु जैसा कि आजकल सभी इतिहासकार मानते हैं, आधुनिक युग में पुराण ग्रन्थ जिस रूप में मिलते हैं वह किसी युग की देन नहीं हैं—एक ही पुराण के विभिन्न अंश विभिन्न युगों की देन हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर यह तथ्य महत्वपूर्ण लगने लगता है कि इनमें कलियुग के दुष्प्रभावों का जो निरूपण किया गया है उसे और उपर्युक्त अभिलेखिक वर्णन को एक दूसरे की प्रतिध्वनि माना जा सकता है। उदाहरणार्थ, ‘विष्णुपुराण’ में गुप्तवंशीय एवं उनके समकालीन नरेशों का वर्णन करने के उपरान्त कलियुग में आने वाली विपत्तियों का वर्णन किया गया है। विष्णुपुराण में बतलाया गया है कि कलियुग में धर्म और अर्थ का हास होने के कारण संसार का क्षय हो जायेगा। पृथ्वीमण्डल में विविध दोषों के फैल जाने से सभी वर्णों में जो-जो बलवान होगा, वही राजा बन बैठेगा। इसी ग्रन्थ में इसके आगे षष्ठ अंश में मैत्रेय के पूछने पर पराशर ने कलिधर्म का विस्तार से निरूपण किया

नोट

है। वहाँ कहा गया है कि कलियुग में मनुष्यों की प्रवृत्ति वर्णाश्रम धर्मानुरूप नहीं रहेगी और न त्रयी धर्म का सम्पादन करने वाली होगी। उस समय धर्म-विवाह, गुरु-शिष्य सम्बन्ध की स्थिति, दाम्पत्य-क्रम और अग्नि में देवयज्ञ-क्रिया के कर्म भी नहीं रहेंगे।



सावधानी

कलियुग के आने पर राजा लोग प्रजा की रक्षा नहीं करेंगे बल्कि कर लेने के बहाने प्रजा का धन छीनेंगे। उस समय जिस-जिसके पास बहुत से हाथी, घोड़े और रथ होंगे वह-वह राजा होगा और जो शक्तिहीन होगा वह सेवक।

जब-जब वैदिक मार्ग का अनुसरण करने वालों का प्रभाव हो तभी-तभी कलियुग की अभिवृद्धि जानो। कलियुग में ब्राह्मणों के साथ शूद्र आदि समानता का दावा करेंगे, लोग बिना स्नान किए भोजन करेंगे, अग्निदेवता और अतिथि का पूजन नहीं करेंगे और पिण्डोदक क्रिया नहीं करेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुप्तोत्तर युग में साम्राज्य के विघटन और हूण-आक्रमण के कारण उत्पन्न अराजकता के पणामस्वरूप घोर निराशा का वातावरण छा गया था और राजाओं के अनाचार एवं अन्तिम गुप्त सम्राटों की तत्कालीन परिस्थिति में नितान्त अनुचित अहिंसाप्रियता के कारण, जिसकी ओर वे बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण उन्मुख हुए, उत्तर भारत में सामान्यजनों के मन में कलियुग के दोषों की बहुत गहरी अनुभूति होने लगी। इसके प्रतिक्रियास्वरूप तत्कालीन युग में नवोत्पन्न राजवंशों ने वैदिक यज्ञधर्म में पुनः रुचि प्रकट की। छठी शताब्दी ई० में स्थापित होने वाले नवीन राजवंशों के अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि उनमें अधिकांश यज्ञधर्म में रुचि रखते थे। पौराणिक सम्प्रदायों में उन्होंने विशेष रूप से शैवमत में आस्था प्रकट की गुप्तकाल में लोकप्रियता पाने वाले वैष्णव मत में कम और बौद्ध धर्म में तो विरल रूप से ही। यहाँ हम इस बात के ऊपर विशेष से बल देना चाहेंगे कि इस राजवंशों की यज्ञ धर्म और शैव मत में रुचि परवर्ती गुप्त सम्राटों के शासनकाल में वैष्णव और बौद्ध आदर्शों के खोखला सिद्ध हो जाने का स्वाभाविक परन्तु अचिन्तित परिणाम थी। शायद किसी भी नरेश ने वैदिक यज्ञधर्म और शैव मत में जानबूझकर विशेष श्रद्धा प्रकट नहीं की थी। यह स्पष्ट हो जाने पर भी कि वैष्णव और बौद्ध धर्मों का राजनीतिक आदर्श समयानुकूल नहीं रह गया है, यह भावना उनके मन में एक प्रच्छन्न रूप से रही होगी। हमारा उद्देश्य यहाँ केवल इस विचित्र तथ्य पर बल देना है कि गुप्तकाल में कामरूप से लेकर सौराष्ट्र तक लगभग सभी प्रदेशों में हमें वैष्णव मतावलम्बी राजवंश मिलते हैं जबकि गुप्त साम्राज्य के अवनति काल में जो राजवंश उद्भूत हुए उनमें अधिकांश न बौद्ध थे और न वैष्णव मतावलम्बी। हमारे विचार से इसका कारण गुप्त सम्राटों की असफलता के साथ वैष्णव और बौद्ध राजनीतिक आदर्शों का जुड़ जाना था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. हिन्दू विश्वासानुसार कलियुग का प्रारंभ युद्ध के युग में हुआ था।
2. बाण ने में कलियुग के राजाओं के निन्द्याचरणों की चर्चा की है।
3. विष्णुपुराण के अनुसार कलियुग में मनुष्यों की प्रवृत्ति धर्मानुसार नहीं रहेगी।
4. कलियुग में ब्राह्मणों के साथ आदि समानता का दावा करेंगे।

5.2 छठी शती में उत्तर-भारतीय राज्यों पर धर्म का प्रभाव

(Effects of Religion on North-Indian States in 6th Century)

गुप्तों के ह्रासकाल में जिस राजवंश ने सर्वाधिक राजनीतिक प्रतिष्ठा प्राप्त की वह था मन्दसौर का औलिकर वंश। इस वंश के तीन राजाओं के नाम हमें ज्ञात हैं यद्यपि उनका पारस्परिक सम्बन्ध अनिश्चित है। इनमें पहला था

नोट

आदित्यवर्द्धन जिसके अधीन महाराज गौरी का 400 ई० का एक अभिलेख छोटी सादड़ी में उपलब्ध है। दूसरा नरेश महाराजाधिराज द्रव्यवर्द्धन था जिसका उल्लेख वराहमिहिर ने अपनी 'बृहत्संहिता' में उज्जयिनी के स्वामी के रूप में किया है। वराहमिहिर ने द्रव्यवर्द्धन द्वारा शकुनों पर लिखित एक पुस्तक पढ़ी थी, क्योंकि वराहमिहिर की मृत्यु 587 ई० में हुई, इसलिए जिस 'महाराजाधिराज द्रव्यवर्द्धन' का उसने उल्लेख किया है वह छठी शताब्दी के प्रारम्भ में रखा जा सकता है। सम्भवतः इसी वंश में यशोधर्मा उर्फ विष्णुवर्द्धन का उदय हुआ जिसके मन्दसौर से प्राप्त एक पाषाण लेख में 532 ई० तिथि मिलती है। उसका एक अन्य तिथिविहीन अभिलेख इस स्थान से और मिला है। इन अभिलेखों में यशोधर्मा, विष्णुवर्द्धन को 'जनेन्द्र', 'राजाधिराज', 'परमेश्वर' और 'सम्राट' आदि उपाधियाँ दी गई हैं और दावा किया गया है कि उसने अपने वंश के राज्य की सीमाओं की अवज्ञा करते हुए उन प्रदेशों का भी उपभोग किया था जिन्हें स्वयं गुप्त सम्राट भी नहीं भोग पाये थे और जहाँ हूण नरेशों के आदेश भी मान्य नहीं हुए थे। उसके तिथिविहीन-अभिलेख के अनुसार उसके चरणों में लौहिय (ब्रह्मपुत्र) नदी से लेकर महेन्द्र पर्वत तक तथा हिमालय से लेकर पश्चिम पयोधि (अरब सागर) तक विस्तृत भूखण्ड के नरेश शीश झुकाते थे, लेकिन उसके द्वारा परास्त नरेशों में केवल हूणराज मिहिरकुल के नाम का ही उल्लेख हुआ है।

यशोधर्मा अपने युग के राजाओं के व्यवहार, सदाचार और धार्मिक दृष्टिकोण से स्पष्टतः बहुत असन्तुष्ट था। वह उस शैव धार्मिक आदर्श का पहला महत्वपूर्ण प्रतिनिधि है जिसको गुप्त सम्राटों के राजनीतिक आदर्श के खोखला सिद्ध हो जाने के कारण लोकप्रियता प्राप्त हो रही थी। उसका तिथिविहीन अभिलेख, जो उसने अपनी विजयों के उपरान्त स्थापित जयस्तम्भ पर उत्कीर्ण कराया था, उन भगवान् शूलपाणि की स्तुति से प्रारम्भ होता है, 'जिनके वाहन नन्दी के भयंकर प्रहारों के भय से दिग्दिगन्त के दैत्य समुद्भ्रान्त होकर कांपने लगते हैं।' अगले श्लोक में वह लिखता है कि पृथ्वी ने उसकी बाहों की शरण ऐसे समय में ली थी जब वह उनतत्कालीन नरेशों के व्यवहार से सम्पीडित हो रही थी जो अपने वलावलेप द्वारा उद्यत थे, सदाचार का उल्लंघन करने वाले थे और कुत्सित रतियों के उपभोग में संलग्न रहते थे। इसके आगे वह दावा करता है कि उस युग में जो सदाचारी था वह अपने सद्गुणों के कारण देदीप्यमान था और पथ भ्रष्ट नरेशों की संगति का परित्याग कर देने के कारण उसी भाँति सुशोभित हो रहा था जिस प्रकार कीचड़ में प्रक्षिप्त न होने पर कुसुम शोभायुक्त होता है। उसने अपने राज्य में सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया। उसके अभिलेख में उसे 'धर्मनिकेत' बताया गया है और कहा गया है कि उसके द्वारा नियमित लोकजीवन सद्मार्ग से विचलित नहीं होता था। उसके तिथिविहीन अभिलेख में दावा किया गया है कि 'सम्राट' उपाधि उस युग के अन्य नरेशों के लिए तो मात्र कल्पित अर्थ में प्रयुक्त होती थी परन्तु उसके लिए, जो अपने सद्गुणों के कारण मनु, भरत अलर्क, और मान्धाता जैसे महान सम्राटों के समान था, प्रयुक्त होने पर उसी प्रकार प्रभासित हुई जैसे शुद्ध स्वर्ण में जड़े जाने पर मणि चमक उठती है। शैव धर्म से प्रभावित सम्राट यशोधर्मा के अभिलेख में चित्रित यह आदर्श तत्कालीन बौद्ध गुप्त सम्राट द्वितीय नरसिंहगुप्त बालादित्य के धार्मिक विचारों से कितना भिन्न है जिसने श्वान-च्यांग के अनुसार मिहिरकुल का आक्रमण होने पर अपने 'निक्कमे' शरीर को बचाने के लिए पर्वतों और जंगलों का रास्ता नापा था।

मालवा के वर्द्धन वंश के पड़ोस में गुजरात का मैत्रक राज्य था जिसकी स्थापना पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों के किसी समय 'सेनापति' भटार्क ने की थी। भटार्क के बाद शासन करने वाले उसके पुत्र धरसेन ने भी मात्र 'सेनापति' उपाधि धारण की थी। लेकिन धरसेन के भाई द्रोणासिंह को 'अखिल भुवनमण्डल के स्वामी' ने स्वयं आकर राजपद पर अभिषिक्त किया था। इस परमाधीश्वर की पहचान अभी तक गुप्त सम्राट से की जाती रही है। लेकिन डॉ. गोयल का कहना है कि अब तत्कालीन मालवा में साम्राज्यिक वर्द्धन वंश का अस्तित्व सिद्ध हो जाने के बाद मैत्रक वंश को वर्द्धनों के अधीन ही मानना चाहिए। द्रोणासिंह के उत्तराधिकारी छठी शती ई० के मध्य तक केवल 'महाराज' उपाधि से सन्तुष्ट रहे। 'महाराजाधिराज' की उपाधि उन्होंने हर्षोत्तर युग में ही धारण की। धार्मिक दृष्टि से अधिकांश मैत्रक नरेश शैव थे। उनके वंश के 19 राजाओं में केवल पाँचवाँ धरपट्ट सूर्य का भक्त कहा गया है। भटार्क के दूसरे पुत्र द्रोणासिंह के बारे में कहा गया है कि मनु द्वारा बताये गए नियमों का पालन करने के कारण वह 'धर्मराज' कहलाता था। इसलिए कुल मिलाकर मैत्रक वंश को उसी धार्मिक वातावरण की देन कहा जा सकता है जिसमें मालवा का वर्द्धन वंश उत्पन्न हुआ था।

नोट

उत्तर प्रदेश और उसके निकटस्थ भू-भागों में छठी शती ई० में मौखरियों ने शासन किया। मौखरियों की राजधानी कन्नौज थी। मालवा के वर्द्धनों का पतन होने के बाद वे उत्तर भारत की सबसे बड़ी शक्ति बने।



नोट्स इस वंश के पहले तीन राजा हरिवर्मा (लगभग 500 ई०), आदित्यवर्मा (लगभग 520 ई०) और ईश्वरवर्मा (लगभग 540 ई०), 'महाराज' थे।

ईश्वरवर्मा का पुत्र ईशानवर्मा (ज्ञात तिथि 554 ई०) प्रथम नरेश था जिसने 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण की। इस वंश का प्रारम्भिक इतिहास ईशानवर्मा के हराहा अभिलेख से ही ज्ञात होता है। इस अभिलेख से स्पष्ट है कि यह वंश भी नए धार्मिक वातावरण से प्रभावित हुआ था। इस वंश के पहले नरेश हरिवर्मा को हराहा-अभिलेख में 'ज्वालामुख' कहा गया है। असीरगढ़ मुहरलेख के अनुसार वह वर्णाश्रम व्यवस्था को बनाये रखने में सदा प्रवृत्त रहता था। उसके पुत्र आदित्यवर्मा ने भी बहुत से यज्ञ किये थे। हराहा-अभिलेख में उसके यज्ञों का प्रशंसात्मक रूप से उल्लेख है। जौनपुर-अभिलेख में भी ईश्वरवर्मा के पूर्व शासन करने वाले नरेश को यज्ञ करके पुण्यलाभ करने का श्रेय दिया गया है। स्वयं ईश्वरवर्मा ने भी अपने पिता के समान यज्ञ धर्म में रुचि ली। उसने शास्त्रों में वर्णित विधियों के अनुसार अनेक यज्ञ करके इन्द्र को सन्तुष्ट किया था। वह अपने वंश का पहला महत्त्वपूर्ण नरेश था। जौनपुर-अभिलेख के अनुसार उसने क्रूरजनों के आगमन के कारण लोकानन्द में पहुँची बाधा को प्रेमवश दूर किया, धारा की ओर से आने वाली चिंगारी को शांत किया और आन्ध्रपति को विध्याचल के रन्ध्र-प्रतिरन्ध्र में घूमने के लिए विवश किया। हराहा-अभिलेख में उसके पुत्र उत्तराधिकारी ईशानवर्मा ने दावा किया है कि वह आन्ध्रों, शूलिकों और गौड़ों को पराभूत करने के उपरान्त सिंहासनारूढ़ हुआ था। जैसा कि डॉ. गोयल का आग्रह है इस कथन से स्पष्ट है कि हराहा-अभिलेख के ये युद्ध ईश्वरवर्मा के जीवनकाल में ही लड़े गए होंगे। सिंहासन प्राप्त कर लेने के उपरान्त ईशानवर्मा को परवर्ती गुप्त नरेश कुमारगुप्त से संघर्ष करना पड़ा जिसमें मौखरियों को विजय प्राप्त हुई। ईशानवर्मा भी अपने पूर्वजों के समान ब्राह्मण धर्म में आस्था रखता था। हराहा-अभिलेख के अनुसार उसके शासन काल में तीनों वेद पुनः अवतरित हो उठे थे।

हराहा-अभिलेख में ईशानवर्मा के पुत्र के रूप में सूर्यवर्मा का उल्लेख है जिसने इस अभिलेख में उल्लिखित शिव-मन्दिर का निर्माण करवाया था। लेकिन वह सम्भवतः अपने पिता के जीवनकाल में ही दिवंगत हो गया, इसलिए ईशानवर्मा के उपरान्त उसके दूसरे पुत्र शर्ववर्मा ने शासन किया। ईशानवर्मा के समान सम्भवतः शर्ववर्मा को भी परवर्ती गुप्तों से संघर्ष करना पड़ा क्योंकि आदित्यसेन के अफसद-अभिलेख में परवर्ती गुप्त नरेश कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी दामोदरगुप्त का संघर्ष जिस मौखरी राजा के साथ होने का उल्लेख है उसकी पहचान शर्ववर्मा से की जा सकती है। उसके उपरान्त कमशः अवन्तिवर्मा और ग्रहवर्मा ने शासन किया। ग्रहवर्मा का विवाह पुष्यभूति वंश की राजकुमारी और हर्ष की बहिन राज्यश्री से हुआ था। उसके समय मौखरी वंश पर बौद्ध धर्म का गम्भीर प्रभाव पड़ा। इसका संकेत हमें कई प्रकार से मिलता है। एक, बाण के 'हर्षचरित' में बताया गया है कि जब ग्रहवर्मा की हत्या हो जाने के बाद हर्ष अपनी बहिन राज्यश्री को दूढ़ने विन्ध्य पर्वत की ओर गया तो वहाँ उसकी सहायता दिवाकरमित्र नामक बौद्ध आचार्य ने की थी। इस दिवाकरमित्र को बाण ने ग्रहवर्मा का बालसखा बतलाया है। दूसरे स्वयं राज्यश्री की बौद्ध धर्म में अनुरक्ति इस बात का संकेत मानी जा सकती है कि इस विषय में उसके ऊपर पति का प्रभाव पड़ा था।



क्या आप जानते हैं? तीसरे श्वान-च्यांग के अनुसार, शशांक के द्वारा बोधिवृक्ष काट दिए जाने पर पूर्णवर्मा नामक राजा ने उसको पुनर्जीवित करवाया था।

अब, मगध मौखरी साम्राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित रहा था और पूर्णवर्मा सम्भवतः स्वयं मौखरी वंश में उत्पन्न हुआ था। अगर उसके वंश विषयक यह सामान्यतः स्वीकृत अनुमान सही है तो इसे तत्कालीन मौखरी वंश में बौद्ध के प्रभाव का अतिरिक्त माना जा सकता है।

नोट

मौखरियों के सबसे बड़े प्रतिद्वन्दी मगध के परवर्ती गुप्त नरेश थे। उनका इतिहास आदित्यसेन नामक राजा के अफसद अभिलेख से मालूम होता है। इससे ज्ञात होता है कि इस वंश का चौथा राजा कुमारगुप्त मौखरी राजा ईशानवर्मा का समकालीन था। इसलिए उसके पहले शासन करने वाले उसके तीन पूर्वजों—कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त और प्रथम जीवितगुप्त—को स्थूलतः प्रथम तीन मौखरी नरेशों का समकालीन माना जा सकता है। इनमें प्रथम जीवितगुप्त के बारे में कहा गया है कि उसने हिमालय और समुद्र तट पर वास करने वाले शत्रुओं को परास्त किया था, क्योंकि ये सफलताएँ उसके समकालीन राजा ईश्वरवर्मा ने भी जिनके साथ परवर्ती गुप्तों का विवाह सम्बन्ध हो चुका था, प्राप्त की थी। इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि प्रथम जीवितगुप्त और ईश्वरवर्मा ने ये युद्ध अपने स्वामी गुप्त सम्राट के लिए मिलकर लड़े होंगे। लेकिन प्रथम जीवितगुप्त के बाद, जब गुप्त साम्राज्य का पतन हो गया, उसके पुत्र कुमारगुप्त और ईश्वरवर्मा के पुत्र ईशानवर्मा में संघर्ष हुआ और अगली पीढ़ी में कुमारगुप्त के पुत्र दामोदरगुप्त और ईश्वरवर्मा के पुत्र शर्ववर्मा में तो इन दोनों ही युद्धों में परवर्ती गुप्त परास्त हुए। दामोदरगुप्त के पुत्र महासेनगुप्त के बारे में अफसद अभिलेख में दावा किया गया है कि उसने लौहित्य के तट पर सुस्थितवर्मा को पराजित किया था। लेकिन महासेनगुप्त के साथ उसके वंश की शक्ति कुछ समय के लिए समाप्त हो गई और उसके पुत्र कुमारगुप्त और माधवगुप्त को, थानेसर के राजा प्रभाकरवर्द्धन के पास, जिसकी माता महासेनगुप्ता सम्भवतः महासेनगुप्त की बहिन थी, शरण लेनी पड़ी। परवर्ती गुप्तवंश की धार्मिक नीति पूर्णतः अज्ञात होने के कारण इस वंश से सम्बन्धित घटनाओं पर धर्म के प्रभाव का मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है।

गुप्तोत्तर युग के राजनीतिक क्षेत्रों में शैव धर्म के प्रभाव और बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया का सबसे उग्र उदाहरण बंगाल से मिलता है। उत्तरी बंगाल पर गुप्तों का आधिपत्य उनके वंश के पतन तक बना रहा था, जैसाकि 543 ई० के पंचम दामोदरपुर-दानपत्र से स्पष्ट है। लेकिन इस बीच बंगाल के शेष भागों में स्वतन्त्र राजवंशों का उदय हो गया था। यद्यपि उनका इतिहास पूरी तरह स्पष्ट नहीं है। अभिलेखों और सिक्कों से हमें छठी शती ई० के प्रथम तीन पादों में वग-समतट प्रदेश में शासन करने वाले तीन राजाओं के नाम ज्ञात हैं—गोपचन्द्र, धर्मादित्य, और समाचारदेव। जहाँ तक गौड़ देश का प्रश्न है, वहाँ छठी शती के उत्तरार्द्ध में जयनाग नामक राजा का उदय हुआ जिसका अस्तित्व हमें उसके धनुर्धरी प्रकार के सिक्कों, वधघोषवाट-दानपत्र और नालन्दा से प्राप्त उसके सिक्के बनाने के सांचे से ज्ञात होता है। गौड़ में सुप्रसिद्ध नरेश शशांक ने अपना जीवन सम्भवतः जयनाग के महासामन्त के रूप में ही प्रारम्भ किया था। इसके उपरान्त उसने धीरे-धीरे समस्त बंगाल, मगध व उत्तर प्रदेश पर अधिकार किया। 'हर्षचरित' के अनुसार जिस समय प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु हुई शशांक की सेनाएँ कन्नौज तक पहुँच चुकी थीं।

पूर्वी भारत का कामरूप प्रदेश (आधुनिक असम) भी गुप्तोत्तर युग में एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उद्भूत हुआ। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में कामरूप का उल्लेख 'प्रत्यन्त' राज्य के रूप में किया गया है। तब से लेकर सातवीं शताब्दी तक इस प्रदेश पर एक ही वंश का शासन रहा जिसे 'नारक', 'भौम' या 'वर्मा' कहा जाता है। इसकी स्थापना समुद्रगुप्त की कृपा से पुष्यवर्मा ने की थी। पुष्यवर्मा के उपरान्त इसका इतिहास उसके वंशज भास्करवर्मा के, जो हर्ष का समकालीन था, निधानपुर और दूबी-दानशासन, नालन्दा से प्राप्त मुहरों में प्रदत्त वर्मा-वंश वर्णन, कुछ अन्य अभिलेखों, बाण के हर्ष चरित एवं श्वान-च्यांग द्वारा प्रदत्त कुछ छिट-पुट सूचनाओं से ज्ञात होता है। श्वान-च्यांग ने इस वंश को ब्राह्मणजातीय बताया है। अभिलेखिक साक्ष्यानुसार पुष्यवर्मा के उत्तराधिकारी यज्ञ धर्म में बड़ी रुचि लेते थे। पुष्यवर्मा के उपरान्त शासन किया क्रमशः समुद्रवर्मा, बलवर्मा, कल्याणवर्मा, गणपतिवर्मा, महेन्द्रवर्मा और नारायणवर्मा ने। दूबी-दानशासन के अनुसार महेन्द्रवर्मा और बलवर्मा ने अनेक यज्ञ किये थे। निधानपुर-दानपत्र में भी कहा गया है कि महेन्द्रवर्मा ने दो अश्वमेध किये थे। इस वंश की शक्ति विशेष रूप से बड़ी नारायणवर्मा के पुत्र भूतिवर्मा या महाभूतिवर्मा के काल में, जिसने बड़गंगा-शिलालेख और दूबी-दानपत्रानुसार अश्वमेध किया था। निधानपुर-दानपत्रानुसार उसने कामरूप को अपने दृष्टिपात मात्र से जीत लिया था और चन्द्रपुरी विषय में मयूरशाल्मल अग्रहार को दो सौ से अधिक ब्राह्मणों को दान दिया था। भूतिवर्मा के उपरान्त शासन किया क्रमशः चन्द्रमुखवर्मा, स्थितवर्मा और सुस्थितवर्मा ने। सुस्थितवर्मा के दो पुत्र थे—सुप्रतिष्ठितवर्मा और भास्करवर्मा जिनमें भास्करवर्मा हर्ष का समकालीन था। बाण के अनुसार वह भगवान शिव के अतिरिक्त और किसी के सम्मुख अपना शीश नहीं झुकाता था।

नोट

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुप्तोत्तर युग में प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले लगभग सभी महत्वपूर्ण उत्तर भारतीय राजवंश वैदिक धर्म और शैव मत में अधिक श्रद्धा रखते थे। इनमें थानेसर का पुष्यभूति वंश भी सम्मिलित है जिसका अध्ययन हमने आगे किया है। यह चित्र उस से सर्वथा भिन्न है जो हमें गुप्तकाल में मिलता है जब गुप्त सम्राटों (जो पहले वैष्णव थे और बाद में बौद्ध धर्म में आस्था रखने लगे थे) और उनके अधीन एवं प्रायः उनकी कृपा से राजलक्ष्मी पाने वाले वैष्णव राजवंशों का शासन था। यह अन्तर गुप्त सम्राटों के राजनीतिक आदर्श के खोखला सिद्ध हो जाने का परिणाम माना जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

5. यशोधर्मा अपने युग के राजाओं के व्यवहार, सदाचार तथा धार्मिक दृष्टिकोण से बहुत असंतुष्ट था।
6. 'गुप्त' के हासकाल में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त राजवंश मन्दसौर का औलिकर वंश था।
7. मौखरियों की राजधानी गुजरात थी।
8. परमाधीश्वर की पहचान गुप्त सम्राट से की जाती है।

5.3 सारांश (Summary)

- छठी शती ई० में सार्वभौम सत्ता के रूप में गुप्तों का स्थान लेने का सबलतम प्रयास पश्चिम मालवा के वर्द्धनों और कन्नौज के मौखरियों ने किया और इसके उपरान्त सातवीं शती के प्रारम्भ में थानेसर के पुष्यभूतियों ने।
- मौखरी-वर्द्धन युग में उत्तर भारत में हूणों के आक्रमणों और अत्याचारों का जनमानस पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। इस महान विपत्ति को तत्कालीन विचारकों ने कलियुग के दुष्प्रभाव के रूप में लिया।
- कलियुग के दुष्प्रभावों की ओर संकेत तत्कालीन युग के एक अन्य महत्वपूर्ण सम्राट् यशोधर्मा-विष्णुवर्द्धन के मन्दसौर से प्राप्त तिथिविहीन-अभिलेख में से मिलता है।
- विष्णुपुराण में बतलाया गया है कि कलियुग में धर्म और अर्थ का हास होने के कारण संसार का क्षय हो जायेगा। पृथ्वीमण्डल में विविध दोषों के फैल जाने से सभी वर्णों में जो-जो बलवान होगा, वही राजा बन बैठेगा।
- गुप्तों के हासकाल में जिस राजवंश ने सर्वाधिक राजनीतिक प्रतिष्ठा प्राप्त की वह था मन्दसौर का औलिकर वंश।
- यशोधर्मा अपने युग के राजाओं के व्यवहार, सदाचार और धार्मिक दृष्टिकोण से स्पष्टतः बहुत असन्तुष्ट था। वह उस शैव धार्मिक आदर्श का पहला महत्वपूर्ण प्रतिनिधि है जिसको गुप्त सम्राटों के राजनीतिक आदर्श के खोखला सिद्ध हो जाने के कारण लोकप्रियता प्राप्त हो रही थी।
- मौखरियों के सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी मगध के परवर्ती गुप्त नरेश थे। उनका इतिहास आदित्यसेन नामक राजा के अफसद अभिलेख से मालूम होता है।

5.4 शब्दकोश (Keywords)

- विधाता—सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा।
- अवलम्बन—अनुसरण करना।

नोट

5.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. मौखरी-वर्द्धन युग में कलियुग के दुष्प्रभाव की अवधारणा को स्पष्ट करें।
2. छठी शती में उत्तर भारतीय राज्यों पर पड़ने वाले धर्म के प्रभावों का वर्णन करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|------------|---------------|--------------|----------|
| 1. महाभारत | 2. 'हर्षचरित' | 3. वर्णाश्रम | 4. शूद्र |
| 5. सत्य | 6. सत्य | 7. असत्य | 8. सत्य। |

5.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
2. औपनिवेशिक काल में भारत—डग्लस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
3. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
4. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
5. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
6. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-6: उत्तर-भारत में प्रारंभिक-मध्यकालीन राज्य-व्यवस्था (700 से 1200 ई. तक) [Early-Medieval Polities in North-India (7th to 12th A.D.)]

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 6.1 आरम्भिक चरण : अरब और सिंध (Early Stage–Arab and Sindh)
- 6.2 अफगानिस्तान और अलहिंद (Afghanistan and Al-Hind)
- 6.3 गजनवी (Ghaznavi)
- 6.4 राजपूत रजवाड़े (Rajputa Rajwada)
- 6.5 उत्तर-भारत में तुर्कों की विजय (Conquest of Turks in North-India)
- 6.6 तराइन की लड़ाई (War of Taraian)
- 6.7 गंगा की वादी, बिहार और बंगाल में तुर्कों की विजय
(Conquest of Turks in Bengal and Bihar, Valley of Ganga)
- 6.8 राजपूतों की पराजय के कारण (Causes of Defeat of Rajputa)
- 6.9 सारांश (Summary)
- 6.10 शब्दकोश (Keywords)
- 6.11 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 6.12 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- अरब और सिंध के साम्राज्य के आरंभिक चरणों को जानने में;
- गजनवी और राजपूत रजवाड़े को जानने में;
- उत्तर भारत में तुर्कों की विजय एवं तराई की लड़ाई को जानने में;
- भारत में तुर्कों की विजय एवं राजपूतों की पराजय के कारणों को जानने में।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

पश्चिमी और मध्य एशिया की घटनाएँ अक्सर भारत को प्रभावित करती थीं और कभी-कभी उत्तर-पश्चिम से घुसपैठ का कारण बन जाती थीं। प्राचीन काल से ऐसा ही होता आया था। पश्चिम एशिया में सातवीं सदी में एक शक्तिशाली, प्रसारवादी अरब साम्राज्य के उदय के बाद नवीं सदी में अब्बासी राजवंश के खंडहर पर अनेक महत्वाकांक्षी, युद्ध-प्रेमी तुर्क राज्यों का उदय हुआ। इसके कारण लाजमी तौर पर भारत में प्रवेश के प्रयास हुए जिसे हमेशा से सोने-चाँदी का और अत्यंत समृद्धशाली देश माना जाता था। भारत में प्रवेश के ये प्रयास परिस्थितियों के अनुसार तेज या धीमे पड़ते रहे तथा उनको एक सही परिप्रेक्ष्य में भी देखना होगा।

6.1 आरंभिक चरण : अरब और सिंध (Early Stage : Arab and Sindh)

एक समय सिंध एक शक्तिशाली साम्राज्य था और इसमें मकरान, कंदहार, सीस्तान और कश्मीर तक फैली पूरी सिंधु घाटी आ जाती थी, पर इसका विघटन हो चुका था और स्वतंत्र राज्य पैदा हो गए थे। मुलतान तक सिंध पर चाच नाम के एक ब्राह्मण का कब्जा था। माना जाता है कि उसने कन्नौज से बहुत बड़ी संख्या में ब्राह्मण बुलाए। इनमें से अनेक ब्राह्मणों ने, जिनको मालगुजारी से मुक्त ज़मीनें दान में दी गईं, कृषि का प्रसार किया। मंत्रियों, लेखाकारों, राजस्व अधिकारियों आदि के रूप में वे प्रशासन भी चलाते थे।

636 ई० में अरबों ने शक्तिशाली फ़ारस साम्राज्य को मात दे दी तथा अपने शासन को जल्द ही आक्सस (आमू) नदी तक फैला लिया। वे सिंध की ओर भी आकर्षित हुए जो अपने स्थलीय व्यापार और बंदरगाह दाभोल के सस्ते समुद्री व्यापार के कारण सोने से लदा हुआ था। दाभोल के आसपास कुछ लूटपाट की घटनाएँ हुईं और फिर अरबों ने समुद्री रास्ते से धावे बोले, मगर यह सब केवल सिंध पर हमले के बहाने थे। बोलन दर्रे और मकरान तट के रास्ते आरंभिक अरब हमलों को नाकाम कर दिया गया। यही हाल समुद्री रास्ते से दाभोल पर हुए एक हमले का हुआ। लेकिन खलीफ़ा के आदेश पर मुहम्मद बिन कासिम ने 711 में मकरान के रास्ते, स्थल मार्ग से सिंध पर हमला किया। सीरियाई सैनिकों का एक बड़ा दस्ता उसके साथ था। ज़बरदस्त प्रतिरोध के बाद दाभोल का पतन हुआ तथा तीन दिनों तक निर्मम नरसंहार और लूटपाट का दौर चलता रहा। उसके बाद मुहम्मद बिन कासिम ने चाच के बेटे दाहर पर हमला किया और भारी प्रतिरोध के बावजूद उसे हराकर मुलतान तक के इलाके पर कब्जा कर लिया। कुछ स्थानीय कबीलों ने मुस्लिम आक्रमणकारियों का साथ दिया, लेकिन इतिहासकार इस कथा को स्वीकार नहीं करते कि दाहर की पराजय बौद्धों के विश्वासघात के कारण हुई जो ब्राह्मणों के जानी दुश्मन थे।

सिंध में अरब शासन, जो बारहवीं सदी तक चला, की कुछ खास विशेषताएँ हैं। आरंभ से ही बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन का कोई प्रयास नहीं किया गया तथा वहाँ के निवासियों-बौद्धों, हिंदुओं और अग्निपूजकों को ज़िम्मी का दर्जा दिया गया, अर्थात् ऐसी संरक्षित जनता का जो मुस्लिम शासन को स्वीकार करती है और जज़िया देने पर सहमत है, लेकिन अलग से जज़िया की वसूली का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। लगता है जज़िया फ़िरोज़ तुग़लक के समय तक दिल्ली सल्तनत में खिराज (भूमिकर) का अंग बना रहा। सिंध में अरब शासन के दौरान लूटपाट तथा मूर्तियों से सोने और आभूषणों को लूटा गया, किंतु बाद में मंदिरों को नष्ट नहीं किया गया।



उदाहरण मुलतान के सूर्य मंदिर को नष्ट नहीं किया गया जहाँ भारी संख्या में तीर्थयात्री आते थे। वास्तव में, हिंदुओं को नए मंदिर तक बनाने की अनुमति थी।

स्थानीय प्रशासन चलाने के लिए बड़े पैमाने पर ब्राह्मणों और बौद्धों को शामिल किया गया। लगता है कि अरब शासन में सिंध का स्थलीय और समुद्री व्यापार फला-फूला। खेती का विकास भी हुआ। आर्थिक विकास नए नगरों के जन्म में प्रतिबिंबित होता था, हालाँकि उनमें से कुछ ही बचे हैं।

हालाँकि अरबों ने सिंध के बाहर भी हमले किए, पर सिंध से आगे वे अपने पैर फैला नहीं सके। इसके अनेक कारण थे। राजस्थान और पश्चिम भारत के गुर्जर-प्रतिहार शासक तथा गुजरात के चालुक्य इतने शक्तिशाली थे कि वे अरबों

नोट

के हमलों को नाकाम कर सकें। स्पष्ट है कि केवल सिंध के संसाधनों के बल पर अरब, सिंध से परे फैलने की हालत में नहीं थे। दमिश्क और बगदाद के खलीफ़ा भी भारत में अपने राज्य के प्रसार को बहुत महत्व नहीं देते थे। वह तो तभी संभव हुआ जब अफगानिस्तान के पंजाब और भारत में प्रवेश के आधार बन गए।

लगता है इस पूरे काल में राजपूत राज्यों ने इसकी शायद ही कोई कोशिश की कि वे सिंध से अरबों को बाहर करके अपने ऊपर मँडरा रहे खतरे को दूर करें, तब भी नहीं जब अरबों की हालत कमजोर हो गई थी। यह बाद की एक मनगढ़ंत और अवांछित कथा लगती है कि उन्होंने ऐसी कोशिश नहीं की, क्योंकि अरबों की यह धमकी थी कि वे मुलतान के सूर्य मंदिर को नष्ट कर देंगे। मुलतान के सूर्य मंदिर को दसवीं सदी में रूढ़ि-विरोधी इस्माइली पंथ के समर्थकों ने नष्ट कर दिया जिन्होंने मुलतान में अपना एक अलग राज्य कायम किया था। बाद में इस राज्य को महमूद गज़नवी ने नष्ट किया।

6.2 अफगानिस्तान और अलहिंद (Afghanistan and Al-Hind)

नवीं सदी तक काबुल, ज़ाबुल और ज़मींदावर, अर्थात् हलमंद नदी के आसपास के क्षेत्र जिसे अरब अलहिंद कहते थे, उसके हिस्से बने रहे। इन क्षेत्रों में हिंदू, बौद्ध और पारसी धर्मों का फलना-फूलना जारी रहा। इन क्षेत्रों पर ऐसे वंशों का शासन रहा जिनकी मज़बूत स्थानीय जड़ें थीं, पर जिनके तुर्कों, यूहेची और कनिष्क के कबिलाई लोगों से भी संबंध थे। खुरासान या पूर्वी फ़ारस से, जो हेरात और आक्सस नदी तक फैला हुआ था, अरब ज़मींदावर और काबुल पर बराबर हमले करते रहे। इन क्षेत्रों से कंदहार के रास्ते हेरात तक चलने वाले व्यापार के कारण ये समृद्ध क्षेत्र होते थे, लेकिन अरबों की गतिविधियाँ अधिकतर लूट, खिराज की वसूली और गुलामों की गिरफ्तारी तक सीमित रहीं। काबुल के तुर्कशाही शासक, जिनकी मज़बूत स्थानीय जड़ें थीं, बहुत हद तक इस घुसपैठ का सामना करने में सफल रहे, हालाँकि कभी-कभी वे खिराज देने पर भी सहमत हो जाते थे। गुलामों के लिए कभी-कभी मुलतान तक धावे बोले जाते थे। इसके कारण खुरामान में सिविस्तान के अरब शासकों के खिलाफ़ मुलतान के शासक काबुल के शासकों के साथ हो गए।

नवीं सदी के अंत में अब्बासी साम्राज्य पतनोन्मुख था। उसकी जगह इस्लाम अपना चुके तुर्कों द्वारा शासित अनेक राज्य ले चुके थे। तुर्क अब्बासी साम्राज्य में नवीं सदी में महलों के पहरेदारों और किराए के सैनिकों के रूप में पहुँचे थे। जल्द ही वे बादशाहों को बनाने-बिगाड़ने लगे। केंद्र सरकार की शक्ति का हास हुआ तो सूबेदार स्वतंत्र होने लगे हालाँकि कुछ समय तक एकता का भ्रम इस तरह बनाकर रखा गया कि जो सिपहसालार अपना स्वतंत्र प्रभाव क्षेत्र बना लेता था, खलीफ़ा उसी को औपचारिक रूप से अमीर-उल-उमरा (कमानदारों का कमानदार) की पदवी दे देता था। इन नए शासकों ने पहले तो 'अमीर' और फिर 'मुलतान' की उपाधि धारण की।

मध्य एशिया के तुर्क कबीलों के निरंतर धावों ने, जल्दी से अपनी वफ़ादारी बदल लेने और एक असफल शासक का साथ छोड़ देने के लिए तैयार तुर्क सिपाहियों के भाड़े वाले चरित्र ने तथा विभिन्न मुस्लिम पंथों के और विभिन्न क्षेत्रों के आपसी टकराव ने मध्य एशिया में इस काल को अशांति का काल बना दिया। साम्राज्य और राज्य तेज़ी के साथ, एक-एक करके पैदा हुए और मिट गए। इस स्थिति में बस ऐसा ही कोई व्यक्ति कामयाब हो सकता था जो दिलेर सिपाही और जननायक हो, जो युद्धकला में माहिर हो और षड्यंत्रों से जूझने में भी समर्थ हो।

तुर्क कबीलों की लूटपाट करने की आदत थी। तेज़ी से आगे बढ़ना और पीछे हटना, बिजली की तरह टूट पड़ना और पीछे छूट जाने वालों के किसी ढीले-ढाले दल पर हमला करना उनकी युद्धकला के मुख्य ढंग थे। वे यह सब अपने उत्तम किस्म के घोड़ों और अपने सख्तजान चरित्र, दोनों के कारण कर पाते थे। और वे घोड़ों पर बैठे-बैठे अविश्वसनीय दूरियाँ तय कर लेते थे।

इस बीच गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य के विघटन के कारण भारत में राजनीतिक अनिश्चय का एक और दौर आरंभ हुआ और प्रभुत्व के संघर्ष के लिए एक नए दौर का भी। फलस्वरूप, भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर पश्चिम एशिया में आक्रामक और प्रसारवादी तुर्क राज्यों के उदय की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) –

1. एक समय सिंध एक साम्राज्य था।
2. मुलतान से सिंध तक चाच नाम के एक का कब्जा था।
3. तुर्क कबीलों की करने की आदत थी।
4. नवीं सदी में तुर्क, अब्बासी साम्राज्य में महलों के पहरेदारों और किराये के के रूप में आये थे।

6.3 गजनवी (Ghaznavi)

नवीं सदी के अंतिम वर्षों में आक्सस के पार के क्षेत्र तथा खुरासान और ईरान के कुछ भागों पर सामानियों का शासन था, जो ईरानी मूल के थे। सामानियों को अपनी उत्तरी और पूर्वी सीमाओं पर गैर-मुस्लिम तुर्क कबीलों से बराबर लड़ना पड़ रहा था। यही संघर्ष था जिसके दौरान एक नए प्रकार के सैनिकों का उदय हुआ जो गाजी कहलाते थे। इन तुर्कों में अधिकांश प्राकृतिक शक्तियों के उपासक थे और मुसलमानों की निगाह में काफ़िर थे, इसलिए सामानियों की उनसे लड़ाई धर्म की रक्षा के लिए भी थी और राज्य की रक्षा के लिए भी। इस तरह गाजी योद्धा होने के साथ-साथ धर्म का रक्षक भी था। वह नियमित सेना के सहायक की तरह काम करता था और वेतन की कमी लूट के माल से पूरी करता था। गाजियों की सूझ-बूझ तथा अपने ध्येय के लिए उनके भारी कष्ट उठाने की तत्परता ने ही इन नवजात मुस्लिम राज्यों को काफ़िर तुर्कों के खिलाफ़ खड़े रहने में समर्थ बनाया। कालांतर में अनेक तुर्क मुसलमान बन गए मगर गैर-मुस्लिम तुर्क कबीलों की नए सिरे से शुरू होने वाली घुसपैठों के खिलाफ़ संघर्ष जारी रहा। इस्लाम अपनाने वाले तुर्क कबीले इस्लाम के सबसे बड़े रक्षक और जेहादी बनकर सामने आए। लेकिन लूट-खसोट की चाहत इस्लाम की रक्षा के साथ-साथ बनी रही।

सामानी सूबेदारों में एक तुर्क गुलाम भी था जिसका नाम अल्पतगीन था। कालांतर में उसने एक स्वतंत्र राज्य खड़ा कर लिया जिसकी राजधानी काबुल से पश्चिम में स्थित गजना या गजनी थी। सामानी राज्य जल्द ही समाप्त हो गया और मध्य एशिया के कबीलों से इस्लामी क्षेत्रों की रक्षा का भार गजनवियों ने सँभाल लिया।

यही संदर्भ था जिसमें महमूद 998 में गजनी के तख्त पर बैठा और 1030 तक शासन करता रहा। मध्य एशिया के हमलावर तुर्क कबीलों के सख्त प्रतिरोध करने के कारण महमूद को मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासकार इस्लाम का एक नायक मानते थे। इस तरह उसके शासनकाल में गाजी वाली भावना और मजबूत हुई। इस काल में ईरानी भावना का पुनर्जन्म हुआ और वह तेज़ी से बढ़ी। महमूद का उससे गहरा वास्ता था। गर्वीले ईरानियों ने अरबी भाषा और सभ्यता को कभी स्वीकार नहीं किया। सामानी राज्य ने भी फ़ारसी भाषा और साहित्य को प्रोत्साहन दिया था। फ़िरदौसी की रचना *शाहनामा* के साथ ईरानी पुनर्जागरण अपने चरम पर पहुँचा। फ़िरदौसी महमूद का दरबारी कवि था। ईरान और तूरान के आपसी संघर्ष को वह अपनी रचनाओं में मिथकीय युग तक पीछे खींचकर ले गया तथा प्राचीन ईरानी नायकों का महिमामंडन किया। ईरानी वतनपरस्ती का पुनरोदय हुआ था फ़ारसी भाषा और संस्कृति गजनवी साम्राज्य की भाषा और संस्कृति बन गई, यहाँ तक कि स्वयं महमूद दंतकथाओं के ईरानी राजा अफ़्रासियाब से अपना नाता जोड़ने लगा। इस तरह तुर्कों का इस्लामीकरण ही नहीं, फ़ारसीकरण भी हुआ। यही संस्कृति थी जिसे वे दो सदी बाद अपने साथ भारत में लेकर आए।



नोट्स

जहाँ महमूद ने तुर्क कबीलों से इस्लामी राज्यों की रक्षा में और ईरानी सांस्कृतिक पुनर्जागरण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, वहीं भारत में उसे सिर्फ़ एक लुटेरे और मंदिरों के विनाशक के रूप में याद किया जाता है।

नोट

कहते हैं कि महमूद ने भारत पर 17 हमले किए। आरंभिक हमले उन हिंदूशाही राजाओं के खिलाफ़ थे जो अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब पर शासन कर रहे थे। उनकी राजधानी उदभंड या वैहंद (पेशावर) में थी। हिंदूशाही राजाओं को अपनी दक्षिण-पश्चिम सीमा पर एक आक्रामक, प्रसारवादी राज्य के उदय से उठ सकने वाले खतरे को भाँपने में देर नहीं लगी। गज़नी के सत्ताच्युत सामानी सूबेदार, मुलतान के आसपास के क्षेत्रों के भट्टी राजा और मुलतान के मुस्लिम अमीर से मिलकर हिंदूशाही राजा जयपाल ने गज़नी पर हमला किया, लेकिन उसे हार का सामना करना पड़ा और उसका बनाया हुआ गठजोड़ धराशायी हो गया। बदले के तौर पर उस समय के गज़नवी शासक ने काबुल और जलालाबाद के आसपास के क्षेत्र तबाह कर दिए।

सन् 990-91 के दौरान सुबुक्तगीन के काल में शाहियों की भारी पराजय हुई। उसके बाद काबुल और जलालाबाद के सूबों पर कब्ज़ा करके उन्हें गज़नी में मिला लिया गया। एक शाहजादे के रूप में महमूद ने इन लड़ाइयों में भाग लिया था। उसने सत्तारोहण (998) के बाद शाहियों के खिलाफ़ हमले फिर शुरू कर दिए। इस बीच शाही राजा जयपाल लोहावर (लाहौर) को अपने अधीन करके अपनी स्थिति को मज़बूत बना चुका था। इस तरह शाही राज्य पेशावर से पंजाब तक फैल चुका था।

पेशावर के पास 1001 की एक भयानक लड़ाई में जयपाल की फिर हार हुई। महमूद शाही राजधानी पर चढ़ आया और उसे बुरी तरह तबाह कर दिया। हिंदूशाही राजा ने सिंधु नदी के पश्चिम का क्षेत्र महमूद को देकर शांति की स्थापना की। जयपाल की जल्द की मृत्यु हो गई और उसकी जगह उसका बेटा आनंदपाल राजा बना। बाद के कुछ वृत्तांतों के अनुसार अपनी हार के बाद जयपाल स्वयं चिता पर जा बैठा क्योंकि उसे लग रहा था उसने अपना सम्मान खो दिया है। यह कहानी संदिग्ध लगती है कि महमूद ने उसे बंदी बनाकर फिर छोड़ दिया था।

इन धक्कों के बावजूद शाही अभी भी इतने शक्तिशाली थे कि उन्होंने महमूद के पंजाब में घुसने के प्रयासों का गंभीर प्रतिरोध किया। महमूद को मध्य एशिया के गैर-मुस्लिम तुर्कों के हमलों का मुकाबला भी करना पड़ा। लेकिन 1009 में सिंधु नदी के पास एक निर्णायक युद्ध में आनंदपाल पराजित हुआ। महमूद ने साल्टरैज में स्थित उसकी नई राजधानी नंदन या नंदनपुर को तबाह कर दिया। उसने आनंदपाल के नगरकोट नामक किले को भी तबाह कर दिया। गलती से इसे हिमाचल प्रदेश में स्थित नगरकोट समझ लिया गया है जहाँ महमूद कभी पहुँचा ही नहीं। आनंदपाल को एक अधीन राजा के रूप में कुछ समय तक लाहौर से राज्य करने की अनुमति दी गई। लेकिन 1015 में महमूद लाहौर तक चढ़ आया, उसे लूटा और आनंदपाल को खदेड़ दिया। जल्द ही गज़नवी शासन झेलम नदी तक फैल गया। इससे पहले मुलतान के मुस्लिम राज्य को तहस-नहस किया जा चुका था, लेकिन 1015 में कश्मीर पर महमूद का एक हमला खराब मौसम के कारण असफल रहा।

इस तरह शाहियों के खिलाफ़ लंबा युद्ध चला और शाहियों ने जमकर प्रतिरोध किया। इस लड़ाई में शाहियों का समर्थन सिर्फ़ मुलतान के मुस्लिम राजा ने किया जो गुलाम प्राप्त करने के लिए गज़नी से होने वाले हमलों से परेशान था। उसका संबंध एक ऐसे पंथ से भी था जिसे सुन्नी इस्लाम को मानने वाला महमूद विधर्मी मानता था और इसलिए उसे अपना शत्रु मानता था। ध्यान देने की बात यह है कि लगता है कोई राजपूत राजा शाहियों की मदद के लिए नहीं आया, हालाँकि महमूद की विजय को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हुए सत्रहवीं सदी के इतिहासकार फ़िरिश्ता ने लिखा है कि दिल्ली, अजमेर और कन्नौज के राजाओं समेत अनेक राजपूत राजाओं ने 1001 में जयपाल की मदद की थी। लेकिन तब तक तो अजमेर का राज्य स्थापित भी नहीं हुआ था और दिल्ली (धिल्लिका) एक छोटा-सा राज्य था। इसी तरह कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार, जिनका दबदबा किसी समय थानेश्वर तक था, काफ़ी कमज़ोर स्थिति में पहुँच चुके थे। इस तरह शाही लगभग अकेले लड़ते रहे।

1015 तक महमूद गंगा की घाटी पर आक्रमण करने की स्थिति में आ चुका था। अगले कोई छह वर्षों में महमूद ने गंगा के मैदानी भागों में अनेक अभियान चलाए। इन हमलों का मकसद उन वैभवशाली मंदिरों और नगरों को लूटना था जिन्होंने कई पीढ़ियों के दौरान अकूत संपत्ति जमा कर ली थी। इस संपत्ति की लूट ने उसे अपने मध्य एशियाई शत्रुओं के खिलाफ़ युद्ध जारी रखने की शक्ति भी दी। वह भारतीय राजाओं को हाथ मिलाकर अपने खिलाफ़ एक होने का अवसर भी देना नहीं चाहता था। महमूद के भारतीय हमलों के बीच मध्य एशिया के युद्ध भी चलते रहे।

नोट

भारत पर लूटपाट के उद्देश्य से किए गए हमलों में गाजी बहुत मददगार साबित हुए। महमूद ने अपने-आपको इस्लाम की शान में चार चाँद लगाने वाला महान बुतशिकन (मूर्तिभंजक) के रूप में भी पेश किया। पंजाब से महमूद ने हर्ष की पुरानी राजधानी थानेश्वर पर हमला किया, लेकिन उसके सबसे दुस्साहसी हमले वे थे जो उसने कन्नौज के खिलाफ 1018 में और सोमनाथ (गुजरात) के खिलाफ 1025 में किए। कन्नौज की मुहिम में उसने मथुरा और कन्नौज दोनों को लूटा और उन्हें तहस-नहस कर डाला। अगले साल उसने बुंदेलखंड में स्थित कालिंजर पर धावा बोला और अकूत धन-संपत्ति लेकर लौटा। वह मनमुताबिक ढंग से यह सब इसलिए कर पाया क्योंकि किसी भी क्षेत्र पर कब्जा जमाने की कोशिश नहीं की।

1020 और 1025 के बीच महमूद मध्य एशियाई मामलों में उलझा रहा। 1025 में उसने सोमनाथ पर हमला करने की योजना बनाई जो एक बहुत धनी मंदिर था और लाखों तीर्थयात्रियों को अपनी ओर खींचता था। यह एक समृद्ध बंदरगाह भी था। इस हमले का उद्देश्य राजपूतों को आक्रांत करना और झटका देना भी था क्योंकि वह 30,000 की नियमित सवार सेना लेकर मुलतान और जैसलमेर के रास्ते आगे बढ़ा। रास्ते में मामूली प्रतिरोध ही हुआ और वह सोमनाथ जा पहुँचा। उसके आने पर नगर का कमानदार भाग खड़ा हुआ, लेकिन नागरिकों ने भारी प्रतिरोध किया। महमूद ने शिवलिंग को तोड़ दिया और आदेश दिया कि उसके कुछ भाग उसके साथ गजनी लाए जाएँ। वापसी में कुछ राजपूत राजाओं ने उसका रास्ता रोकने का प्रयास किया पर उनसे बचकर निकलने के बाद सिंध में उसे जाटों के लूटमार करने वाले दस्तों का सामना करना पड़ा, तब भी बेपनाह दौलत लेकर वह गजनी वापस पहुँचा।

सोमनाथ पर महमूद का हमला राजस्थान और गुजरात पर हमले की भूमिका थी या नहीं, यह कह सकना कठिन है। महमूद अगले साल उन जाटों को सजा देने के लिए पलटा जिन्होंने गजनी की ओर वापसी के दौरान उसे परेशान किया था। गजनी में 1030 में उसकी मृत्यु हुई।

महमूद को मात्र एक आक्रांता और लुटेरा कह देना सही नहीं है। पंजाब और मुलतान पर गजनी की विजय ने उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति को पूरी तरह बदलकर रख दिया। तुर्क उत्तर-पश्चिम में भारत की रक्षा करने वाली पर्वतमाला को पार कर चुके थे और वे गंगा के केंद्रीय मैदानी क्षेत्र में किसी भी समय आगे बढ़ सकते थे। लेकिन अगले 150 वर्षों तक वे इस क्षेत्र पर विजय-पताका नहीं लहरा सके, इसका कारण उन तीव्र परिवर्तनों में तलाश करना होगा जो मध्य एशिया में और उत्तर भारत में इस काल में आए।

महमूद की मृत्यु के बाद एक शक्तिशाली साम्राज्य का, अर्थात् सलजूक साम्राज्य का, जन्म हुआ। सलजूक साम्राज्य में सीरिया, इराक और ईरान शामिल थे तथा खुरासान पर नियंत्रण के लिए गजनावियों से उनका मुकाबला चल रहा था। एक मशहूर लड़ाई में महमूद का बेटा मसूद सलजूकों के हाथों बुरी तरह पराजित हुआ और उसे पनाह लेने के लिए भाग कर लाहौर आना पड़ा। गजनावी साम्राज्य अब सिकुड़कर गजनी और पंजाब तक रह गया। गंगा के मैदान और राजपूताना में गजनावियों के लूटमार और हमले जारी तो रहे, पर वे अब भारत के लिए कोई गंभीर सैनिक खतरा पैदा करने की स्थिति में नहीं थे। साथ ही, उत्तर भारत में ऐसे अनेक नए राज्य पैदा हुए जो गजनावियों के हमलों का सामना कर सकते थे।

6.4 राजपूत रजवाड़े (Rajputa Rajwada)

राजपूत कहे जाने वाले एक नए वर्ग के उदय और उसके उत्पत्ति संबंधी विवाद का जिक्र किया जा चुका है। प्रतिहार साम्राज्य के विघटन के बाद उत्तर भारत में अनेक राजपूत राज्य अस्तित्व में आए। कन्नौज के गाहड़वाल, मालवा के परमार और अजमेर के चौहान इनमें सबसे महत्वपूर्ण थे। देश के विभिन्न भागों में दूसरे, छोटे-छोटे राजवंश भी थे, जैसे आज के जबलपुर के आसपास कलचूरी, बुंदेलखंड में चंदेल, गुजरात में चालुक्य, दिल्ली में तोमर आदि। बंगाल पालों और फिर सेनों के नियंत्रण में रहा। कन्नौज के गाहड़वालों ने धीरे-धीरे पालों को बिहार से निकाल दिया। अपने चरमकाल में गाहड़वाल या गाहड़वार राज्य बिहार में मुंगेर से लेकर दिल्ली तक फैला हुआ था। इस वंश का सबसे महान शासक गोविंदचंद्र था जिसने बारहवीं सदी के पूर्वार्ध में शासन किया था। उसने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया, और बनारस उसकी दूसरी राजधानी बना रहा। उस दौर के फ़ारसी ग्रंथ, गोविंदचंद्र को हिंदुस्तान

नोट

का सबसे महान शासक कहते हैं। गाहड़वालों को दोआब में होने वाले गजनवी हमलों का सामना करने वालों के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। गोविंदचंद्र के बाद जयचंद्र गद्दी पर बैठा जिसे चौहानों की बढ़ती शक्ति से टक्कर लेनी पड़ी। गुजरात के राजाओं के अधीन रह चुके चौहानों ने दसवीं सदी के अंतिम वर्षों में नदौल में अपनी राजधानी बसाई। इस वंश का सबसे महान शासक संभवतः विग्रहराज था जिसने चित्तौड़ पर कब्जा किया, अजमेर (अजयमेरू) को बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। उसने अजमेर में एक संस्कृत महाविद्यालय और अन्नासागर झील का निर्माण कराया। गाहड़वालों की तरह चौहानों ने भी गजनवी हमलों का जमकर प्रतिरोध किया। विग्रहराज ने दिल्ली (धिल्लिका) को 1151 में तोमरों से छीना, लेकिन उसने उनको अपने नायब के रूप में राज करने की अनुमति दे दी। विग्रहराज का टकराव मालवा के परमारों से भी हुआ जिनका सबसे मशहूर, दंतकथाओं में प्रचलित शासक भोज था। विग्रहराज और भोज दोनों ही कवियों और विद्वानों के संरक्षक थे। स्वयं विग्रहराज ने एक संस्कृत नाटक लिखा था। भोज को उत्तर में और दक्षिण में भी अपने पड़ोसियों से लड़ना पड़ा। उसे दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र, योग और आयुर्विज्ञान पर पुस्तकें लिखने का श्रेय भी दिया जाता है।



क्या आप जानते हैं चौहान राजाओं में सबसे प्रसिद्ध पृथ्वीराज तृतीय था, जो 1177 में या उसके आसपास 11 वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा, लेकिन उसने प्रशासन की बागडोर तब सँभाली, जब वह 16 वर्ष का था।

तत्काल पृथ्वीराज चौहान ने प्रसार की एक जोरदार नीति आरंभ की और छोटे-छोटे अनेक राजपूत राज्यों पर विजय प्राप्त कर लिया, पर गुजरात के चालुक्य राजा के खिलाफ संघर्ष में वह सफल नहीं हुआ। इससे मजबूर होकर वह गंगा की घाटी की ओर मुड़ गया। उसने बुंदेलखंड की राजधानी महोबा के खिलाफ एक अभियान चलाया। यही संघर्ष था जिसमें आल्हा और ऊदल नाम के प्रसिद्ध योद्धा मारे गए। कहते हैं कि कन्नौज के जयचंद्र ने इस संघर्ष में महोबा के चंदेल राजा की मदद की थी। दिल्ली और पंजाब पर नियंत्रण के लिए चौहानों के प्रयासों का गाहड़वालों ने भी मुकाबला किया था। यही शत्रुताएँ थीं जिनके कारण पंजाब से गजनवियों को बाहर करने के लिए राजपूत राजाओं का आपस में मेल असंभव हो गया।

राजपूत समाज का आधार कुल (क्लान) था। हर कुल आने आपको एक साझे, वास्तविक या काल्पनिक पूर्वज की संतान मानता था। आम तौर पर कुलों का एक सुगठित क्षेत्र पर वर्चस्व होता था। कभी-कभी ये आबादियाँ 12 या 24 या 48 या 84 गाँवों की इकाइयों पर आधारित होती थीं। सरदार गाँवों में अपने उप-सरदारों को भूमि आवंटित करता था जो फिर इसे अलग-अलग राजपूत योद्धाओं को उनके परिवारों और घोड़ों के रखरखाव के लिए आवंटित कर देते थे। भूमि, परिवार और इज्जत (मान) से लगाव राजपूतों की विशेषता थी। हर राजपूत राज्य पर राणा अथवा रावत अपने सरदारों की सहायता से राज्य करता था जो आम तौर पर उसके खून के भाई होते थे। माना जाता था कि उनकी जागीरें राजा की मर्जी पर कायम रहती थीं, पर भूमि की पवित्रता की राजपूती धारणा के कारण, तथा विद्रोह का भय, उत्तराधिकारी का अभाव आदि विशेष दशाओं को छोड़, राजा दी गई भूमि को वापस नहीं लेता था। राजपूत समाज के संगठन के गुण भी थे और अवगुण भी। एक लाभ तो भाईचारे और समानता का वह भाव था जो राजपूतों में पाया जाता था, लेकिन इसी विशेषता के कारण उनके बीच अनुशासन बनाए रखना कठिन हो जाता था। अनेक पीढ़ियों तक चलने वाले झगड़े राजपूतों की एक और कमजोरी थी। लेकिन उनकी बुनियादी कमजोरी थी ऐसे बंद समूह बना लेने की प्रवृत्ति जिनमें अन्य समूह के लोगों के लिए कोई स्थान नहीं होता था और हर समूह अपने को सबसे श्रेष्ठ मानता था। गैर-राजपूतों से वे भाईचारे का व्यवहार करने को तैयार नहीं थे। इससे राजपूत शासक-समूहों तथा जनता, जिसका अधिकांश भाग गैर-राजपूतों का था, के बीच खाई बढ़ती गई। आज भी राजस्थान की आबादी में राजपूत लगभग दस प्रतिशत ही हैं। ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में भी जिन क्षेत्रों पर राजपूतों का वर्चस्व था, वहाँ की कुल आबादी में उनका प्रतिशत इससे कुछ खास अधिक नहीं रहा होगा।

नोट

राजपूत युद्ध को क्रीड़ा समझते थे। इसके कारण तथा ज़मीन और मवेशियों के झगड़े के कारण विभिन्न राजपूत राज्यों के बीच बराबर युद्ध चलता रहता था। आदर्श राजा वह था, जो दशहरा का त्योहार मनाने के बाद पड़ोसियों के इलाकों पर हमले के लिए अपनी सेनाओं का नेतृत्व करता था। ग्राम और नगर दोनों में इस नीति से सबसे अधिक कष्ट जनता को पहुँचता था।

उस काल के अधिकांश राजपूत राजा हिंदू धर्म के समर्थक थे, हालाँकि कुछ जैन धर्म को भी संरक्षण देते थे। वे ब्राह्मणों और मंदिरों को दिल खोलकर दान और भूमिदान देते थे। राजपूत राजा ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों और जातिप्रथा के संरक्षकों के रूप में मशहूर थे। कुछ राजपूत राज्यों में ब्राह्मणों से कम मालगुजारी वसूल करने की प्रथा भारतीय संघ में उनके विलय तक जारी रही। इन और दूसरी रियायतों के बदले में ब्राह्मण, राजपूतों को उन चंद्रवंशी और सूर्यवंशी क्षत्रियों के वंशज मानने को तैयार थे जो माना जाता था कि समाप्त हो चुके हैं।

आठवीं सदी के बाद तथा खासकर दसवीं और बारहवीं सदी के बीच के काल को उत्तर भारत में मंदिर-निर्माण का चरमकाल माना जा सकता है। आज के कुछ सबसे शानदार मंदिर इसी काल के हैं। इस काल में मंदिर-निर्माण की जो शैली प्रचलित हुई, वह नागर शैली कहलाती है। हालाँकि इस शैली के मंदिर पूरे भारत में पाए जाते हैं, पर इसके मुख्य केंद्र उत्तर भारत और दक्कन थे। मुख्य देवता के कक्ष के ऊपर, जिसे गर्भगृह कहा जाता था, लंबी और वक्राकार छत इसकी मुख्य विशेषता थी। गर्भगृह आम तौर पर वर्गाकार होता था हालाँकि उसकी हर दीवार से कोई ढाँचा बाहर की ओर निकला होता था। गर्भगृह से एक बाहरी कक्ष (मंडप) जुड़ा रहता था और कभी-कभी मंदिर ऊँची दीवारों से घिरा होता था जिनमें शानदार दरवाजे बने होते थे। खजुराहो (मध्य प्रदेश) का मंदिर-समूह और भुवनेश्वर (उड़ीसा) के मंदिर इस शैली का सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करते हैं। खजुराहो का पार्श्वनाथ मंदिर, विश्वनाथ मंदिर और कांदर्य महादेव मंदिर इस शैली के सबसे समृद्ध और परिपक्व रूप हैं। इन मंदिरों की दीवारों पर की गई गहन और लंबी-चौड़ी नक्काशी दिखाती है कि मूर्तिकला अपने शिखर पर पहुँच चुकी थी। इनमें से अधिकांश मंदिर चंदेलों के बनवाए हुए हैं जो नवीं सदी के आरंभ से लेकर तेरहवीं सदी के अंत तक इस क्षेत्र पर शासन करते रहे।

उड़ीसा में इस काल की मंदिर-निर्माण कला के सबसे शानदार उदाहरण लिंगराज मंदिर (ग्यारहवीं सदी) और कोणार्क का सूर्य मंदिर (तेरहवीं सदी) है। पुरी का सुप्रसिद्ध जगन्नाथ मंदिर भी इसी काल का है।

उत्तर भारत के अन्य बहुत-से स्थानों पर भी बड़ी संख्या में मंदिर बनवाए गए, जैसे—कन्नौज, मथुरा, बनारस, दिलवाड़ा (आबू) आदि में। दक्षिण भारत के मंदिरों की तरह उत्तर भारत के मंदिर भी अधिकाधिक सुसज्जित होते रहे। वे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के केंद्र थे। उनमें से कुछ तो अत्यंत समृद्ध थे, जैसे सोमनाथ मंदिर। वे अनेक गाँवों पर शासन करते और कारोबार में भाग लेते थे। राजपूत राजाओं ने मंदिरों के अलावा अनेक सुंदर महल, मज़बूत किले और सार्वजनिक लाभ के स्थान भी बनवाए, जैसे सीढ़ीदार कुँए (बावलियाँ), बांध आदि।

राजपूत राजा कला और साहित्य के संरक्षक भी थे। उनके संरक्षण में इस काल में अनेक ग्रंथ और नाटक लिखे गए। गुजरात के चालुक्य राजा भीम का सुप्रसिद्ध आमात्य वस्तुपाल एक लेखक, विद्वानों का संरक्षक और आबू पर्वत के सुंदर जैन मंदिर का निर्माता था। परमार शासकों की राजधानियाँ उज्जैन और धार संस्कृत ज्ञान-विज्ञान के सुप्रसिद्ध केंद्र थीं। अनेक ग्रंथ अपभ्रंश और प्राकृत में लिखे गए जो इस क्षेत्र की भाषाएँ थीं। इस दिशा में जैन विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा; उनमें सबसे प्रसिद्ध हेमचंद्र थे जिन्होंने संस्कृत और अपभ्रंश दोनों में लिखा है। ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के साथ उच्च वर्गों के बीच संस्कृत ने अपभ्रंश और प्राकृत को विस्थापित कर दिया। लेकिन इन भाषाओं में, जो बोलचाल की भाषाओं के अधिक करीब थीं, साहित्य रचना जारी रही। उत्तर भारत की आधुनिक भाषाएँ, जैसे हिंदी, बंगला और मराठी, इसी काल में इन्हीं जन भाषाओं से विकसित हुईं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. नवीं सदी में खुरासान और ईरान के भागों पर सामानियों का शासन था, जो मूल के थे।
 (क) अफगानी (ख) ईरानी
 (ग) भारतीय (घ) तीनों
6. पेशावर के पास 1001 की एक भयानक लड़ाई में की फिर हार हुई।
 (क) जयपाल (ख) आनंदपाल
 (ग) महमूद (घ) चौहान
7. महमूद की मृत्यु सन् में गजनी में हुई।
 (क) 1011 (ख) 1020
 (ग) 1030 (घ) 1015
8. अपने चरम काल में गाहड़वाल राज्य बिहार से लेकर तक फैला हुआ था।
 (क) हरियाणा (ख) दिल्ली
 (ग) पंजाब (घ) उत्तर प्रदेश

6.5 उत्तर-भारत में तुर्कों की विजय (Conquest of Turks in North-India)

पंजाब पर महमूद गजनी की विजय के बाद मुसलमानों और हिंदुओं के बीच दो प्रकार के संबंध स्पष्ट तौर पर दिखाई दिए। एक था लूट के माल का लालच जिसके कारण महमूद के उत्तराधिकारियों ने गंगा की वादी में और राजपूताना पर धावे बोले। राजपूत राज्यों के शासकों ने इन धावों का जोरदार विरोध किया और अनेक अवसरों पर तुर्कों पर विजय भी पाई। लेकिन गजनी राज्य अब कोई बहुत शक्तिशाली नहीं रह गया था और स्थानीय लड़ाइयों में उसके खिलाफ अनेक बार जीतने के कारण राजपूत शासक इस मामले में लापरवाह हो गए थे।

दूसरे स्तर पर, मुस्लिम व्यापारियों को देश में न सिर्फ व्यापार की इजाजत दी गई, बल्कि उनका स्वागत भी किया गया, क्योंकि मध्य और पश्चिमी एशिया के देशों के साथ भारत के व्यापार को बढ़ाने में और इस तरह राज्य की आय बढ़ाने में उन्होंने सहायता पहुँचाई। उत्तर भारत के कुछ नगरों में मुस्लिम व्यापारियों की बस्तियाँ बस गईं। इनके साथ-साथ पंजाब में अनेक मुस्लिम धर्मोपदेशक आए जिन्हें सूफी कहते थे। वे प्रेम, एक प्रभु में आस्था और समर्पण की शिक्षा देते थे। उनके उपदेश मुख्यतः मुस्लिम आबादकारों को संबोधित करते थे, पर उन्होंने कुछ हिंदुओं को भी प्रभावित किया। इस तरह इस्लाम और हिंदू धर्म एवं समाज के बीच संपर्क की एक प्रक्रिया चल निकली। लाहौर अरबी और फ़ारसी भाषाओं और उनके साहित्य का केंद्र बन गया। तिलक, जो नाई जाति का था, जैसे हिंदू सिपहसालारों ने गजनी फ़ौजों का नेतृत्व किया जिनमें हिंदू (जाट) सिपाही भी भरती किए जाते थे।

हो सकता था ये दो प्रक्रियाएँ अनिश्चित काल तक जारी रहतीं, बशर्ते मध्य एशिया की राजनीतिक स्थिति में एक और बड़ा परिवर्तन न आ गया होता। बारहवीं सदी के मध्य में तुर्क कबीलों के एक और समूह ने, जिनमें कुछ बौद्ध थे तो कुछ बहुमूर्तिपूजक थे, सलजूक तुर्कों की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया। इस शून्य में दो नई शक्तियों को प्रमुखता प्राप्त हुई—ईरान में केंद्रित ख़्वारिज़्म साम्राज्य और गौर (उत्तर-पश्चिम अफ़ग़ानिस्तान) में स्थित गौरी साम्राज्य को।



सावधानी

गौरी आरंभ में गजनी के मातहत थे, पर जल्द ही उन्होंने उसका जुआ उतार फेंका। गौरियों की शक्ति सुल्तान अलाउद्दीन के काल में बढ़ी जिसने जहाँसो (दुनिया को जलानेवाला) की उपाधि प्राप्त की, क्योंकि गजनी में अपने भाइयों के साथ किए गए दुर्व्यवहार का बदला लेने के लिए उसने गजनी को तहस-नहस करके फूँक डाला था।

नोट

यह घटना बारहवीं सदी के मध्य की है। ख्वारिज्मी साम्राज्य की बढ़ती ताकत ने गौरियों की मध्य एशियाई महत्वाकांक्षा पर गंभीर रोक लगा दी। ख्वारिज्म के शाह ने खुरासान (पूर्वी ईरान) को, जो दोनों के बीच झगड़े की जड़ था, जल्द ही जीत लिया। इसके चलते गौरियों को प्रसार के लिए भारत की ओर ही देखने का विकल्प बचा। 1173 में गजनी की गद्दी पर शहाबुद्दीन मुहम्मद (1173-1206) बैठा (उसे मुईजुद्दीन मुहम्मद बिन साम भी कहा जाता है), जबकि उसका बड़ा भाई गौर पर राज्य कर रहा था। गोमल दर्रे की राह से आगे बढ़कर मुईजुद्दीन मुहम्मद ने मुलतान और उच्छ पर कब्जा कर लिया। 1178 में उसने राजपूताना के रेगिस्तान से होकर गुजरात में प्रवेश करने का प्रयास भी किया। लेकिन आबू पर्वत के पास हुई एक लड़ाई में गुजरात के राजा ने उसे बुरी तरह हरा दिया; यह मुईजुद्दीन का सौभाग्य ही था कि वह जीवित बच निकला। अब उसे भारत विजय का अभियान आरंभ करने से पहले पंजाब में एक उपयुक्त आधार बनाने की आवश्यकता महसूस हुई। इसलिए उसने पंजाब में गजनवी के अधिकार वाले क्षेत्रों के खिलाफ एक मुहिम शुरू की। 1190 तक मुईजुद्दीन पेशावर, लाहौर और सियालकोट को जीत चुका था तथा अब वह दिल्ली और गंगा के दोआब की ओर बढ़ने के लिए तैयार था।

इस बीच उत्तर भारत में घटनाक्रम भी स्थिर नहीं था। चौहानों की शक्ति लगातार बढ़ रही थी। चौहान राजाओं ने राजस्थान पर, संभवतः पंजाब की दिशा से, आक्रमण का साहस करने वाले बहुत सारे तुर्कों को हराया और मार डाला था। जैसा कि बताया जा चुका है, इस सदी के मध्य में उन्होंने तोमरों से दिल्ली (धिलिलका) को भी छीन लिया था। पंजाब की तरफ चौहान सत्ता के प्रसार के कारण अब इस क्षेत्र के गजनवी शासकों के साथ उनका टकराव हुआ।

6.6 तराइन की लड़ाई (War of Taraen)

इस तरह इन दो महत्वाकांक्षी राजाओं—मुईजुद्दीन मुहम्मद और पृथ्वीराज—के बीच लड़ाई अपरिहार्य थी। यह टकराव तबरहिंद पर दोनों के दावों के साथ आरंभ हुआ। 1191 में तराइन में हुई। इस लड़ाई में गौरी की सेना पूरी तरह तबाह हो गई; मुईजुद्दीन मुहम्मद की जान एक युवा खिलजी सवार ने बचाई। पृथ्वीराज अब तबरहिंद की ओर बढ़ा और 12 माह की घेराबंदी के बाद उसे जीत लिया। पृथ्वीराज ने पंजाब से गौरियों को खदेड़ने का प्रयास नहीं किया। शायद उसे यह लगा हो कि तराइन में बार-बार होने वाले तुर्क धावों जैसा ही एक और धावा है और गौरी का शासक पंजाब पर राज्य करने पर संतोष कर लेगा। इससे मुईजुद्दीन मुहम्मद को फिर से अपनी सेना को व्यवस्थित करने और अगले साल भारत पर एक और आक्रमण करने का समय मिल गया। उसने पृथ्वीराज के एक कथित शांति प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया था कि पंजाब गौरी शासक के अंतर्गत ही रहने दिया जाएगा।

तराइन की दूसरी लड़ाई (1192) को भारतीय इतिहास में एक मोड़ माना जाता है। इस टकराव के लिए मुईजुद्दीन मुहम्मद ने सावधानी से तैयारी की थी। कहते हैं कि वह 1,20,000 सैनिकों के साथ आगे बढ़ा, जिनमें पूरी तरह फ़ौलादी ज़िरहबख्तर से लैस एक भारी घुड़सवार सेना थी और 10,000 घुड़सवार तीरंदाज थे। यह सोचना सही नहीं होगा कि पृथ्वीराज स्थिति से लापरवाह था और तभी चेता जबकि अंतिम समय आ गया, यद्यपि यह सही है कि पिछली विजयी मुहिम का सिपहसालार स्कंद कहीं और युद्धरत था। गौरी की ओर से खतरे को पृथ्वीराज ने जैसे ही भांपा, उसने उत्तर भारत के सभी राजाओं से सहायता की प्रार्थना की। कहते हैं कि अनेक राजाओं ने उसकी सहायता के लिए फ़ौजें भेजी, पर कन्नौज का राजा जयचंद्र किनारा कर गया। कहानी है कि इसका कारण पृथ्वीराज द्वारा जयचंद्र की बेटी संयोगिता का अपहरण था जो उससे प्रेम करती थी, पर इसे अनेक इतिहासकारों ने स्वीकार नहीं किया है। इस कहानी को बहुत बाद में एक रोमानी कथा के रूप में कवि चंदबरदाई ने लिखा और इसमें अनेकों असंभाव्य घटनाएँ हैं। जैसा कि हमने देखा, दोनों राज्यों के बीच पुरानी शत्रुता चली आ रही थी इसलिए जयचंद्र का किनारा कर जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

कहते हैं कि पृथ्वीराज ने तीन लाख की फ़ौज उतारी, जिसमें घुड़सवारों की एक बड़ी संख्या थी और 300 हाथी थे। हो सकता है दोनों ओर की सेनाओं की संख्या में अतिशयोक्ति हो। भारतीय सेना की संख्या संभवतः अधिक थी, पर तुर्क सेना का संगठन और नेतृत्व बेहतर था। यह लड़ाई मुख्यतः घुड़सवार सेनाओं की लड़ाई थी। तुर्क सवार

नोट

सेना के श्रेष्ठतर संगठन-कौशल और उसकी तेज गति तथा उनके घुड़सवार तीरंदाजों और भारी सवार सेना ने आखिरकार मामले का निपटारा कर दिया। भारतीय सैनिक बड़ी संख्या में मारे गए। पृथ्वीराज बच निकला मगर सरस्वती (सिरसा) के पास पकड़ा गया। तुर्क सेनाओं ने हौंसी, सरस्वती और समाना की गढ़ियों पर कब्जा कर लिया। पृथ्वीराज को कुछ समय तक अजमेर पर शासन करने की अनुमति दी गई, क्योंकि हमारे पास उस काल के सिक्के मौजूद हैं जिन पर एक ओर तारीख दी गई है और 'पृथ्वीराजदेव' अंकित है और दूसरी ओर 'श्री मुहम्मद साम' लिखा हुआ है।

शीघ्र ही पृथ्वीराज को तथाकथित 'षड्यंत्र' के आरोप में मार डाला गया और उसकी जगह उसका बेटा गद्दी पर बैठा। दिल्ली भी उसके तोमर शासक को वापस दे दी गई, लेकिन जल्द ही इस नीति को पलट दिया गया। दिल्ली के शासक को हटाकर दिल्ली को गंगा की वादी में तुर्कों के भावी अभियान का आधार बना दिया गया। एक विद्रोह के बाद मुस्लिम सेना ने अजमेर पर फिर से कब्जा किया और एक तुर्क सिपहसालार वहाँ नियुक्त किया गया। पृथ्वीराज का बेटा रणथंभौर चला गया और वहाँ उसने एक नए, शक्तिशाली चौहान राज्य की नींव डाली। इस तरह दिल्ली का इलाका और पूर्वी राजस्थान तुर्क शासन के अधीन हो गए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. गौरी आरंभ में गजनी के मातहत थे, पर जल्द ही उन्होंने उसका जुआ उतार फेंका।
10. तराइन की दूसरी लड़ाई को भारतीय इतिहास में एक मोड़ नहीं माना जाता है।
11. पृथ्वीराज तबरहिंद को बारह महीने की घेराबन्दी के बाद जीत लिया।
12. तुर्कों द्वारा बिहार और बंगाल अपराजित रहा।

6.7 गंगा की वादी, बिहार और बंगाल में तुर्कों की विजय

(Conquest of Turks in Bengal and Bihar, Valley of Ganga)

1192 और 1206 के बीच तुर्क शासन गंगा-यमुना दोआब पास के इलाकों में स्थापित हो गया। बिहार और बंगाल भी जीत लिए गए। दोआब में अपने पैर जमाने के लिए तुर्कों को पहले कन्नौज के शक्तिशाली गाहड़वाल राज्य को हराना जरूरी था। गाहड़वाल राजा जयचंद्र दो दशकों से शांतिपूर्वक राज्य करता आ रहा था। वह संभवतः कोई बहुत समर्थ योद्धा नहीं था क्योंकि पहले उसे बंगाल के सेन राजा के हाथों मुँह की खानी पड़ी थी।

तराइन के बाद मुईजुद्दीन अपने भरोसे के गुलामों के हाथों में भारत की बागडोर देकर वापस गजनी चला गया। इन सरदारों में प्रमुख था कुतुबुद्दीन ऐबक। अगले दो वर्षों में तुर्कों ने गाहड़वालों के किसी विरोध का सामना किए बिना ऊपरी दोआब को रौंद डाला। 1194 में मुईजुद्दीन भारत लौटा। 50,000 सवारों के साथ यमुना को पार करके वह कन्नौज की ओर बढ़ा। कन्नौज के पास चंदावर में मुईजुद्दीन और जयचंद्र के बीच एक भयानक लड़ाई हुई। कहा जाता है कि जयचंद्र लगभग जीत ही चुका था कि एक तीर लगने से मारा गया और उसकी सेना पूरी तरह पराजित हुई। मुईजुद्दीन अब बनारस की ओर बढ़ा जिसे रौंद दिया गया तथा बड़ी संख्या में मंदिर नष्ट कर दिए गए। तुर्कों ने बिहार की सीमा तक फैले हुए एक विशाल भूभाग पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया।

इस तरह तराइन और चंदावर की लड़ाइयों ने उत्तर भारत में तुर्क राज्य की बुनियाद रखी। लेकिन इस तरह प्राप्त विजय को स्थायी बनाने का काम टेढ़ी खीर साबित हुआ और उसने तुर्कों को लगभग 50 वर्षों तक उलझाए रखा।

मुईजुद्दीन 1206 तक जीवित रहा। इस काल में उसने दिल्ली के दक्षिण स्थित क्षेत्र की रक्षा के लिए बयाना और ग्वालियर के मजबूत किलों पर कब्जा कर लिया। कुछ समय बाद ऐबक ने चंदेल शासकों से कलिंगर, महोबा और खजुराहो को छीन लिया।

नोट

दोआब में अपना मजबूत आधार बनाकर तुर्कों ने पड़ोसी क्षेत्रों पर अनेक धावे बोले। ऐबक ने गुजरात के राजा भीम तृतीय को हराया तथा अन्हिलवाड़ा और दूसरे बहुत-से नगर तहस-नहस कर दिए और लूट लिए। इस क्षेत्र के शासन के लिए एक मुसलमान सूबेदार नियुक्त किया गया। पर जल्द ही तुर्क सेनाओं को बेदखल कर दिया गया। इससे स्पष्ट हो गया कि तुर्क अभी भी इतने शक्तिशाली नहीं थे कि इतने दूर-दूर फैले क्षेत्रों पर शासन कर सकें।

लेकिन पूरब में तुर्क अधिक सफल रहे। एक खिलजी सरदार बख्तियार खिलजी को, जिसका चाचा तराइन की जंग में लड़ चुका था, बनारस से आगे के कुछ क्षेत्रों का हाकिम नियुक्त किया गया। उसने इस बात का फायदा उठाकर बिहार में बार-बार धावे बोले जो उन दिनों एक तरह से अनाथ क्षेत्र (नो-मैस लैंड) था। इन धावों के दौरान उसने बिहार के प्रसिद्ध बौद्ध विहारों नालंदा और विक्रमशिला पर आक्रमण करके उन्हें नष्ट कर दिया था जिनका तब कोई संरक्षक बचा नहीं था। उसने काफ़ी दौलत भी जमा कर ली और अपने चारों तरफ अनेक अनुयायी खड़े कर लिए। इन धावों के दौरान उसने बंगाल के रास्तों की जानकारी भी हासिल कर ली। बंगाल का अपना एक अलग आकर्षण था क्योंकि उसके आंतरिक संसाधनों और फलते-फूलते विदेशी व्यापार ने उसे अत्यंत समृद्ध होने की प्रसिद्धि दिला दी थी।

सावधानी के साथ तैयारी के बाद बख्तियार खिलजी सेना लेकर नादिया की ओर बढ़ा। यह एक तीर्थ था जहाँ सेन राजा लक्ष्मण सेन ने एक महल बनवा रखा था और तब वह तीर्थयात्रा के लिए उसी दिशा में गया हुआ था। घोड़ों पर सवार तुर्क सौदागरों का दिखाई देना उन दिनों आम बात थी। ऐसा ही एक सवार सौदागर होने का दिखावा करके बख्तियार खिलजी ने एकाएक महल पर हमला कर दिया और भारी अफ़रातफ़री मचा दी। सेन राजा लक्ष्मण सेन एक मशहूर योद्धा था, लेकिन सहस्राक्रमण से घबराकर और मुख्य तुर्क सेना को आया समझकर वह महल के पीछे के दरवाज़े से खिसक गया। तुर्क फ़ौज पास ही रही होगी क्योंकि वह जल्दी ही आ पहुँची और उसने वहाँ की गढ़सेना को तितर-बितर कर दिया। राजा की कुछ पत्नियों और बच्चों समेत सारी दौलत उसके हाथ लगी। यह घटना 1204 ई. की मानी जाती है। बख्तियार ने फिर आगे बढ़कर बिना किसी विरोध के सेनों की राजधानी लखनौती पर कब्ज़ा कर लिया। लक्ष्मण सेन सोनारगाँव (दक्षिण बंगाल) चला गया जहाँ से वह और उसके उत्तराधिकारी अनेक पीढ़ियों तक राज्य करते रहे।

मुईजुद्दीन ने बख्तियार खिलजी को औपचारिक रूप से हालाँकि बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया था, पर वह एक स्वतंत्र शासक की तरह राज्य करता रहा, पर इस स्थिति का सुख वह लंबे समय तक नहीं भोग सका। उसने ब्रह्मपुत्र की वादी, असम में एक मूर्खताभरी मुहिम शुरू की, हालाँकि लेखकों का कहना है कि वह तिब्बत में एक मुहिम चलाना चाहता था। असम के माघ शासक पीछे हट गए और तुर्क सेनाएँ जहाँ तक आगे बढ़ सकती थीं, उन्हें बढ़ने दिया। आखिर थकी-माँदी सेनाओं ने तय किया कि वे और आगे नहीं जा सकतीं और उन्होंने पीछे लौटने का फैसला किया। रास्ते में उन्हें कोई रसद नहीं मिली और असमी सेनाएँ उन्हें बराबर परेशान करती रहीं। भूख और बीमारी से चूर और कमजोर होकर तुर्क सेना तक एक ऐसी जंग में जा फँसी जहाँ आगे नदी की चौड़ी धारा थी और पीछे असमी सेना थी। तुर्क सेनाएँ पूरी तरह पराजित हुईं। बख्तियार खिलजी कुछ पहाड़ी कबीलों की सहायता से, अपने कुछ साथियों के साथ वापस लौटने में सफल रहा, पर उसकी सेहत और हिम्मत टूट चुकी थी। बुरी तरह बीमार होकर उसने बिस्तर पकड़ लिया। इसी बीमार हालत में उसके एक अमीर ने उसे खंजर मारकर मौत की नींद सुला दिया। ऐबक तथा तुर्क और खिलजी सरदार जब उत्तर भारत में पाँव फैलाने तथा तुर्कों की विजय को स्थायी बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, तब मुईजुद्दीन और उसके भाई मध्य एशिया में गौर साम्राज्य को विस्तार देने के लिए प्रयासरत थे। गौरियों की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं के कारण शक्तिशाली ख्वारिज्मी साम्राज्य से उनका सीधा टकराव हुआ। 1203 में मुईजुद्दीन की ख्वारिज्मी शासक के हाथों विनाशकारी पराजय हुई। यह पराजय गौरियों के लिए छिपा वरदान साबित हुई क्योंकि उनको अपनी मध्य एशियाई महत्वाकांक्षाओं से मुँह मोड़कर पूरी तरह भारत पर अपनी शक्ति को केन्द्रित करना पड़ा। इसके कारण कुछ समय बाद भारत में केंद्रित एक तुर्क राज्य का उदय हुआ, लेकिन तात्कालिक संदर्भ में तो मुईजुद्दीन की पराजय ने उसके अनेक भारतीय विरोधियों को विद्रोह के लिए

नोट

प्रेरित किया। पश्चिमी पंजाब के एक जंगजू कबीले के खोखर उठ खड़े हुए तथा उन्होंने लाहौर और गजनी के बीच सारा संचार-संपर्क तोड़ डाला। मुईजुद्दीन ने भारत में 1206 में अपना आखिरी अभियान खोखरों की बगावत से निबटने के लिए ही चलाया। उसने बड़े पैमाने पर खोखरों का कत्ल किया और उनको झुका डाला। किंतु गजनी वापस जाते हुए उसे एक कट्टरपंथी मुस्लिम ने मार डाला।

मुईजुद्दीन मुहम्मद-बिन-साम की तुलना अकसर गजनी के महमूद अर्थात् महमूद गजनवी से की जाती है। योद्धा के रूप में मुईजुद्दीन से अधिक सफल महमूद गजनवी रहा, जिसे भारत या मध्य एशिया में कभी पराजित होना नहीं पड़ा। वह भारत के बाहर एक-से कहीं अधिक बड़े साम्राज्य का शासक भी था। पर ध्यान रहे कि महमूद की अपेक्षा मुईजुद्दीन को भारत में अधिक बड़े और बेहतर संगठित राज्यों का सामना करना पड़ा। वह मध्य एशिया में तो कम सफल रहा पर भारत में उसकी राजनीतिक उपलब्धियाँ अधिक रहीं। मगर उत्तर भारत में मुईजुद्दीन की सफलताओं के लिए जमीन महमूद की पंजाब-विजय ने तैयार की थी। इन दोनों के सामने मौजूद दशाएँ बहुत भिन्न-भिन्न थीं, इसे देखते हुए दोनों के बीच कोई अर्थपूर्ण तुलना संभव नहीं है। भारत में इन दोनों के राजनीतिक और सैनिक उद्देश्यों में भी बहुत अंतर थे। महमूद के लिए पंजाब की विजय और भारत में लूटपाट मध्य एशिया में अपनी स्थिति को मजबूत बनाने का साधन थीं। चूँकि मुईजुद्दीन मुहम्मद का बड़ा भाई शहाबुद्दीन गौरी मध्य एशिया के मामलों में उलझा हुआ था, इसलिए मुईजुद्दीन मुहम्मद उत्तर भारत में तुर्क राज्य कायम करने के लिए आगे बढ़ा तथा महमूद और शहाबुद्दीन दोनों द्वारा जमा संसाधनों का उपयोग किया।

महमूद और मुईजुद्दीन मुहम्मद, दोनों ही सुन्नी इस्लाम के समर्थक थे। काफिर (हिंदू) मंदिरों को नष्ट करने तथा मुलतान के अपधर्मी इस्माइलियों का दमन करना वे सम्मानजनक और गौरवपूर्ण कार्य मानते थे। इस सिलसिले में दोनों ही सिंध के पिछले अरब शासकों से संभवतः काफी आगे चले गये। लेकिन यह नीति बहुत समय तक चलने वाली नहीं थी और जब भी उनको उचित लगा, दोनों ने ही अधीन हिंदू राजाओं को मान्यता देने के प्रयास किये या इसके लिए वे मजबूर हो गए। हिंदू अधिकारियों और सैनिकों का इस्तेमाल महमूद ने भी किया और मुईजुद्दीन मुहम्मद ने भी। लेकिन अपने मकसद के लिए इस्लाम का नारे देने से परहेज इनमें से किसी ने भी नहीं किया।



टास्क तराइन की लड़ाई पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

6.8 राजपूतों की पराजय के कारण (Causes of Defeat of Rajputa)

एक मान्यता के रूप में कहा जा सकता है कि एक देश जब सामाजिक और राजनीतिक कमजोरियों का शिकार होता है या अपने पड़ोसियों के मुकाबले आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से पिछड़ जाता है, तो ही वह किसी अन्य देश के हाथों पराजित होता है। हाल के अनुसंधान दिखाते हैं कि भारतीयों की अपेक्षा तुर्कों के पास बेहतर हथियार नहीं थे। लोहे कि जिस रकाब से यूरोप में युद्ध की पद्धति बदल गई थी, वह भारत में आठवीं सदी से ही प्रचलित थी। तुर्कों की कमानें अधिक दूरी तक तीर चला सकती थीं, पर भारतीय कमानें अधिक सटीक और अधिक घातक मानी जाती थीं तथा तीरों की नौकें आमतौर पर जहर में बुझी रहती थीं। आमने-सामने की लड़ाई के लिए भारतीय तलवारें संसार में सबसे अच्छी मानी जाती थीं। भारतीयों को हाथियों का लाभ भी प्राप्त था। तुर्कों के पास संभवतः ऐसे घोड़े थे जो भारत में आयातित घोड़ों की अपेक्षा अधिक तेज और अधिक हट्टे-कट्टे थे।

राजपूतों की हार के कारणों को मात्र तराइन और चंदावर के युद्ध के संदर्भ में या बिहार और बंगाल में बख्तियार खिलजी की सफलता के संदर्भ में ही नहीं देखा जाना चाहिए, जिनके फलस्वरूप 15 वर्षों की छोटी सी अवधि में दक्षिण बंगाल छोड़ गंगा की पूरी वादी तुर्कों के नियंत्रण में आ चुकी थी।

जैसा कि एक आधुनिक लेखक ए बी एम हबीबुल्लाह ने सही तौर पर कहा है, मुईजुद्दीन की सफलता 'एक प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष थी जो पूरे बारहवीं सदी में जारी रही।' वास्तव में, सिंध से बाहर हिंदुस्तान में पाँव जमाने के लिए टोही गतिविधियाँ कम-से-कम एक सदी पहले ही, गजनी के महमूद के उदय के साथ शुरू हो चुकी थीं।

नोट

महमूद के द्वारा अफ़गानिस्तान और पंजाब की विजय ने भारत की अगाड़ी प्रतिरक्षा पंक्तियों को तोड़ दिया। इसके चलते दुश्मन ताकतों ने यहाँ अपनी सेनाएँ उतारीं और भारत के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में जब इच्छा हो, हमले करने लगीं। इस तरह रणनीतिक दृष्टि से भारत बचाव की स्थिति में आ गया। इस पूरे दौर में उत्तर भारत के राजपूत राज्यों ने गज़नवियों को खदेड़ने के लिए आपस में हाथ मिलाने का कोई प्रयास नहीं किया, महमूद की मृत्यु के बाद भी नहीं। महमूद के उत्तराधिकारी अपनी कमज़ोर स्थिति के बावजूद आक्रामक रुख अपनाते रहे। उन्होंने राजस्थान में अजमेर या और भी आगे तक तथा गंगा की वादी में कन्नौज और वाराणसी तक भारतीय क्षेत्रों पर हमले किए।

इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि घुमक्कड़ तुर्क, जो मुईजुद्दीन की सेना के महत्वपूर्ण अंग थे, ऐसे गतिशील दस्ते के रूप में इस्तेमाल किए जाते रहे जो तेज़ी से आगे बढ़ सकते थे या पलट सकते थे। घोड़े पर सवारी करते हुए भी वे तीर चला सकते थे। दूसरी ओर, राजपूत हाथियों की सहायता से ज़मीन पर लड़ने को वरीयता देते थे। इस तरह राजपूत सेना कम गतिशील थी।

संगठन में भी राजपूत सेनाएँ कमज़ोर थीं। अधिकांश राजपूत सेना अधीनस्थ राजाओं से ली हुई होती थीं, अर्थात् वे ऐसी सेनाएँ होती थीं। जिनकी कमान अधीनस्थ राजाओं के पास होती थी और उनकी कोई केंद्रीय कमान नहीं होती थी। दूसरी ओर तुर्क सेनाओं की कमान बादशाह के गुलामों के हाथों में होती थी। ये अभिजात समूह होते थे जिनको बादशाह युद्ध का प्रशिक्षण दिलवाते थे और जो बादशाह के प्रति पूरी तरह वफ़ादार होते थे। फिर भी, इस अभिजात समूह में फूट हुआ करती थी, जैसा कि कुछ तुर्क बादशाहों की मृत्यु के बाद स्पष्ट हुआ।

तुर्कों के सामाजिक और संघटनात्मक ढाँचे ने भी उनको अनेक लाभ प्रदान किए। पश्चिम एशिया में धीरे-धीरे विकसित हुई इक्ता व्यवस्था का मतलब था कि एक तुर्क सरदार को इक्ता के रूप में ज़मीन का एक भाग दिया जाता था जहाँ से वह राज्य को देय मालगुज़ारी और करों की वसूली करता था। बदले में उसे शासक की सेवा के लिए सैनिकों का एक दल बनाए रखना पड़ता था। यह भूमिदान पुश्तैनी नहीं होता था और सुल्तान की इच्छा पर निर्भर होता था जो किसी सरदार को कहीं और भेज सकता था। सुल्तान सीधे उन ज़मीनों से राजस्व पाता था जिनको खालिसा कहते थे। इसके बल पर वह एक बड़ी स्थायी सेना भी रख सकता था। भारत की तरह पश्चिम एशिया में राज्यों का उत्थान और पतन होता रहा, किंतु राजपूत राज्यों के विपरीत पश्चिम एशिया के हर राज्य में सशस्त्र बल अधिक केंद्रीकृत थे।

निजी बहादुरी में राजपूत तुर्कों से किसी भी तरह कम न थे। इस संदर्भ में सैन्य संगठन में धर्म और जाति की भूमिका को अनावश्यक बढ़ाकर नहीं आँकना चाहिए। तुर्क जहाँ गाज़ी की भावना से भरे हुए थे, वहीं राजपूत पीछे हटने को अपमानजनक समझते थे। इसके अलावा जाति ने गैर-राजपूतों या कुवर्णों (निम्न जातियों) को युद्ध में भाग लेने से नहीं रोका। इसके कारण राजपूतों की सेनाएँ संख्या में तुर्कों द्वारा उतारी गई सेनाओं से बड़ी होती थीं।

राजपूतों ने जोरदार और लंबे प्रतिरोध भी किए और अनेक अवसरों पर तुर्क सेनाओं को हराया भी, पर राजपूतों में उस चीज़ की कमी थी जिसे 'रणनीतिक दृष्टि' कहा जा सकता है। काबुल और लाहौर, जो कभी भारत के बाहरी गढ़ थे, तुर्कों के हाथ पड़ चुके थे। किंतु राजपूतों ने उन्हें वापस पाने की कोई जोरदार कोशिश नहीं की। उदाहरण के लिए, पंजाब से गज़नवियों को बाहर निकालने के लिए कोई खास प्रयत्न नहीं किया गया। राजपूतों की दृष्टि भारत पर टिकी रहीं और उन्होंने बाहर के, खासकर मध्य एशिया के, विकासक्रमों पर कुछ अधिक ध्यान नहीं दिया। जैसा कि सर्वविदित है, भारत के इतिहास की रूपरेखा तय करने में प्रायः इस क्षेत्र ने एक बुनियादी भूमिका निभाई।

6.9 सारांश (Summary)

- पश्चिम एशिया में सातवीं सदी में एक शक्तिशाली, प्रसारवादी अरब साम्राज्य के उदय के बाद नवीं सदी में अब्बासी राजवंश के खंडहर पर अनेक महत्वाकांक्षी, युद्ध-प्रेमी तुर्क राज्यों का उदय हुआ।
- एक समय सिंध एक शक्तिशाली साम्राज्य था और इसमें मकरान, कंदहार, सीस्तान और कश्मीर तक फैली पूरी सिंधु घाटी आ जाती थी, पर इसका विघटन हो चुका था और स्वतंत्र राज्य पैदा हो गए थे। मुलतान तक सिंध पर चाच नाम के एक ब्राह्मण का कब्ज़ा था।

नोट

- नवीं सदी तक काबुल, ज़ाबुल और ज़मींदावर, अर्थात् हलमंद नदी के आसपास के क्षेत्र जिसे अरब अलहिंद कहते थे। इन क्षेत्रों पर ऐसे वंशों का शासन रहा जिनकी मज़बूत स्थानीय जड़ें थीं, पर जिनके तुर्कों, यूहेची और कनिष्क के कबीलाई लोगों से भी संबंध थे।
- महमूद 998 में गजनी के तख्त पर बैठा और 1030 तक शासन करता रहा। मध्य एशिया के हमलावर तुर्क कबीलों के सख्त प्रतिरोध करने के कारण महमूद को मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासकार इस्लाम का एक नायक मानते थे।
- महमूद ने भारत पर 17 हमले किए। आरंभिक हमले उन हिंदूशाही राजाओं के खिलाफ़ थे जो अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब पर शासन कर रहे थे।
- महमूद की मृत्यु के बाद एक शक्तिशाली साम्राज्य का, अर्थात् सलजूक साम्राज्य का जन्म हुआ। सलजूक साम्राज्य में सीरिया, इराक और ईरान शामिल थे तथा खुरासान पर नियंत्रण के लिए गज़नवियों से उनका मुकाबला चल रहा था।
- प्रतिहार साम्राज्य के विघटन के बाद उत्तर भारत में अनेक राजपूत राज्य अस्तित्व में आए। कन्नौज के गाहड़वाल, मालवा के परमार और अजमेर के चौहान इनमें सबसे महत्वपूर्ण थे।
- दो महत्वाकांक्षी राजाओं—मुईजुद्दीन मुहम्मद और पृथ्वीराज—के बीच लड़ाई अपरिहार्य थी। 1191 में तराइन में हुई इस लड़ाई में गौरी की सेना पूरी तरह तबाह हो गई; मुईजुद्दीन मुहम्मद की जान एक युवा खिलजी सवार ने बचाई।
- 1192 और 1206 के बीच तुर्क शासन गंगा-यमुना दोआब पास के इलाकों में स्थापित हो गया। बिहार और बंगाल भी जीत लिए गए।

6.10 शब्दकोश (Keywords)

- **घुसपैठ**—किसी क्षेत्र या राज्य में अवैध प्रवेश करना।
- **मालगुजारी**—राज्य द्वारा लगाया गया कर या लगान (टैक्स)।
- **अपधर्मी**—धर्म के विरुद्ध आचरण करना।

6.11 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. अरब और सिंध के आरंभिक चरणों का उल्लेख करें।
2. नवीं शती के अफ़ग़ानिस्तान एवं अलहिंद के शासकों के शासन नीति पर प्रकाश डालें।
3. गज़नवी कौन था? भारत में उसे सिर्फ़ एक लुटेरे और मंदिरों के विध्वंसक के रूप में क्यों याद किया जाता है?
4. प्रतिहार साम्राज्य के विघटन के बाद नवोदित राजपूत रजवाड़ों के शासनों का उल्लेख करें।
5. पंजाब पर मुहम्मद गज़नी की विजय के बाद हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच संबंधों पर प्रकाश डालें।
6. गंगा की वादी, बिहार और बंगाल में तुर्कों की विजय की सफलता के कारणों की विवेचना करें।
7. तुर्कों से राजपूतों की पराजय के क्या कारण थे? स्पष्ट करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|--------------|--------------|-------------|---------------|
| 1. शक्तिशाली | 2. ब्राह्मण | 3. लूटपाट | 4. सैनिकों |
| 5. (ख) ईरानी | 6. (क) जयपाल | 7. (ग) 1030 | 8. (ख) दिल्ली |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. सत्य | 12. असत्य। |

नोट

6.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
2. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
3. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
4. औपनिवेशिक काल में भारत—डग्लस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
5. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
6. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
7. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
8. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-7: प्रायद्वीपीय भारत में प्रारंभिक राज्य-व्यवस्था (600 से 800 ई. तक) [Early Medieval Polities in Peninsular India (6th to 8th A.D.)]

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 7.1 दक्कन और दक्षिण-भारत के राज्य (State of Daccan and South-India)
- 7.2 चालुक्यों और पल्लवों के बीच संघर्ष (Conflict between Chalukya and Pahlava)
- 7.3 किसानों से अपेक्षाएँ (Expectations to Peasants)
- 7.4 ग्रामीण विस्तार (Rural Expansion)
- 7.5 सामाजिक संरचना (Social Structure)
- 7.6 सारांश (Summary)
- 7.7 शब्दकोश (Keywords)
- 7.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 7.9 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- दक्कन एवं दक्षिण भारत के राज्यों को जानने में;
- चालुक्यों एवं पल्लवों के बीच संघर्ष को जानने में;
- ग्रामीण विस्तार एवं सामाजिक संरचना को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

लगभग 300 ई. से 750 ई. के दौरान विंध्य पर्वत शृंखला के दक्षिणी क्षेत्रों में द्वितीय ऐतिहासिक अवस्था का आरंभ हुआ। उसने प्रथम ऐतिहासिक अवस्था (लगभग 200 ई. पू.-300 ई.) में आरंभ हुई कुछ प्रक्रियाओं को जारी रखा। उसने कई ऐसी नई चीजें शुरू कीं जिन्हें पहले के कालों में किसी भी पैमाने पर नहीं देखा गया था। प्रथम अवस्था में हम दक्कन पर सातवाहनों तथा तमिलनाडु के दक्षिणी जिलों पर तमिल राज्यों के बढ़ते हुए प्रभुत्व को पाते हैं। उस काल में तमिलनाडु के उत्तरी भाग, दक्षिणी कर्नाटक, दक्षिणी महाराष्ट्र के एक भाग और गोदावरी तथा महानदी के दोआब ने अपने क्षेत्रों से बाहर स्थापित राजनीतिक सत्ता-केन्द्रों के प्रति निष्ठा प्रकट की। उनके अपने कोई राज्य

नोट

नहीं थे। अब इन क्षेत्रों और विदर्भ में भी 300 ई. और 600 ई. के बीच लगभग दो दर्जन राज्यों ने जन्म लिया जिनके संबंध में हम उनके भूमि अधिकार-पत्रों से जानते हैं। अंततोगत्वा सातवीं शताब्दी के आरंभ में कांची के पल्लव, बादामी के चालुक्य और मदुरा के पाण्ड्य तीन प्रमुख राज्यों के रूप में प्रकट हुए। प्रथम ऐतिहासिक अवस्था की विशेषताएँ थीं—असंख्य शिल्पों का उदय, आंतरिक और बाह्य व्यापार, सिक्कों का व्यापक इस्तेमाल और नगरों की एक अच्छी खासी संख्या। लगता है कि द्वितीय अवस्था में नगरों और सिक्कों की ढलाई में हास हो रहा था। द्वितीय अवस्था की विशेषता थी—ब्राह्मणों को बड़ी संख्या में करमुक्त भूमि-अनुदान दिया जाना। इन अनुदानों से संकेत मिलता है कि अनेक नए क्षेत्रों में खेती आरंभ की गई तथा वहाँ बस्तियाँ बनीं। इसलिए इस काल के दौरान कृषि अर्थव्यवस्था का काफी विस्तार हुआ।

हम विजयी ब्राह्मणवाद का अभियान भी देखते हैं। प्रथम अवस्था में हम आंध्र और महाराष्ट्र दोनों में बड़े-बड़े बौद्ध स्मारक पाते हैं। गुफा-अभिलेखों से तमिलनाडु के दक्षिणी जिलों में जैन धर्म और बौद्ध धर्म के अस्तित्व का संकेत मिलता है। परंतु द्वितीय अवस्था में जैन धर्म कर्नाटक तक ही सीमित रहा और हम संपूर्ण प्रायद्वीप में राजाओं द्वारा वैदिक यज्ञ करने के अनगिनत उदाहरण पाते हैं। इस अवस्था में तमिलनाडु में पल्लवों तथा कर्नाटक में बादामी के चालुक्यों के शासनकाल में शिव और विष्णु के पत्थर के मंदिरों का निर्माण भी आरंभ हुआ। द्वितीय अवस्था के आरंभ तक दक्षिण भारत महापाषाण भूमि नहीं रह गया और इस अवस्था के अंत में हम उस प्रक्रिया को देखते हैं जिसने उसे अंततोगत्वा मंदिरों की भूमि बना दिया।

शासकों और साक्षर वर्ग की भाषा में परिवर्तन हुआ। अगर हम आंध्र और कर्नाटक में पाए गए अशोक के अभिलेखों को छोड़ दें तो द्वितीय शताब्दी ई.पू. और तृतीय शताब्दी ई. के बीच शिलालेख अधिकतर प्राकृत में लिखे गए। तमिलनाडु के दक्षिणी जिलों में पाए गए तमिल भाषा के ब्राह्मी शिलालेखों में प्राकृत शब्द भी हैं, परंतु लगभग 400 ई. से संस्कृत प्रायद्वीप की राजभाषा बन गई तथा अधिकतर अधिकार पत्र संस्कृत में जारी किए गए।

7.1 दक्कन और दक्षिण-भारत के राज्य (State of Daccan and South-India)

उत्तर महाराष्ट्र और विदर्भ (बरार) में सातवाहनों की जगह वाकाटकों ने ले ली। वाकाटक एक स्थानीय शक्ति थे। उन्होंने अनगिनत वैदिक यज्ञ किए। उनका राजनीतिक इतिहास दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर भारत के लिए अधिक महत्वपूर्ण है। हमने देखा है कि किस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी बेटी प्रभावती गुप्त की शादी वाकाटक राजपरिवार में की और उसकी सहायता से चौथी शताब्दी ई. के अंतिम चतुर्थांश में गुजरात और पश्चिमी भारत के सटे हुए भागों को शकों से जीत लिया। लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से वाकाटक राज्य दक्षिण में ब्राह्मण धर्म और परंपराओं को फैलाने का माध्यम बन गया।



नोट्स ब्राह्मणों को बड़ी संख्या में ताम्र-भूमि-अधिकार पत्र देने के कारण वाकाटक प्रसिद्ध हैं। वे ब्राह्मण धर्म के महान पक्षधर थे।

वाकाटक शक्ति के बाद बादामी के चालुक्य आए जिन्होंने 757 ई. तक लगभग दो शताब्दियों तक दक्कन और दक्षिण भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्हें 757 ई. में राष्ट्रकूटों ने अपदस्थ कर दिया। चालुक्य अपने को ब्राह्म या मनु अथवा चंद्रमा का वंशज मानते थे। वे डींग हांकते हैं कि उनके पूर्वज अयोध्या में राज करते थे, परंतु इन सबका उद्देश्य सत्ता तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करना था। वस्तुतः ऐसा लगता है कि वे कनारा के स्थानीय लोग थे जिन्हें ब्राह्मण-प्रभाव से किसी प्रकार शासक वर्ग में शामिल कर लिया गया।

चालुक्यों ने छठी शताब्दी के आरंभ में पश्चिमी दक्कन में अपना राज्य कायम किया। उन्होंने बीजापुर जिले (कर्नाटक) के वातापी (आधुनिक बादामी) में अपनी राजधानी बनाई। जिनमें से कई स्वतंत्र शासक घरानों में बंट गए, परंतु मुख्य शाखा वातापी में दो शताब्दियों तक शासन करती रही। मध्यकाल में बहुत आगे चलकर विजयनगर

नोट

राजवंश के उदय के पहले तक इस काल में दक्कन में कोई अन्य शक्ति बादामी के चालुक्यों जितनी महत्वपूर्ण नहीं थी।

प्रायद्वीप के पूर्वी भाग में सातवाहन शाक्ति के ध्वंसावशेषों पर कृष्णा-गुंटूर क्षेत्र में इक्ष्वाकुओं का उदय हुआ। लगता है कि वे कोई स्थानीय कबीला थे और अपनी वंशपरंपरा की प्राचीनता को प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने 'इक्ष्वाकु' उच्च नाम ग्रहण कर लिया था। उन्होंने अपने पीछे नागार्जुनकोंडा और धरणीकोंडा में अनेक स्मारक छोड़े हैं। उन्होंने कृष्णा-गुंटूर क्षेत्र में भूमि अनुदानों की प्रथा आरंभ की। वहाँ उनके अनेक ताम्रपत्र पर लिखे अधिकार-पत्र पाए गए हैं। इक्ष्वाकुओं को अपदस्थ कर उनकी जगह पर पल्लव आए। पल्लव शब्द का अर्थ होता है लता और यह तमिल शब्द टोंडार्ड का रूपांतरण है जिसका अर्थ भी यही है। संभवतः पल्लव एक स्थानीय कबीला थे जिन्होंने टोंडार्डनाडु, अर्थात् लताओं का देश में अपनी सत्ता स्थापित की। लेकिन उन्हें पूर्णरूपेण सभ्य बनने में कुछ समय लग गया क्योंकि तमिल भाषा में पल्लव शब्द का अर्थ डाकू होता है। पल्लवों की सत्ता के अधीन दक्षिणी आंध्र और उत्तरी तमिलनाडु दोनों थे। उन्होंने अपनी राजधानी कांची (आधुनिक कांजीवरम्) में बनाई, जो उनके शासनकाल में मंदिरों और वैदिक विद्या का नगर बन गया।

आरंभिक पल्लवों का कदंबों से संघर्ष हुआ। कदंबों ने चौथी शताब्दी ई० में दक्षिणी महाराष्ट्र और आधुनिक गोआ राज्य सहित कोंकण में अपना शासन कायम किया था। वे ब्राह्मण होने का दावा करते हैं। उन्होंने अपने जाति-बंधुओं को उदारतापूर्वक पुरस्कृत किया।

कदम्ब राज्य की स्थापना मयूरशरणन् ने की। कहा जाता है कि वह शिक्षा के लिए कांची आया था परंतु उसे बड़ा अनादर कर निकाल बाहर किया गया। इस अपमान से दुखी कदम्ब प्रधान ने जंगल में अपना शिविर बनाया और संभवतः जंगली कबीलों की सहायता से पल्लवों को हरा दिया। अन्ततोगत्वा पल्लवों ने हार का बदला ले लिया परंतु मयूरशरणन् को औपचारिक रूप से राजचिन्ह प्रदान कर उन्होंने कदम्ब सत्ता को स्वीकार कर लिया। कदम्बों ने अपनी राजधानी कर्नाटक के उत्तरी कनारा जिले में विजयन्ती या बनवासी में बनाई।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. उत्तर महाराष्ट्र और विदर्भ में की जगह वाकाटकों ने ले ली।
2. वाकाटक धर्म के महान पक्षधर थे।
3. चालुक्यों ने छठी शती के आरंभ में पश्चिमी में अपना राज्य कायम किया।
4. पल्लवों ने अपनी राजधानी में बनाई।

7.2 चालुक्यों और पल्लवों के बीच संघर्ष (Conflict between Chalukya and Pahlava)

छठी से आठवीं शताब्दियों तक प्रायद्वीपीय भारत के राजनीतिक इतिहास की दिलचस्पी का मुख्य केन्द्र आधिपत्य को लेकर कांची के पल्लवों और बादामी के चालुक्यों के बीच लम्बा संघर्ष है। इस संघर्ष में पाण्ड्य जिनके नियंत्रण में तमिलनाडु के मदुरा और तिन्नेवेल्ली जिले थे, काफी दूर तीसरे स्थान पर रहे। यद्यपि पल्लव और चालुक्य, दोनों ब्राह्मणवाद के पक्षधर थे और दोनों ने वैदिक यज्ञ किए तथा ब्राह्मणों को अनुदान दिये, तथापि दोनों के बीच लूटपाट, प्रतिष्ठा और क्षेत्रीय संसाधनों को लेकर झगड़े हुए। दोनों ने कृष्णा और तुंगभद्रा के दोआब पर प्रभुत्व जमाने की कोशिश की। उत्तर मध्यकाल में यह दोआब विजयनगर और बहमनी राज्यों के बीच झगड़े का कारण बन गया। बार-बार पल्लव राजाओं ने तुंगभद्रा नदी पार करने की कोशिश की। तुंगभद्रा नदी दक्कन के अनेक राज्यों तथा सुदूर दक्षिण के बीच प्राकृतिक ऐतिहासिक सीमा थी। यह संघर्ष उतार-चढ़ाव के साथ लम्बे काल तक चलता रहा।

नोट

इस लम्बे संघर्ष के क्रम में प्रथम महत्वपूर्ण घटना सबसे प्रसिद्ध चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय (609-642 ई०) के शासनकाल में घटी। उसके बारे में हम एहोले अभिलेख में उसके दरबारी कवि रविकीर्ति द्वारा लिखी गयी प्रशस्ति से जानते हैं।



क्या आप जानते हैं? एहोले प्रशस्ति संस्कृत की तत्कालीन काव्यात्मक उत्कृष्टता का एक उदाहरण है और अतिशयोक्तियों के बावजूद पुलकेशिन की जीवनी के लिए एक मूल्यवान स्रोत है।

उसने वनवासी स्थित कदम्ब राजधानी को उखाड़ फेंका और कर्नाटक के गंगा लोगों को अपने को अधिराजा के रूप में स्वीकार करने के लिए मजबूर कर दिया। उसने नर्मदा तट पर हर्ष की सेना को पराजित कर उसको दक्कन की ओर बढ़ने से रोक दिया। पल्लवों के साथ अपने संघर्ष में वह पल्लव राजधानी के करीब पहुँच गया परंतु पल्लवों ने पुलकेशिन द्वितीय के साथ, उसे अपने उत्तरी प्रांत देकर, सुलह कर ली। पुलकेशिन द्वितीय ने 610 ई० के आसपास कृष्णा और गोदावरी का दोआब पल्लवों से छीन लिया। यह दोआब वेंगी प्रांत के नाम से जाना जाने लगा। यहाँ पर मुख्य राजवंश की एक शाखा स्थापित की गयी। जो वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजवंश के नाम से जानी जाती है। परंतु पल्लव क्षेत्र पर पुलकेशिन का दूसरा हमला विफल रहा और पल्लव राजा नरसिंहवर्मन ने चालुक्य राजधानी वातापी पर कब्जा कर लिया। यह उसके द्वारा वातापीकोंडा या वातापी का विजेता की उपाधि ग्रहण करने से स्पष्ट है। कहा जाता है कि उसने चोलों, चेरों, पाण्ड्यों और कालाभ्रों को भी पराजित किया।

सातवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों के दौरान इस संघर्ष में एक ठहराव सा आ गया। यह संघर्ष आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में फिर चालू हो गया। कहा जाता है कि चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय (733-745 ई०) ने कांची को तीन बार रौंदा। सन् 740 ई० में उसने पल्लवों को पूरी तरह पराजित कर दिया।



सावधानी चालुक्यों की विजय ने सुदूर दक्षिण में पल्लव आधिपत्य सामप्त कर दिया यद्यपि शासक घराना उसके बाद एक शताब्दी तक वर्तमान रहा, परंतु चालुक्य पल्लवों पर अपनी विजय के फल का सेवन बहुत दिनों तक नहीं कर पाए क्योंकि 757 ई० में राष्ट्रकूटों ने पल्लवों का आधिपत्य समाप्त कर दिया।

7.3 किसानों से अपेक्षाएँ (Expectations to Peasants)

इसमें कोई संदेह नहीं है कि लड़ाई, कला और साहित्य के विकास, धर्म के प्रचार-प्रसार और प्रशासनिक तंत्र को बनाये रखने के लिए अपार संसाधनों की आवश्यकता थी। स्पष्टतया ये संसाधन किसानों से जमा किये जाते थे। कृषक समुदायों पर लादे गये बोझ का स्वरूप वाकाटक राज्य और पल्लव राज्य में कर्मावेश एक समान था यद्यपि वाकाटक राज्य विदर्भ और महाराष्ट्र में था तथा पल्लव राज्य दक्षिण आंध्र और उत्तर तमिलनाडु में। भूमि कर के अतिरिक्त जो उपज का हिस्सा था, राजा अनाज और सोना के रूप में नजराना ले सकता था तथा नमक और तरल पदार्थों (चीनी और मदिरा) के लिए ताड़ जैसे पेड़ों से रस निकाल सकता था। बेशक गांवों की सारी धरोहर और छिपे खजाने उसके थे। इसके अतिरिक्त वह फूल और दूध, लकड़ी और घास गांव वालों से लेता था और उनको निःशुल्क बोझ ढोने के लिए मजबूर कर सकता था। राजा बेगार या विष्टी का भी अधिकारी था।

राजकीय अधिकारी गांवों में कर वसूल करने या अपराधियों को दण्ड देने जाते थे। राजकीय अधिकारियों के गांवों में जाने और गांवों से होकर फौज के गुजरने के समय ग्राम-समुदायों को अनेक जिम्मेदारियाँ पूरी करनी होती थीं।



उदाहरण उन्हें गाड़ियों के लिए बैलों के अतिरिक्त चारपाइयाँ, लकड़ी का कोयला, चूल्हे, खाना पकाने के बरतन और सेवक देने पड़ते थे।

नोट

करों की पूरी सूची देखने से स्पष्ट होता है कि राज्य किसानों के श्रम और उत्पादन का एक बड़ा भाग ले लेता था। इनमें से अधिकतर करों की मांग ब्राह्मणों को चौथी शताब्दी से दी गयी 18 प्रकार की उन्मुक्तियों में शामिल थी। बाद में किसानों से अधिकाधिक अपेक्षाएँ की गयीं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

5. उत्तर-मध्यकाल में दोआब विजयनगर और बहमनी राज्यों के बीच झगड़े का कारण बना।
6. पुलकेशन द्वितीय ने कृष्णा और गोदावरी का दोआब पल्लवों को दे दिया।
7. वाकाटक राज्य दक्षिण आंध्र और उत्तर तमिलनाडु में था।
8. चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय ने कांची को तीन बार रौंदा।

7.4 ग्रामीण विस्तार (Rural Expansion)

खेतिहर जनसंख्या से राजा ये असंख्य मांगें उसकी अदा करने की क्षमता के आधार पर ही करता था। अगर कृषि उत्पादन में वृद्धि नहीं होती तो करों की वसूली सम्भव नहीं थी। इस काल में हम विंध्यपर्वत के पार के क्षेत्रों में राज्यों की बहुलता पाते हैं। हर राज्य में कई सामन्ती छोटे-छोटे राज्य होते थे। इनमें से प्रत्येक राज्य को, चाहे वह बड़ा या छोटा, सर्वोपरि हो या सामन्ती, अपनी सेना, अपनी कर व्यवस्था, अपना प्रशासनिक तंत्र और पुरोहित वर्ग की तरह ही अन्य पक्षधरों की आवश्यकता थी। इसलिए प्रत्येक राज्य को संसाधनों की आवश्यकता थी जो उसके अपने ग्रामीण आधार से ही मिल सकते थे। इसलिए ग्राम-समुदायों के प्रचुर उद्भव या तत्कालीन गांवों में कृषि-उत्पादन में वृद्धि के बिना यह संभव नहीं था कि राज्य बहुल हो पाते। ऐसा लगता है कि कबीलाई क्षेत्रों में ब्राह्मणों को जमीन दी गयी थी और कबीलायी किसानों ने उन्हीं से पशु-परिरक्षण और कृषि के बेहतर तरीके सीखे। कई क्षेत्रों में श्रमशक्ति का अभाव था। ऐसे क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था के चलते रहने के लिए कुछ बटाईदारों तथा बुनकरों को ब्राह्मणों के जिम्मे दे देना भी आवश्यक समझा गया। यह तथ्य एक आरम्भिक पल्लव-अनुदानों से ज्ञात है। इसलिए ब्राह्मणों को दिये गये असंख्य अनुदानों ने खेती के नये तरीकों के प्रसार तथा ग्राम समुदायों के आकारों की वृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

इस काल में हम दक्षिण भारत में तीन प्रकार के गांव उर, सभा और नगरम् पाते हैं। उर आम तरह का गांव था जिसमें कृषक जातियाँ रहती थीं। शायद उनकी जमीन सामूहिक थी और यह गांव के प्रधान का काम था कि वह उनसे करों की वसूली कर उनकी तरफ से भुगतान करे। ये गांव मुख्यतः दक्षिण तमिलनाडु में थे। सभा कोटि के गांवों में ब्रह्मादेय गांव (ब्राह्मणों को दिये गये गांव) और अग्रहार गांव शामिल थे। नगरम् कोटि के गांवों में वे गांव आते थे जिनमें व्यापारी और सौदागर बसते थे और जिन पर उन्हीं का संयुक्त दबदबा था। यह संभवतः इसलिए हुआ कि व्यापार की अवनति होने पर सौदागर गांवों में चले गये। चालुक्य क्षेत्रों में ग्रामीण मामलों का प्रबंध गांव श्रेष्ठ जन करते थे जिन्हें महाजन कहा जाता था। कुल मिलाकर लगभग 300 ई० से 750 ई० का काल ग्रामीण विस्तार तथा ग्रामीण संगठन का अच्छा प्रमाण प्रस्तुत करता है।

7.5 सामाजिक संरचना (Social Structure)

हम इस काल में विकसित सामाजिक ढांचे का एक स्थूल चित्र प्रस्तुत कर सकते हैं। समाज पर राजाओं और पुरोहित का दबदबा था। राजाओं ने ब्राह्मण या क्षत्रिय होने के दावे किये। उनमें से अनेक स्थानीय कबीलों के प्रधान थे जिन्हें ब्राह्मणों ने दान पाकर द्वितीय वर्ण के रूप में प्रतिस्थापित कर दिया। पुरोहित मुख्यतः ब्राह्मण थे यद्यपि जैन और बौद्ध भिक्षुओं को भी इस कोटि में रखा जा सकता है। इस अवस्था में पुरोहितों ने अपने प्रभाव और सत्ता को भूमि अनुदानों

नोट

के जरिए बढ़ाया। राजाओं और पुरोहितों के बाद कृषक वर्ग का स्थान था जो असंख्य कृषक जातियों में बँटा हुआ था। संभवतः ब्राह्मण व्यवस्था में उनमें से अनेक को शूद्र कहा जाता था। अगर कृषक और दस्तकार जातियाँ उत्पादन सेवाएँ करने और भुगतान देने में असफल रहती थीं तो इसे स्थापित धर्म या प्रतिमान से विचलन के रूप में देखा जाता था। इस प्रकार की स्थिति को कलियुग कहा जाता था। यह राजा का कर्तव्य था कि वह इस प्रकार की स्थिति को समाप्त करे तथा शान्ति और व्यवस्था स्थापित करे जो सरदारों और पुरोहित के पक्ष में हो। इसलिए धर्म-महाराज की उपाधि वाकाटक, पल्लव, कदम्ब और पश्चिम गंगा राजाओं ने ग्रहण की। पल्लव सत्ता के वास्तविक संस्थापक सिंहवर्मन के बारे में कहा जाता है कि वह उस समय धर्म को बचाने के लिए आया जब कलियुग के दुर्गुण धर्म पर हावी हो गये थे। स्पष्टतया यह संकेत उसके द्वारा कालाभ्रों के दमन की ओर है। कालाभ्रों ने तत्कालीन समाज-व्यवस्था को अस्तव्यस्त कर दिया था।

7.6 सारांश (Summary)

- लगभग 300 ई. से 750 ई. के दौरान विंध्य पर्वत श्रृंखला के दक्षिणी क्षेत्रों में द्वितीय ऐतिहासिक अवस्था का आरंभ हुआ। उसने प्रथम ऐतिहासिक अवस्था (लगभग 200 ई. पू.-300 ई.) में आरंभ हुई कुछ प्रक्रियाओं को जारी रखा।
- द्वितीय अवस्था की विशेषता थी-ब्राह्मणों को बड़ी संख्या में करमुक्त भूमि-अनुदान दिया जाना। इन अनुदानों से संकेत मिलता है कि अनेक नए क्षेत्रों में खेती आरंभ की गई तथा वहाँ बस्तियाँ बनीं।
- उत्तर महाराष्ट्र और विदर्भ (बरार) में सातवाहनों की जगह वाकाटकों ने ले ली। वाकाटक एक स्थानीय शक्ति थे।
- वाकाटक शक्ति के बाद बादामी के चालुक्य आए जिन्होंने 757 ई. तक लगभग दो शताब्दियों तक दक्कन और दक्षिण भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।
- छठी से आठवीं शताब्दियों तक प्रायद्वीपीय भारत के राजनीतिक इतिहास की दिलचस्पी का मुख्य केन्द्र आधिपत्य को लेकर कांची के पल्लवों और बादामी के चालुक्यों के बीच लम्बा संघर्ष है। इस संघर्ष में पाण्ड्य जिनके नियंत्रण में तमिलनाडु के मदुरा और तिन्नेवेल्ली जिले थे, काफी दूर तीसरे स्थान पर रहे।
- लड़ाई, कला और साहित्य के विकास, धर्म के प्रचार-प्रसार, और प्रशासनिक तंत्र को बनाये रखने के लिए अपार संसाधनों की आवश्यकता थी। स्पष्टतया ये संसाधन किसानों से जमा किये जाते थे।
- खेतिहर जनसंख्या से राजा ये असंख्य मांगें उसकी अदा करने की क्षमता के आधार पर ही करता था। अगर कृषि उत्पादन में वृद्धि नहीं होती तो करों की वसूली सम्भव नहीं थी।

7.7 शब्दकोश (Keywords)

- **करमुक्त भूमि**—जिस भूमि का कर या लगान राजा द्वारा माफ कर दिया गया हो।
- **कबीला**—असभ्य या जंगली आदमियों का व्यक्ति विशेष को सरदार मानने वाला समूह।

7.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. 8वीं सदी के दक्कन एवं दक्षिण भारतीय राज्यों के शासकों का उल्लेख करें।
2. चालुक्यों तथा पल्लवों के बीच हुए संघर्षों का वर्णन करें।
अथवा
चालुक्यों तथा पल्लवों के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन करें।
3. प्रायद्वीपीय राज्यों में ब्राह्मणों की स्थिति पर प्रकाश डालें।

4. प्रायद्वीपीय भारत के राज्यों में किसानों से की जाने वाली अपेक्षाओं पर प्रकाश डालें।
5. प्रायद्वीपीय भारत में राज्यों की बहुलता का विवेचन करें।

नोट

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|------------|-------------|----------|----------|
| 1. सातवाहन | 2. ब्राह्मण | 3. दक्कन | 4. कांची |
| 5. सत्य | 6. असत्य | 7. असत्य | 8. सत्य। |

7.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
2. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
3. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
4. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
5. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-8: प्रायद्वीपीय भारत में प्रारंभिक मध्यकालीन राज्य व्यवस्था (नवीं से बारहवीं सदी तक) (Early Medieval Polities in Peninsular India) (9th to 12th A.D.)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 8.1 चोल साम्राज्य का उदय (Rise of Chola Empire)
- 8.2 राजराज और राजेंद्र प्रथम का युग (Age of Rajraj and Rajendra I)
- 8.3 चोल शासन : स्थानीय स्वशासन (Administration of Chola : Local Administration)
- 8.4 सांस्कृतिक जीवन (Cultural Life)
- 8.5 सारांश (Summary)
- 8.6 शब्दकोश (Keywords)
- 8.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 8.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- चोल साम्राज्य के उदय को जानने में;
- राजराज एवं राजेंद्र प्रथम को जानने में;
- चोल साम्राज्य के शासन एवं वहाँ के सांस्कृतिक जीवन को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

दक्षिण भारत में छठी और आठवीं सदियों के बीच बहुत-से शक्तिशाली साम्राज्यों का उदय हुआ। उनमें सबसे महत्वपूर्ण थे पल्लव और पांड्य जो आधुनिक तमिलनाडु पर राज्य करते थे, आधुनिक केरल में चेर थे और चालुक्य महाराष्ट्र या दक्कन पर राज्य करते थे। चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय ने ही हर्ष को हराया था और उसे दक्कन की ओर अपने राज्य का प्रसार करने नहीं दिया था। इनमें पल्लव और पांड्य जैसे कुछ राज्यों के पास शक्तिशाली नौसेनाएँ थीं। उन्होंने दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों और चीन के साथ आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संबंधों को मजबूत बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अपनी शक्तिशाली नौसेना के बल पर उन्होंने श्रीलंका पर आक्रमण किया और उसके कुछ भागों पर कुछ समय तक शासन भी किया।

नोट

चोल साम्राज्य का उदय नवीं सदी में हुआ। उसने प्रायद्वीप के एक बड़े भाग को अपने अधीन कर लिया। चोलों ने एक शक्तिशाली नौसेना का विकास किया जिसके बल पर उन्होंने श्रीलंका और मालदीव के द्वीपों को जीता। दक्षिण-पूर्व एशिया पर उनका प्रभाव आज तक महसूस किया जाता है। चोल साम्राज्य को दक्षिण भारत के इतिहास का चरम बिंदु कहा जा सकता है।

8.1 चोल साम्राज्य का उदय (Rise of Chola Empire)

चोल साम्राज्य का संस्थापक विजयालय था जो पहले पल्लवों का सामंत रह चुका था। उसने 850 में तंजावुर पर कब्जा किया। नवीं सदी के अंत तक चोल कांची के पल्लवों को भी हरा चुके थे और पांड्यों को भी कमजोर कर चुके थे। इस तरह दक्षिण तमिल भूमि (टोंडमंडल) पर उनका अधिकार हो गया। मगर राष्ट्रकूटों से अपना बचाव करने के लिए चोलों को लोहे के चने चबाने पड़े। कृष्ण तृतीय ने चोल राजा को हराकर चोल साम्राज्य के उत्तरी भाग को छीन लिया था। चोलों के लिए यह एक भारी पराजय थी, पर वे जल्द ही सँभल गए, विशेषकर 965 में कृष्ण तृतीय की मृत्यु और राष्ट्रकूट साम्राज्य के पतन के बाद। उसके बाद दो सदियों तक दक्षिण भारत में चोलों का वर्चस्व रहा।

8.2 राजराज और राजेंद्र प्रथम का युग (Age of Rajraj and Rajendra I)

राजराज ने कावेरी के कछार (डेल्टा) समेत पूरे तमिल क्षेत्र को एक शक्तिशाली राज्य में एकजुट किया और उसके प्रभाव को उत्तर में स्थित कलिंग या उड़ीसा तक फैलाया। उसने विदेश व्यापार के लिए और कुछ पड़ोसी क्षेत्रों पर वर्चस्व के लिए नौसेना के महत्त्व को समझा, त्रिवेन्द्रम में चेर नौसेना को हराया और क्वीलोन पर आक्रमण किया। फिर उसने मद्रुरै को जीता और पांड्य राजा को बंदी बनाया। उसने श्रीलंका पर भी आक्रमण किया और उसके उत्तरी भाग को अपने साम्राज्य में मिला लिया। ये कृत्य उसकी इस इच्छा से प्रेरित थे कि दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों से होनेवाले व्यापार को वह अपने अधीन लाए। कोरोमंडल तट मालाबार और दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों के साथ व्यापार के केंद्र थे। मालदीव की विजय उसके नौसैनिक कारनामों में से एक थी। राजराज ने कर्नाटक के गंग साम्राज्य के पश्चिमोत्तर भागों पर भी अधिकार किया और वेंगी को हराया।



क्या आप जानते हैं? चोल राजाओं में सबसे महान राजराज (985-1014) और उसका पुत्र राजेंद्र प्रथम (1014-1044) थे।

राजेंद्र प्रथम अपने पिता के जीवनकाल में ही युवराज बना दिया गया था तथा सिंहासन पर बैठने से पहले ही प्रशासन और युद्ध का काफी अनुभव प्राप्त कर चुका था। पांड्य और चेर क्षेत्रों को पूरी तरह रौंदकर और उनको अपने साम्राज्य में मिलाकर राजेंद्र प्रथम ने राजराज की विस्तारवादी नीति को आगे बढ़ाया।

राजराज और राजेंद्र प्रथम ने अपनी विजय की पहचान के रूप में विभिन्न स्थानों पर शिव और विष्णु के अनेक मंदिर बनवाए। इनमें सबसे प्रसिद्ध तंजावुर का राजराजेश्वर मंदिर था जो 1010 में पूरा हुआ। चोल राजाओं ने इन मंदिरों की दीवारों पर अभिलेख लिखवाने की प्रथा चलाई जिनमें उनकी विजय के ऐतिहासिक वृत्तांत दिए जाते थे। यही कारण है कि चोलों के बारे में हम उनके पहले के राजाओं की अपेक्षा काफी अधिक जानते हैं।

कलिंग के रास्ते बंगाल तक का अभियान राजेंद्र प्रथम के शासनकाल के सबसे उल्लेखनीय कृत्यों में से एक था। इसमें चोल सेनाओं ने गंगा नदी पार कर दो स्थानीय राजाओं को हराया। यह अभियान, जिसका नेतृत्व एक चोल सेनापति ने किया था, 1022 में चलाया गया और इसमें उसी रास्ते को उल्टी दिशा में अपनाया गया जिसे महान विजेता समुद्रगुप्त ने अपनाया था। इस विजय की स्मृति में राजेंद्र प्रथम ने 'गंगईकोडचोल' (गंगा का चोल विजेता) की उपाधि ग्रहण की। उसने कावेरी नदी के मुहाने के पास अपनी नई राजधानी बनाई और उसका नाम गंगईकोडचोलपुरम (गंगा के चोल विजेता का नगर) रखा।

नोट



नोट्स

श्रीलंका की विजय का कार्य भी राजेन्द्र प्रथम ने पूरा किया तथा श्रीलंका के राजा और रानी के मुकुट और राजचिह्न पर कब्जा कर लिया। अगले 50 वर्षों तक श्रीलंका चोलों के नियंत्रण से मुक्त न हो सका।

पुनर्जीवित हुए श्रीविजय साम्राज्य के खिलाफ नौसैनिक अभियान राजेंद्र प्रथम के काल का एक और उल्लेखनीय कारनामा था। श्रीविजय साम्राज्य, जिसे शैलेंद्र शासकों के अंतर्गत दसवीं सदी में पुनर्जीवन मिला, मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा और पड़ोसी द्वीपों में फैला हुआ था और चीन के साथ समुद्री व्यापार के मार्ग पर उसका नियंत्रण था। श्रीविजय साम्राज्य के शैलेंद्र राजवंश के शासक बौद्ध थे और चोलों से उनके सौहार्दपूर्ण संबंध थे। शैलेंद्र राजा ने महत्त्वपूर्ण बंदरगाही नगर नागपट्टम में एक बौद्ध मठ भी बनवाया था और उसके आग्रह पर राजेंद्र प्रथम ने मठ की देखभाल के लिए एक गाँव दान में दिया था। भारतीय व्यापारियों के राह की बाधाएँ दूर करने और चीन के साथ चोलों के व्यापार का प्रसार करने की चोलों की इच्छा प्रत्यक्ष रूप से दोनों के बीच संबंध विच्छेद का कारण थी। इन अभियानों के फलस्वरूप कदारम या केडा तथा मलाया प्रायद्वीप और सुमात्रा के दूसरे बहुत-से स्थान जीत लिए गए। चोल नौसेना इस क्षेत्र में सबसे शक्तिशाली रही और कुछ समय तक बंगाल की खाड़ी 'चोलों की झील' बनी रही। पर शैलेंद्र शासकों के साथ हार्दिक संबंध जारी रहे, जैसा कि सुमात्रा से मिले एक टूटे-फूटे अभिलेख से ज्ञात होता है जिस पर 1088 की तिथि पड़ी हुई है।

चोल शासकों ने चीन में अनेक प्रतिनिधिमंडल भी भेजे। ये अंशतः कूटनीतिक और अंशतः व्यापारिक थे। चोल प्रतिनिधिमंडल 1016 और 1033 में चीन पहुँचे। 70 सौदागरों का एक चोल प्रतिनिधिमंडल 1077 में चीन गया और एक चीनी वृत्तांत के अनुसार, 'काँच के सामान, काफूर, जरी के वस्त्रों, गेंडों, सींगों, हाथीदाँत आदि' के रूप में दिए नजराने के बदले उसे 'ताम्र-मुद्राओं की 81,800 मुद्राएँ' प्राप्त हुईं, अर्थात् चार लाख रुपयों से भी अधिक। व्यापार के लिए लाई गई सभी वस्तुओं के लिए चीनी लोग नजराना (tribute) शब्द का ही प्रयोग करते थे।

चोल राजा बराबर चालुक्यों से लड़ते रहे जिन्होंने राष्ट्रकूटों की जगह ले ली थी। इन्हें परवर्ती चालुक्य कहते हैं और उनकी राजधानी कल्याणी में थी। वेंगी (रायलसीमा), तुंगभद्र के दोआब उत्तर-पश्चिम कर्नाटक के गंग-शासित प्रदेश के नियंत्रण के लिए चोल और परवर्ती चालुक्य टकराते रहे। इस टकराव में किसी भी पक्ष को निर्णायक विजय नहीं मिली और अंततः दोनों ही राज्य थककर चूर हो गए। यह भी प्रतीत होता है कि इस काल में युद्ध कठोर से कठोरतर होते जा रहे थे। चोल राजाओं ने कल्याणी समेत चालुक्य नगरों को रौंदा और लूटा तथा ब्राह्मणों और बच्चों समेत जनता का नरसंहार किया। उन्होंने पांड्य प्रदेश में भी ऐसी ही नीति अपनाई और जनता को भयभीत करने के लिए सैनिक छावनियाँ बनाईं। लेकिन चोल जब किसी प्रदेश को जीत लेते थे तो वहाँ प्रशासन की एक ठोस व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न करते थे। साम्राज्य भर के गाँवों में स्थानीय स्वशासन को बढ़ावा देना चोल प्रशासन की उल्लेखनीय विशेषताओं में से एक था।



सावधानी

चोल राजाओं ने श्रीलंका के राजाओं की प्राचीन राजधानी अनुराधापुर को नष्ट किया तथा वहाँ के राजा-रानी के साथ कठोर व्यवहार किया। ये चोल साम्राज्य के इतिहास के कलंक हैं।

बारहवीं सदी तक चोल साम्राज्य का फलना-फूलना जारी रहा, पर तेरहवीं सदी के आरंभिक भाग में उसका पतन हो गया। महाराष्ट्र क्षेत्र का परवर्ती चालुक्य साम्राज्य भी बारहवीं सदी में समाप्त हो चुका था। दक्षिण में चोलों की जगह पांड्यों और होयसलों ने ली, तथा परवर्ती चालुक्यों की जगह यादवों और काकतीयों ने। ये सभी राज्य कलाओं और वास्तुकला के संरक्षक थे। दुर्भाग्य से एक-दूसरे के खिलाफ बराबर लड़ते हुए, नगरों को रौंदते हुए और मंदिरों तक को न बख्शते हुए उन्होंने अपने आपको कमजोर कर लिया। अंततः चौदहवीं सदी के आरंभ में दिल्ली के सुल्तानों ने उन्हें नष्ट कर दिया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the Blanks)–

1. पल्लव और पांड्य जैसे कुछ राज्यों के पास शक्तिशाली थीं।
2. चोल साम्राज्य का उदय सदी में हुआ था।
3. चोल साम्राज्य का संस्थापक था जो पहले पल्लवों का सामंत रह चुका था।
4. चोल राजाओं में सबसे महान राजा और उसका पुत्र राजेन्द्र प्रथम थे।

8.3 चोल शासन : स्थानीय स्वशासन**(Administration of Chola : Local Administration)**

राजा पहले की ही तरह चोल प्रशासन में सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति था। समस्त सत्ता उसके हाथों में थी पर उसको सलाह देने के लिए मंत्रिपरिषद् होती थी। प्रशासन से बेहतर संपर्क बनाए रखने के लिए राजा प्रायः देश का दौरा करता था। चोलों के पास एक विशाल सेना थी जिसमें हाथी, घुड़सवार और पैदल सैनिक थे। इन्हें सेना के तीन अंग कहा जाता था। पैदल सेना आम तौर पर भातों और तलवारों से लैस होती थी। अधिकांश राजाओं के अपने अंगरक्षक होते थे जिनको अपना जीवन देकर भी राजा की रक्षा करने की शपथ दिलाई जाती थी। वेनिस का यात्री मार्को पोलो, जो तेरहवीं सदी में केरल आया था, कहता है कि राजा की मृत्यु पर उसके सभी अंगरक्षक उसी की चिता पर जल मरते थे। हो सकता है कि इस कथन में अतिशयोक्ति हो। जैसा कि हमने कहा है, चोलों के पास एक शक्तिशाली नौसेना भी थी जिसका मालाबार और कोरोमंडल तट पर तथा कुछ समय तक बंगाल की पूरी खाड़ी पर वर्चस्व रहा।

चोल राज्य में केंद्रीय नियंत्रण वाले क्षेत्र थे तथा विभिन्न प्रकार के स्थानीय नियंत्रण वाले ढीले-ढाले प्रशासन वाले क्षेत्र भी थे। पर्वतवासी और वनवासी पूरे राज्य में बिखरे हुए थे। प्रशासन की बुनियादी इकाई नाडु था। इसमें अनेक गाँव होते थे जिनके बीच नातेदारी का घनिष्ठ संबंध और अन्य दूसरे घनिष्ठ संबंध भी होते थे। तालाबों, कुओं आदि सिंचाई के साधनों के कारण या पर्वतवासियों और वनवासियों को खेतिहर बनाकर जब नए क्षेत्रों को कृषि के अंतर्गत लाया जाता था तो नाडुओं की संख्या बढ़ जाती थी। ब्राह्मणों और मंदिरों को दान में दी जाने वाली भूमियों का आकार बढ़ा और इन्होंने भी कृषि के प्रसार में सहायता पहुँचाई।

दक्षिण तमिल या चोल-प्रदेश में नाडुओं को मिलाकर वलनाडु बनाए गए थे। चोल राज्य को चार मंडलों (प्रांतों) में बाँटा गया था। कभी-कभी राजकुमारों को प्रांतों का अधिपति बना दिया जाता था। अधिकारियों को राजस्वमुक्त भूमियों के रूप में पारिश्रमिक दिए जाते थे।

चोल राजाओं ने राजमार्गों का एक जाल बिछा दिया जो व्यापार के लिए उपयोगी था और सेना की गति के लिए भी। चोल साम्राज्य में व्यापार और वाणिज्य का विकास हुआ तथा कुछ ऐसे विशालकाय व्यापार संघों (गिल्डों) का उदय हुआ जो जावा और सुमात्रा से व्यापार करते थे।

चोलों ने सिंचाई पर भी ध्यान दिया। इसके लिए कावेरी और दूसरी नदियों का उपयोग किया गया। सिंचाई के लिए अनेक तालाब बनाए गए। भूराजस्व में सरकार का भाग तय करने के लिए कुछ चोल राजाओं ने भूमि का विस्तृत सर्वेक्षण भी कराया पर सरकार का भाग ठीक-ठीक कितना था, यह हम नहीं जानते।

भू-कर के अलावा चोल राजाओं की आय व्यापार पर लगी चुंगी, पेशों पर लगे करों तथा पड़ोसी क्षेत्रों की लूट पर भी आधारित थी। चोल शासक समृद्ध थे तथा वे नगरों को बसाने और मंदिरों समेत शानदार स्मारक बनवाने का बोझ उठा सकते थे।

राष्ट्रकूट साम्राज्य के कुछ क्षेत्रों में हम गाँवों के स्थानीय स्वशासन की पहले ही चर्चा कर चुके हैं। चोलकालीन अभिलेखों के कारण हमें चोल साम्राज्य के ग्राम शासन के बारे में अधिक जानकारी है। हमें दो सभाओं की

नोट

जानकारी है जिनको उर तथा सभा (या महासभा) कहा जाता था। उर गाँव की आम सभा थी, लेकिन हमें महासभा के कामकाज का अधिक ज्ञान है। यह ब्राह्मणों के गाँवों में, जिनको अग्रहार कहा जाता था, वयस्क पुरुषों की सभा होती थी। ये गाँव ब्राह्मणों से आबाद थे तथा इनमें अधिकांश भूमि राजस्वमुक्त होती थी। इन गाँवों को बहुत अधिक स्वायत्तता प्राप्त थी। गाँवों के मामले एक कार्यकारी समिति सँभालती थी जिसमें संपत्तिशाली शिक्षित व्यक्ति या तो पर्चियाँ डालकर या बारी-बारी से चुने जाते थे। हर तीन साल पर इन सदस्यों को पदमुक्त होना पड़ता था। भूराजस्व के आकलन और संग्रह, कानून-व्यवस्था की रक्षा, न्याय आदि में सहायता के लिए दूसरी समितियाँ भी होती थीं। महत्वपूर्ण समितियों में एक थी तालाब समिति जो खेतों के लिए पानी के बँटवारे पर निगाह रखती थी। महासभा नई ज़मीनों को आबाद कर सकती थी तथा उन पर संपत्ति के अधिकार का प्रयोग कर सकती थी। वह गाँव के लिए ऋण भी ले सकती थी और कर भी लगा सकती थी।

इन चोल गाँवों में प्रचलित स्वशासन एक बहुत सुंदर व्यवस्था थी। यह व्यवस्था दूसरे गाँवों में भी कमोबेश सफल रही। लेकिन उनकी स्वायत्तता को सामंतवाद के विकास ने सीमित कर दिया जिसकी चर्चा अध्याय एक में की जा चुकी है। राजस्व के आकलन और संग्रह के लिए अधिकारी नियुक्त करके शासकों ने नाडुओं की स्वतंत्रता को कम करने का प्रयत्न किया।

चोल शासन घरेलू और विदेशी व्यापार में वृद्धि के साथ बढ़ते नगरीकरण का काल था। नागपट्टनम चीन, श्रीलंका, दक्षिण-पूर्व एशिया के नाविकों और अरबों के लिए व्यापार का एक प्रमुख बंदरगाह था। दस्तकारी गैर-खेतिहर मालों का व्यापार भी बढ़ा। इसमें मंदिरों की भी सक्रिय भूमिका रही।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. राजा राजेन्द्र प्रथम ने नदी के पास अपनी राजधानी बनायी।
 (क) घाघरा (ख) कावेरी
 (ग) गोदावरी (घ) यमुना
6. चोलों के पास एक सेना थी जिसमें हाथी, घुड़सवार और पैदल सैनिक थे।
 (क) विशाल (ख) न्यून
 (ग) सामान्य (घ) तीनों
7. चोल राज्य को मंडलों में बाँटा गया था।
 (क) दो (ख) चार
 (ग) छः (घ) पाँच
8. चोल गाँवों में प्रचलित स्वशासन एक बहुत प्रथा थी।
 (क) निम्न (ख) सामान्य
 (ग) सुंदर (घ) खराब

8.4 सांस्कृतिक जीवन (Cultural Life)

चोल शासन में भक्ति आंदोलन का और भी विकास हुआ। इस आंदोलन का मंदिरों से गहरा संबंध था। चोल साम्राज्य के विस्तार और संसाधनों के बल पर चोल राजाओं ने विशाल मंदिर बनवाए, जैसे—तंजावुर, गंगईकोंडचोलपुरम, काँची आदि। इन राजाओं के विशाल परिवार होते थे और विशाल महल भी जिनमें भोजन-कक्ष, लंबे-चौड़े बाग और ज़ीने आदि होते थे। उदाहरण के लिए, हमें उनके सरदारों के सातमंजिला और पाँचमंजिला मकानों की बात सुनने को मिलती है। दुर्भाग्य से उस काल के महलों में एक भी नहीं बचा। चोल राजधानी गंगईकोंडचोलपुरम आज तंजावुर

नोट

के पास बस एक छोटा-सा गाँव है। मगर राजाओं और मंत्रियों के शानदार महलों तथा धनी सौदागरों के रहने के उतने ही शानदार मकानों के वृत्तांत उस काल के साहित्य में मिलते हैं।

दक्षिण में मंदिर-निर्माण की कला चोल राज्य में ही चरम पर पहुँची। इस काल में वास्तुकला की जो शैली प्रचलित हुई उसे द्रविड़ कहा जाता है, क्योंकि यह लगभग दक्षिण भारत तक ही सीमित है। इस शैली की प्रमुख विशेषता गर्भगृह के ऊपर मंजिल-दर-मंजिल बनाते जाना है। मंजिलों की संख्या पाँच से सात तक होती थी और उनकी एक खास शैली थी जिसे विमान कहते हैं। मंडप नाम का खंभोंवाला कक्ष, जिसमें बहुत अधिक नक्काशीदार खंभे होते थे और जिसकी छत सपाट होती थी, आम तौर पर गर्भगृह के सामने होता था। वह सभा-भवन का काम करता था। तथा दूसरे बहुत-से कार्यों के लिए भी प्रयुक्त होता था।



उदाहरण अनुष्ठान के समय नृत्य के लिए इनका उपयोग होता था। ये नृत्य देवताओं की सेवा में समर्पित स्त्रियाँ अर्थात् देवदासियाँ करती थीं। कभी-कभी गर्भगृह के चारों ओर एक गलियारा भी बनाया जाता था, ताकि भक्त उसकी परिक्रमा कर सकें।

इस गलियारे में अनेक दूसरे देवताओं की मूर्तियाँ रखी हुई होती थीं। पूरा ढाँचा एक खुले दालान के बीच होता था जिसके चारों ओर ऊँची दीवारें होती थीं और इन दीवारों में ऊँचे भव्य द्वार होते थे जिनको गोपुरम कहते हैं। कालांतर में विमानों की ऊँचाई और बढ़ी, दालानों की संख्या भी बढ़कर दो या तीन हो गई तथा गोपुरम अधिकाधिक सुसज्जित होते गए। इस तरह मंदिर लघु नगर या महल बन गए और उनमें पुरोहितों एवं दूसरे बहुत-से लोगों के रहने के लिए कमरों की व्यवस्था भी होती थी। आमतौर पर मंदिरों को अपने खर्च के लिए राजस्वमुक्त भूमि दान में मिल जाती थी। उन्हें सौदागरों से भी भारी-भारी दान मिलते थे। कुछ मंदिर तो इतने समृद्ध हो गए कि वे व्यापार करने, ऋण व्याज पर देने और व्यापारिक उद्यमों में भाग लेने लगे। वे कृषि के सुधार, तालाबों और कुओं की खुदाई आदि पर तथा सिंचाई की नालियों की व्यवस्था पर भी धन खर्च करते थे।

मंदिर-निर्माण कला की द्रविड़ शैली का एक आरंभिक उदाहरण कांचीपुरम में आठवीं सदी का कैलाशनाथ मंदिर है, लेकिन इस शैली के सबसे सुंदर और सुसज्जित उदाहरणों में एक है तंजावुर का बृहदीश्वर मंदिर जिसे राजराज प्रथम ने बनवाया था। इसे राजेश्वर मंदिर भी कहते हैं क्योंकि मंदिरों के दालानों में राजाओं और रानियों की मूर्तियाँ लगाना चोलों का कायदा था। गंगईकोंडचोलपुरम का मंदिर टूटी-फूटी हालत में है, पर वह चोल काल की मंदिर-निर्माण कला का एक और सुंदर उदाहरण है। दक्षिण भारत के अन्य स्थानों पर भी बड़ी संख्या में मंदिर बनवाए गए, लेकिन यह बात याद रखनी चाहिए कि इनमें से कुछ गतिविधियों के लिए धनराशियाँ चोल द्वारा पड़ोसी क्षेत्रों की जनता को लूटकर प्राप्त की गई थी।

चोलों के पतन के बाद कल्याणी के चालुक्यों ने और होयसलों ने मंदिर-निर्माण का काम जारी रखा। धारवाड़ जिला और होयसल राजधानी हालेबिड में मंदिर बड़ी संख्या में हैं। इनमें सबसे शानदार मंदिर होयसलेश्वर मंदिर है जिसे चालुक्य शैली कहा जाता है। यह उस शैली का सबसे अच्छा उदाहरण है। देवताओं और उनके स्त्री-पुरुष (यक्षों और यक्षिणियों) की मूर्तियों के अलावा इन मंदिरों में सुंदर नक्काशी वाली पट्टिकाएँ हैं जो एक व्यस्त जीवन का परिदृश्य प्रस्तुत करती हैं, जैसे नृत्य, संगीत तथा युद्ध और प्रेम के दृश्य। इस तरह जीवन धर्म से गहराई से जुड़ा था। आम आदमी के लिए मंदिर मात्र पूजास्थान ही नहीं, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का केंद्र भी था।

इस काल में दक्षिण भारत में मूर्तिकला का स्तर बहुत ऊपर उठा। इसका एक उदाहरण श्रवणबेलगोला में गोमटेश्वर की विशालकाय प्रतिमा है। मूर्तिकला का एक और पहलू छवि-निर्माण था जो शिव की नृत्यमुद्रा के रूप में, जिसे नटराज कहते हैं, अपने चरम पर जा पहुँचा। इस काल के नटराज की मूर्तियाँ, खासकर वे जो काँसे की बनी होती हैं, सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं भारतीय और विदेशी संग्रहालयों में इसके अनेक सुंदर नमूने देखने को मिलते हैं।

इस काल में विभिन्न राजवंशों के राजाओं ने कला और साहित्य को भी संरक्षण दिया। संस्कृति को उच्च संस्कृति की भाषा माना जाता था तथा अनेक राजा, विद्वान और दरबारी कवि उसमें रचनाएँ करते थे। फिर भी इस क्षेत्र की भाषाओं में साहित्य का विकास इस काल की एक उल्लेखनीय विशेषता थी। तमिल प्रदेश में छठी और नवीं सदियों

नोट

के बीच नयनार और अलवार कहलाने वाले अनेक लोकप्रिय संत हुए जो क्रमशः शिव और विष्णु के उपासक थे। बारहवीं सदी के आरंभिक भाग में इन संतों की रचनाओं को *तिरुमुराई* नाम से ग्यारह जिल्लों में संकलित किया गया। इसे पवित्र माना जाता है और पाँचवाँ वेद समझा जाता है। कंबन को ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्ध और बारहवीं सदी के आरंभिक भाग का कवि माना जाता है। इस काल को तमिल साहित्य का स्वर्ण युग कहा गया है। कंबन कृत *रामायण* को तमिल साहित्य का एक क्लासिक माना जाता है। ऐसा समझा जाता है कि कंबन एक चोल राजा के दरबार में रहते थे। दूसरे बहुत-से लोगों ने भी *रामायण* और *महाभारत* से विषय ग्रहण किए और इस तरह वे इन महाकाव्यों को जनता के और पास ले आए।

तमिल के बाद कन्नड़ इस काल में साहित्य की भाषा बनी। राष्ट्रकूट, चालुक्य और होयसल शासक कन्नड़ और तेलुगु दोनों को संरक्षण देते थे। राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष ने कन्नड़ में काव्यशास्त्र पर एक पुस्तक लिखी थी। कन्नड़ के विकास में अनेक जैन विद्वानों का भी योगदान रहा। पंपा, पोन्ना और रन्ना कन्नड़ काव्य के तीन रत्न माने जाते हैं। हालाँकि वे जैन धर्म से प्रभावित थे, पर उन्होंने *रामायण* और *महाभारत* से लिए गए विषयों पर भी लिखा है। ननैया ने, जो एक चालुक्य राजा के दरबार में था, तेलुगू में *महाभारत* की रचना आरंभ की। उनके शुरू किए काम को तेरहवीं सदी में टिकन्ना ने पूरा किया। तमिल *रामायण* की तरह तेलुगू *महाभारत* भी एक क्लासिक रचना है जिसने बाद के अनेक लेखकों को प्रेरित किया। अनेक लोक-विषय भी मिलते हैं जो संस्कृत पर आधारित नहीं हैं तथा जनता की भावनाओं और अनुभूतियों को प्रतिबिंबित करते हैं। उन्हें तेलुगू में 'देसी' अर्थात् ग्राम्य कहा जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि आठवीं से बारहवीं सदी तक का काल दक्षिण भारत में क्षेत्रीय राज्यों के विकास और क्षेत्रीय एकीकरण का ही काल नहीं था, बल्कि यह सांस्कृतिक विकास तथा व्यापार, वाणिज्य और कृषि के विकास का भी काल था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें

(State whether the following statements are True/False)–

9. चोल काल में वास्तुकला की जो शैली प्रचलित हुई उसे द्रविड़ कहा जाता है।
10. पल्लव काल को तमिल साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है।
11. कंबन होयसल शासक के दरबार में रहता था।
12. तमिल रामायण की तरह तेलुगु महाभारत भी एक क्लासिक रचना है।

8.5 सारांश (Summary)

- दक्षिण भारत में छठी और आठवीं सदियों के बीच बहुत-से शक्तिशाली साम्राज्यों का उदय हुआ।
- चोल साम्राज्य का उदय नवीं सदी में हुआ। उसने प्रायद्वीप के एक बड़े भाग को अपने अधीन कर लिया। चोलों ने एक शक्तिशाली नौसेना का विकास किया जिसके बल पर उन्होंने श्रीलंका और मालदीव के द्वीपों को जीता। चोल साम्राज्य का संस्थापक विजयालय था जो पहले पल्लवों का सामंत रह चुका था।
- चोल राजाओं में सबसे महान राजराज (985-1014) और उसका पुत्र राजेंद्र प्रथम (1014-1044) थे। राजराज ने कावेरी के कछार (डेल्टा) समेत पूरे तमिल क्षेत्र को एक शक्तिशाली राज्य में एकजुट किया और उसके प्रभाव को उत्तर में स्थित कलिंग या उड़ीसा तक फैलाया।
- राजराज और राजेंद्र प्रथम ने अपनी विजय की पहचान के रूप में विभिन्न स्थानों पर शिव और विष्णु के अनेक मंदिर बनवाए। इनमें सबसे प्रसिद्ध तंजावुर का राजराजेश्वर मंदिर था जो 1010 में पूरा हुआ।
- चोल राजाओं ने राजमार्गों का एक जाल बिछा दिया जो व्यापार के लिए उपयोगी था और सेना की गति के लिए भी। चोल साम्राज्य में व्यापार और वाणिज्य का विकास हुआ तथा कुछ ऐसे विशालकाय व्यापार संघों (गिल्डों) का उदय हुआ जो जावा और सुमात्रा से व्यापार करते थे।

- दक्षिण में मंदिर-निर्माण की कला चोल राज्य में ही चरम पर पहुँची। इस काल में वास्तुकला की जो शैली प्रचलित हुई उसे द्रविड़ कहा जाता है, क्योंकि यह लगभग दक्षिण भारत तक ही सीमित है।

नोट

8.6 शब्दकोश (Keywords)

- नाडु**—इसमें अनेक गाँव होते थे जिनके बीच नातेदारी का घनिष्ठ संबंध होता था।
- अग्रहार**—जीविका हेतु ब्राह्मणों को मिलने वाला अन्नदान या भूदान।

8.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

- चोल साम्राज्य का उदय कब हुआ? चोल राजा राजेन्द्र प्रथम के समय का विस्तार से वर्णन करें।
- चोल साम्राज्य की विशेषता या महत्ता का वर्णन करें।
- ‘चोल शासन, स्थानीय स्वशासन था’ इस कथन को स्पष्ट करें।
- चोल साम्राज्य में हुए भक्ति आंदोलन या स्थापत्य कला के विकास की विवेचना करें।
- चोल साम्राज्य के सांस्कृतिक जीवन का विश्लेषण करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|---------------|--------------|------------|--------------|
| 1. नौसेनाएँ | 2. नौवीं | 3. विजयालय | 4. राजराज |
| 5. (ख) काबेरी | 6. (क) विशाल | 7. (ख) चार | 8. (ग) सुंदर |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. असत्य | 12. सत्य। |

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

- प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
- 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
- औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
- मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
- सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।

नोट

इकाई-9: दिल्ली सल्तनत के राज्य (State Under Delhi Sultanate)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 9.1 सल्तनत काल में राज्य की प्रकृति (Nature of State in Sultanate Period)
- 9.2 सल्तनत काल में धार्मिक स्वतंत्रता (Religious Freedom in Sultanate Period)
- 9.3 सारांश (Summary)
- 9.4 शब्दकोश (Keywords)
- 9.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 9.6 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- सल्तनत काल में राज्य की प्रकृति को जानने में;
- सल्तनत काल में धार्मिक स्वतंत्रता को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

भारत में तुर्क राज्य सैन्यवादी और अभिजातवादी था। तुर्क अमीरों ने आरंभ में राज्य के उच्च पदों पर एकाधिकार पाने की कोशिश की तथा ताजिक, अफ़ग़ान और दूसरे गैर-तुर्क आब्रजकों को इससे बाहर रखा। तुग़लकों के काल में कुलीन वर्ग का आधार और व्यापक हुआ, पर कुलीन जन्मा होना ऊँचा पद पाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण तत्व बना रहा। इसलिए मुसलमानों के और हिंदुओं के विशाल बहुमत के लिए राज्य के ऊँचे पद पाने के अवसर कम ही थे। नगरवासी मुसलमानों के लिए सेना में भरती होने और सरकारी नौकरी पाने के अवसर निश्चित ही अधिक थे। व्यापार पर हिंदुओं का वर्चस्व था और ग्रामीण अभिजात भी वही थे। प्रशासन के निचले स्तरों पर भी हिंदू ही छाए हुए थे, जिनके सहयोग के बिना राज्य का काम चल ही नहीं सकता था। इस तरह ग्रामीण हिंदू अभिजातों और नगर-केंद्रित प्रशासकों के बीच सत्ता में एक अनकही भागीदारी दिल्ली सल्तनत के लिए सर्वोच्च महत्व का तत्व था, हालाँकि इन विभिन्न समूहों के बीच अक्सर टकराव होते रहते थे। इस संघर्ष को अक्सर एक धार्मिक रंग दे दिया जाता था, पर इसके बुनियादी कारण लौकिक हुआ करते थे, जैसे सत्ता और जमीन की लड़ाई या भूमि से पैदा अधिशेष (सरप्लस) में हिस्सेदारी की लड़ाई, क्योंकि उन दिनों ज़मीन आम तौर पर बेची नहीं जाती थी। इन उद्देश्यों से मुसलमान भी आपस में लड़ते रहते थे।

9.1 सल्तनत काल में राज्य की प्रकृति (Nature of State in Sultanate Period)

नोट

राज्य औपचारिक अर्थ में इस्लामी था। सुल्तान राज्य के मुस्लिम चरित्र पर जोर देने तथा जहाँ तक हो सके शरीअत का पालन करने में दिलचस्पी रखते थे। इसका मतलब यह भी था कि शरीअत की किसी खुली अवज्ञा की अनुमति न दी जाए। सुल्तान राज्य के लाभदायक पदों पर उलेमा को नियुक्त करते थे तथा उनमें से बहुतों को वे राजस्व-मुक्त भूमि दान में देते थे। लेकिन सुल्तान उलेमा को राज्य की नीति में दखल देने की अनुमति नहीं देते थे। ऐसी जानकारी मिलती है कि इल्तुतमिश के शासनकाल में उलेमा के एक दल ने सुल्तान से मिलकर शरीअत को सख्ती से लागू करने की माँग की और यह भी कि हिंदुओं को केवल इस्लाम या मौत में से किसी एक को चुनने का विकल्प दिया जाए। सुल्तान की ओर से उसके वजीर ने उन धर्मशास्त्रियों से कहा कि यह असंभव है और राजनीतिक दृष्टिकोण से गलत भी, क्योंकि (संख्या के हिसाब से) मुसलमान तो बस दाल में नमक के बराबर हैं।



नोट्स सुल्तान को शरीअत के पूरक के रूप में अपने नियम-कायदे (जवाबित) बनाने पड़ते थे। अलाउद्दीन खलजी ने नगर के मुख्य काज़ी से कहा था कि मुझे नहीं पता कि शरीअत अनुसार कानूनी क्या है और क्या गैर-कानूनी, मैं तो राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार कायदे बनाता हूँ।

यही कारण है कि इतिहासकार बरनी ने भारतीय राज्य को सच्चा इस्लामी राज्य न मानकर दुनियावी सोचों ('जहाँदारी') पर आधारित राज्य माना। रही हिंदू प्रजा को सिंध पर अरबों के आक्रमण के बाद से ही उसे ज़िम्मी अर्थात् संरक्षित प्रजा का दर्जा दिया गया था, अर्थात् ऐसे लोगों का जो मुस्लिम शासन को स्वीकार करके जज़िया नामक कर देने के लिए तैयार हों। वास्तव में, यह सैन्य सेवा के बदले में लिया जाने वाला कर था और साधनों के आधार पर कम या अधिक मात्रा में लिया जाता था। स्त्रियाँ, बच्चे तथा साधनहीन और विपन्न लोग इससे मुक्त थे। ब्राह्मण भी इससे मुक्त रहे, हालाँकि शरीअत में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। आरंभ में जज़िया मालगुजारी के साथ वसूला जाता था। वास्तव में जज़िया और मालगुजारी में अंतर करना कठिन भी था, क्योंकि सभी किसान हिंदू थे। बाद में अनेक गैर-कानूनी वसूलियों का उन्मूलन करते समय फ़िरोज ने इसे एक अलग कर बना दिया। उसने इसे ब्राह्मणों पर भी लागू किया। कभी-कभी इसकी वसूली के लिए ज़िम्मेदार उलेमा हिंदुओं को अपमानित और परेशान करने के लिए इसका इस्तेमाल करते थे। लेकिन अपने-आप में जज़िया हिंदुओं को इस्लाम अपनाने पर मजबूर करने का साधन नहीं हो सकता था। सामान्यतः ऐसा कहा जा सकता है कि मध्यकालीन राज्य समानता के विचार पर नहीं, विशेषाधिकार की धारणा पर आधारित होते थे। तुर्कों से पहले राजपूत, और कुछ सीमा तक ब्राह्मण, विशेषाधिकार-संपन्न समूह थे। उनकी जगह तुर्कों ने ले ली। बाद में तुर्क और दूसरे समूह विशेषाधिकार-संपन्न बन गए। इनमें ईरानी, अफ़ग़ान और थोड़े-से भारतीय मुसलमान शामिल थे। मुस्लिम धर्मशास्त्री भी इसी विशेषाधिकार-संपन्न समूह के अंग थे। हिंदुओं का जो विशाल बहुमत पहले भी विशेषाधिकार-संपन्न समूह में शामिल नहीं था, उसका दैनिक जीवन इस परिवर्तन से प्रभावित नहीं हुआ और पहले की तरह जारी रहा। इस तरह इस्लामी होने का दावा करके भी राज्य का चरित्र सैन्यवादी और अभिजातवादी रहा और सैन्यप्रमुखों का एक छोटा-सा गुट उस पर हावी रहा। यह गुट सुल्तान के नेतृत्व और नियंत्रण में था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the Blanks)–

1. भारत में तुर्क राज्य और अभिजातवादी था।
2. सुल्तान राज्य के लाभदायक पदों पर को नियुक्त करते थे।
3. को शरीयत के पूरक के रूप में अपने नियम-कायदे बनाने पड़ते थे।
4. आरंभ में मालगुजारी के साथ वसूला जाता था।

नोट

9.2 सल्तनत काल में धार्मिक स्वतंत्रता (Religious Freedom in Sultanate Period)

दिल्ली सल्तनत में गैर-मुसलमानों को प्राप्त धार्मिक स्वतंत्रता को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए। विजय के आरंभिक चरण में अनेक नगर तबाह कर दिए गए। मंदिर आक्रमणकारियों के खास लक्ष्य होते थे, अंशतः विजय को उचित ठहराने के लिए तथा अंशतः उनमें मौजूद अकूत संपत्ति पर कब्जा करने के लिए। इस काल में अनेक हिंदू मंदिरों को मस्जिदों में बदल दिया गया।



उदाहरण इनमें सबसे उल्लेखनीय उदाहरण दिल्ली में कुतुबमीनार के पास स्थित कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद का है। पहले यह एक विष्णु मंदिर था। उसे मस्जिद में बदलने के लिए उसके गर्भगृह को नष्ट कर दिया गया जहाँ देवता की मूर्ति थी, उसके सामने मेहराबों का एक पर्दा खड़ा कर दिया गया और उन पर कुरान की आयतें दर्ज कर दी गईं।

दालान के चारों ओर एक उपासना घर बनाने के लिए अनेक मंदिरों के खंभों का उपयोग किया गया। दालान कमोबेश यथावत रहा। ऐसा दूसरे बहुत-से स्थानों में किया गया, जैसे अजमेर में। लेकिन जब तुर्कों के पाँव जम गए तो वे अपनी मस्जिदें बनाने लगे। हिंदुओं, जैनियों आदि के मंदिरों और पूजास्थलों के प्रति उनकी नीति शरीअत पर आधारित थी जिसमें 'इस्लाम के विरोध में' नए पूजास्थल बनाने पर प्रतिबंध था। लेकिन शरीअत में पुराने मंदिरों की मरम्मत की छूट थी, 'क्योंकि इमारतें हमेशा के लिए कायम नहीं रह सकतीं'।

इसका मतलब यह था कि गाँवों में मंदिर बनाने पर कोई प्रतिबंध नहीं था क्योंकि वहाँ इस्लाम के अनुयायी थे ही नहीं। इसी तरह घरों के अंदर मंदिर बनाए जा सकते थे। पर युद्ध के समय इस सीमित सहिष्णुता की इस नीति पर अमल नहीं किया जाता था। तब इस्लाम के विरोधियों से लड़ना और उन्हें नष्ट करना पड़ता था, चाहे वे मनुष्य हों या देवता।

शांति-काल में तुर्क प्रशासनिक क्षेत्रों में और उन क्षेत्रों में जहाँ राजाओं ने मुस्लिम शासन की अधीनता मान ली थी, हिंदू खुलकर बल्कि तड़क-भड़क के साथ, अपने धर्म का पालन करते थे। बरनी के अनुसार जलालुद्दीन खलजी ने राजधानी और सूबों के मुख्यालयों तक में मूर्तियों की सार्वजनिक पूजा होते तथा हिंदू ग्रंथों का सार्वजनिक पाठ होते देखा था। उसने कहा था, 'शाही महल की दीवार के नीचे हिंदू नाचते-गाते, ढोल बजाते हुए यमुना में विसर्जन के लिए मूर्तियों को जुलूस से लेकर निकलते हैं और मैं देखता रह जाता हूँ।'

रूढ़िवादी धर्मशास्त्रियों के एक वर्ग के दबाव और कुछ सुल्तानों और उनके समर्थकों के तंग दृष्टिकोण के बावजूद 'सीमा के अंदर सहिष्णुता' की यह नीति सल्तनत काल में जारी रही, हालाँकि कभी-कभी इसमें विचलन भी आते थे। कभी-कभी युद्धबंदियों को मुस्लिम बना लिया जाता था और अपराधी इस्लाम स्वीकार कर लेते थे तो उन्हें दंड से मुक्त कर दिया था। फ़िरोज़ ने एक ब्राह्मण को पैगंबर-इस्लाम की निंदा के आरोप में मृत्युदंड दिया था।



सावधानी

इस्लाम का प्रचार तलवार के बल पर नहीं किया गया। अगर ऐसा होता तो दिल्ली अंचल की हिंदू आबादी का सबसे पहले धर्मांतरण होता। मुस्लिम शासकों ने मान लिया था कि हिंदू धर्म इतना प्रबल है कि उसे ताकत से नष्ट नहीं किया जा सकता।

दिल्ली के प्रसिद्ध सूफी संत शेख निजामुद्दीन औलिया ने कहा था, 'कुछ हिंदू जानते हैं कि इस्लाम सच्चा धर्म है, पर वे इस्लाम कबूल नहीं करते।' बरनी का भी कहना है कि हिंदुओं के खिलाफ बल-प्रयोग का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इस्लाम में धर्मांतरण का कारण राजनीतिक या आर्थिक लाभ पाने की आशा या अपनी सामाजिक स्थिति में सुधार की संभावना थी। कभी एक महत्वपूर्ण शासक या कबीले का सरदार धर्म बदलता तो उसकी प्रजा उसका अनुकरण करती थी। पश्चिमी पंजाब, कश्मीर की वादी, पूर्वी बंगाल आदि कुछ क्षेत्रों में जहाँ आदिवासी जनता को कृषक बनने

नोट

के लिए प्रेरित किया गया, उन्होंने अपने पिछले विश्वासों को छोड़कर शासक तत्वों की आस्था को, इस उदाहरण में इस्लाम को, अपना लिया। नगरों में तुर्कों के लिए हुए हस्तशिल्पों को अपनाने वाले या शासक वर्ग के संरक्षण पर निर्भर अनेक दस्तकारों ने इस्लाम अपना लिया, मसलन बुनकरों, लुहारों, कागज बनानेवालों आदि ने। कुछ भूमिका सूफी संतों की भी रही, हालाँकि आम तौर पर वे धर्म-प्रसार की चिंता नहीं करते थे और अपने प्रवचनों में हिंदू-मुसलमान दोनों का स्वागत करते थे। सूफी संतों के संत-सुलभ चरित्र ने इस्लाम के लिए एक अनुकूल वातावरण पैदा किया। पर इसका कोई प्रमाण नहीं है कि निचली जातियों के बहुत-से व्यक्तियों ने हिंदू समाज में व्याप्त भेदभाव के कारण या सूफी संतों के प्रभाववश इस्लाम को अपनाया। इस तरह धर्म-परिवर्तन के निजी, राजनीतिक और कुछ मामलों में (जैसे पंजाब, पूर्वी बंगाल आदि के संबंध में) क्षेत्रीय कारण थे।

पश्चिम एशिया पर मंगोल आक्रमण के बाद प्रमुख मुस्लिम परिवारों के अनेक व्यक्ति भागकर भारत आ गए। भारत में अफ़ग़ानों का आना भी बराबर लगा रहा। उनमें से अनेक तुर्क सेनाओं में भरती हो गए या व्यापार में लग गए। तेरहवीं सदी में लोदी शासन में अफ़ग़ानों का एक रेला और आया। इसके बावजूद भारत में मुसलमानों की संख्या अपेक्षाकृत कम रही। इसी स्थिति में हिंदू-मुस्लिम संबंधों की प्रकृति का और दोनों के सांस्कृतिक रवैयों का निर्धारण हुआ।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें

(State whether the following statements are True/False)–

5. मुसलमान आक्रमणकारियों के खास लक्ष्य, मंदिर होते थे।
6. गाँवों में मंदिर बनाने पर कोई प्रतिबंध नहीं था क्योंकि वहाँ इस्लाम के अनुयायी थे ही नहीं।
7. राज्य औपचारिक अर्थ में इस्लामी नहीं था।
8. हिन्दू प्रजा को जिम्मी प्रजा का दर्जा दिया गया था।

9.3 सारांश (Summary)

- भारत में तुर्क राज्य सैन्यवादी और अभिजातवादी था। तुर्क अमीरों ने आरंभ में राज्य के उच्च पदों पर एकाधिकार पाने की कोशिश की तथा ताजिक, अफ़ग़ान और दूसरे गैर-तुर्क आब्रजकों को इससे बाहर रखा।
- नगरवासी मुसलमानों के लिए सेना में भरती होने और सरकारी नौकरी पाने के अवसर निश्चित ही अधिक थे। व्यापार पर हिंदुओं का वर्चस्व था और ग्रामीण अभिजात भी वही थे। प्रशासन के निचले स्तरों पर भी हिंदू ही छाए हुए थे, जिनके सहयोग के बिना राज्य का काम चल ही नहीं सकता था।
- राज्य औपचारिक अर्थ में इस्लामी था। सुल्तान राज्य के मुस्लिम चरित्र पर जोर देने तथा जहाँ तक हो सके शरीअत का पालन करने में दिलचस्पी रखते थे।
- हिंदू प्रजा को सिंध पर अरबों के आक्रमण के बाद से ही उसे जिम्मी अर्थात् संरक्षित प्रजा का दर्जा दिया गया था, अर्थात् ऐसे लोगों का जो मुस्लिम शासन को स्वीकार करके जज़िया नामक कर देने के लिए तैयार हों।
- विजय के आरंभिक चरण में अनेक नगर तबाह कर दिए गए। मंदिर आक्रमणकारियों के खास लक्ष्य होते थे, उनमें मौजूद अकूत संपत्ति पर कब्जा करने के लिए। इस काल में अनेक हिंदू मंदिरों को मस्जिदों में बदल दिया गया।
- पूजास्थलों के प्रति उनकी नीति शरीअत पर आधारित थी जिसमें 'इस्लाम के विरोध में' नए पूजास्थल बनाने पर प्रतिबंध था।

नोट

9.4 शब्दकोश (Keywords)

- उलेमा—मुसलमान जाति के पंडित, विद्वान लोग।
- शरीयत—मुसलमानों का मजहबी कानून।

9.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. सल्तनत काल के राज्यों की प्रकृति का वर्णन करें।
2. सल्तनत काल में गैर-मुसलमानों को प्राप्त धार्मिक स्वतंत्रता की विवेचना करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|--------------|----------|------------|----------|
| 1. सैन्यवादी | 2. उलेमा | 3. सुल्तान | 4. जजिया |
| 5. सत्य | 6. सत्य | 7. असत्य | 8. सत्य। |

9.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
2. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
3. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
4. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
5. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
6. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-10: विजयनगर और बहमनी काल (Vijaynagar and Bahamani Period)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

10.1 विजयनगर साम्राज्य की स्थापना और बहमनी साम्राज्य के साथ टकराव

(Establishment of Vijaynagar Empire and Conflict with Bahamani Empire)

10.2 बहमनी साम्राज्य का प्रसार और विघटन (Expansion and Decline of Bahamani Empire)

10.3 महमूद गाँवा (Mahamood Gawan)

10.4 विजयनगर साम्राज्य का उत्कर्ष और विघटन (Rise and Decline of Vijaynagar Empire)

10.5 सारांश (Summary)

10.6 शब्दकोश (Keywords)

10.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

10.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- विजयनगर साम्राज्य की स्थापना और बहमनी साम्राज्य के साथ टकराव को जानने में;
- महमूद गाँवा को जानने में;
- विजयनगर साम्राज्य का चरमोत्कर्ष एवं विघटन को जानने में;
- पुर्तगालियों का आगमन, व्यापार, समाज एवं राजनीति पर इनके प्रभाव को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

जहाँ विघटन की शक्तियाँ धीरे-धीरे उत्तर भारत को ग्रस्त कर रही थीं, वहीं दक्षिण भारत और दक्कन में स्थिर सरकारों का एक लंबा दौर चला। भारत के विंध्याचल से दक्षिण भूभाग पर दो सौ वर्षों से अधिक समय तक विजयनगर और बहमनी साम्राज्यों का वर्चस्व रहा। उन्होंने न सिर्फ़ शानदार राजधानियों और नगरों को बसाया और उन्हें अनेक भव्य भवनों से सजाया तथा कला और साहित्य को आगे बढ़ाया, बल्कि कानून और व्यवस्था का भी ध्यान रखा। वाणिज्य एवं दस्तकारियों का विकास भी हुआ।

इस दौर का अंत पंद्रहवीं सदी के अंतिम भाग में बहमनी साम्राज्य के विघटन तथा पचास वर्ष से अधिक समय बाद बन्नीहट्टी के युद्ध में 1565 में पराजय के बाद विजयनगर साम्राज्य के विघटन के साथ हुआ। इस बीच पहले तो

नोट

दक्षिण भारत में पुर्तगालियों के आगमन के कारण और भारतीय सागरों पर उनके वर्चस्व जमाने की कोशिशों के कारण और दूसरे, उत्तर भारत में मुगलों के आगमन के कारण भारत का परिदृश्य ही बदल गया। मुगलों के आगमन के साथ उत्तर भारत के एकीकरण के एक और दौर के लिए ज़मीन तैयार हुई तथा भू-आधारित एशियाई शक्तियों और समुद्र पर वर्चस्व रखने वाली यूरोपीय शक्तियों के बीच टकराव का एक लंबा दौर शुरू हुआ।

10.1 विजयनगर साम्राज्य की स्थापना और बहमनी साम्राज्य के साथ टकराव (Establishment of Vijaynagar Empire and Conflict with Bahamani Empire)

विजयनगर साम्राज्य की स्थापना हरिहर और बुक्का ने की, जो पाँच भाइयों के परिवार के अंग थे। एक कथा के अनुसार वे पहले तो वारंगल के काकितियों के सामंत रहे और फिर आधुनिक कर्नाटक में स्थित कंपिली राज्य में मंत्री रहे। एक मुस्लिम विद्रोही को शरण देने के कारण जब कंपिली को मुहम्मद तुगलक ने रौंद डाला तब ये दोनों भाई कैद हुए, उन्होंने इस्लाम अपनाया और विद्रोहों से निबटने के लिए वहाँ नियुक्त किए गए। मदुरै का मुस्लिम सूबेदार पहले ही अपने को स्वतंत्र घोषित कर चुका था तथा मैसूर का होयसला शासक और वारंगल का शासक भी स्वतंत्र होने का प्रयत्न कर रहे थे। शीघ्र ही हरिहर और बुक्का ने अपने नए मालिकों को और उनके धर्म को त्याग दिया। अपने गुरु विद्यारण्य के निर्देश पर वे फिर से हिंदू धर्म में शामिल किए गए और उन्होंने विजयनगर को अपनी राजधानी बनाया। कुछ आधुनिक विद्वान इस्लाम में दीक्षा की इस कथा को स्वीकार नहीं करते, बल्कि उनकी गिनती कर्नाटक के उन नायकों में करते हैं जिन्होंने तुर्क शासन के खिलाफ विद्रोह किया।

हरिहर के राजतिलक को 1336 की घटना बताया जाता है। पहले तो मैसूर के होयसला शासक और मदुरै के सुल्तान, दोनों से इस नए राज्य को टकराना पड़ा। मदुरै का सुल्तान बहुत महत्वाकांक्षी था। उसने होयसला शासक को हराया तथा बर्बर ढंग से उसे मार डाला। होयसला राज्य के विघटन का लाभ उठाकर हरिहर और बुक्का ने अपने रजवाड़े को फैला दिया। 1346 तक पूरा होयसला राज्य विजयनगर के शासकों के हाथों में आ चुका था। इस संघर्ष में हरिहर और बुक्का की सहायता उनके भाइयों और संबंधियों ने की, जिन्होंने विजित प्रदेशों का प्रशासन सँभाल लिया। इस तरह विजयनगर साम्राज्य आरंभ में एक तरह की सहकारी राज्यव्यवस्था थी। 1356 में बुक्का अपने भाई की मौत के बाद विजयनगर की गद्दी पर बैठा और 1377 तक शासन करता रहा।

विजयनगर साम्राज्य की बढ़ती शक्ति के चलते दक्षिण में और उत्तर में भी अनेक शक्तियों के साथ उसका टकराव हुआ। दक्षिण में मदुरै के सुल्तान उसके प्रमुख प्रतिद्वंद्वी थे। विजयनगर और मदुरै के सुल्तानों का संघर्ष लगभग चार दशकों तक चला। 1377 तक मदुरै की सल्तनत का सफ़ाया हो चुका था। इस समय रामेश्वरम तक पूरा दक्षिण भारत विजयनगर साम्राज्य में शामिल था। इसमें तमिल प्रदेश तथा चेरों के (केरल) प्रदेश भी शामिल थे। लेकिन उत्तर में विजयनगर का सामना बहमनी साम्राज्य के रूप में एक शक्तिशाली शत्रु से हुआ। बहमनी साम्राज्य 1347 में अस्तित्व में आया। एक अफ़ग़ान दुस्साहसी अलाउद्दीन हसन उसका संस्थापक था। वह गंगू नामक एक ब्राह्मण की सेवा में रहकर ऊपर उठा था और इसलिए हसन गंगू भी कहलाता था। सत्ता सँभालने के बाद उसने अलाउद्दीन हसन बहमन शाह की उपाधि ग्रहण की। कहते हैं कि वह अपने को ईरान के एक अर्ध-पौराणिक नायक बहमन शाह का वंशज बतलाता था। लेकिन फ़िरिश्ता द्वारा दर्ज एक लोककथा के अनुसार, बहमन शाह नाम धारण करने का उद्देश्य अपना ब्राह्मण संरक्षण के प्रति श्रद्धा दिखाना था। जो भी हो, इसी खिताब के आधार पर इस साम्राज्य को बहमनी साम्राज्य कहा गया।

विजयनगर के राजाओं और बहमनी के सुल्तानों के हित तीन अलग-अलग क्षेत्रों में आपस में टकराते थे—तुंगभद्रा के दोआब में, कृष्णा-गोदावरी के कच्छ में और मराठवाड़ा प्रदेश में। तुंगभद्रा का दोआब कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के बीच का क्षेत्र था और इसका क्षेत्रफल 30,000 वर्ग मील था। अपनी संपदा और आर्थिक संसाधनों के कारण यह पहले पश्चिमी चालुक्यों और चोलों के बीच तथा बाद में यादवों और होयसलों के बीच टकराव का कारण रह चुका था।

नोट



नोट्स कृष्णा-गोदावरी की वादी बहुत उपजाऊ थी तथा इसके अनेक बंदरगाह इस क्षेत्र के विदेशी व्यापार को नियंत्रित करते थे। इस वादी पर अधिकार पाने के संघर्ष को अक्सर तुंगभद्रा दोआब के संघर्ष से जोड़ा गया है।

मराठा प्रदेश में प्रमुख विवाद कोंकण और उसकी ओर जाने के क्षेत्रों पर नियंत्रण से संबंधित था। कोंकण पश्चिमी घाट और समुद्र के बीच की एक सँकरी-सी पट्टी है। यह अत्यंत उपजाऊ था तथा इसमें गोवा का बंदरगाह भी आता था जो इस क्षेत्र की पैदावारी की निकासी का एक महत्वपूर्ण रास्ता था तथा ईरान और इराक से घोड़ों के आयात का भी। जैसा कि कहा गया है, उम्दा नस्ल के घोड़े भारत में नहीं मिलते थे। इस तरह गोवा के रास्ते घोड़ों का आयात दक्षिणी राज्यों के लिए भारी महत्व रखता था।

विजयनगर और बहमनी साम्राज्यों के टकराव लगभग नियमित घटना थी और ये तब तक जारी रहे जब तक ये साम्राज्य बने रहे। इन सैनिक टकरावों के कारण विवादित क्षेत्रों और पड़ोस के क्षेत्रों में भारी तबाही मचती थी तथा जान-माल की अच्छी-खासी हानि होती थी। दोनों पक्ष गाँवों एवं नगरों को रौंदते और जलाते थे। स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों को कैद करके गुलामों की तरह बेचते थे तथा दूसरी बहुत-सी बर्बरताएँ करते थे।



उदाहरण 1367 में बुक्का प्रथम ने विवादित तुंगभद्रा दोआब में मुद्कल किले पर हमला किया तो उसने एक आदमी को छोड़ पूरी छावनी को मौत के घाट उतार दिया।

यह खबर जब बहमनी के सुल्तान को मिली तो वह आग-बबूला हो उठा और कूच करने के दौरान उसने कसम खाई कि जब तक बदले के तौर पर एक लाख हिंदुओं को मौत की नींद नहीं सुलाएगा, वह तलवार को म्यान में नहीं रखेगा। उसने बरसाती मौसम और विजयनगर की सेनाओं के प्रतिरोध के बावजूद तुंगभद्रा को पार किया। यह पहला अवसर था जब किसी बहमनी सुल्तान ने स्वयं विजयनगर के क्षेत्र में कदम रखा हो। युद्ध में विजयनगर का राजा हारा और भागकर जंगलों में चला गया। इस जंग के दौरान हमें दोनों पक्षों द्वारा पहली बार तोपों के इस्तेमाल की बात सुनाई पड़ती है। बहमनी सुल्तान की विजय का श्रेय उसके बेहतर तोपखाने और अधिक कारगर सवार सेना को जाता है। यह युद्ध महीनों तक खिंचा, पर बहमनी सुल्तान न तो राजा को पकड़ सका न उसकी राजधानी पर कब्जा जमा सका। इस बीच पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का बड़ी मात्रा में वध जारी रहा। अंततः दोनों पक्ष निढाल हो गए और उन्होंने संधि करने का निर्णय किया। इस संधि ने पुरानी स्थिति बहाल की और दोआब दोनों के बीच बाँट दिया गया। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह तय हुई कि चूँकि दोनों राज्य लंबे समय तक पड़ोसी रहेंगे, इसलिए बेहतर यही होगा कि युद्ध के दौरान बेरहमी न बरती जाए। इसलिए निश्चय हुआ कि आगे के युद्धों में असहाय और निहत्थे निवासियों का वध न किया जाए। यह समझौता पूरी तरह लागू तो नहीं हुआ पर इसके कारण दक्षिण भारत के युद्धों में निर्मम जनसंहार की घटनाओं में कमी आई।

मदुरै की सल्तनत को समाप्त करके दक्षिण भारत में अपनी स्थिति मजबूत बनाने के बाद विजयनगर साम्राज्य ने हरिहर द्वितीय के काल (1377-1404) में पूर्वी तट की ओर प्रसार की नीति का आरंभ किया। इस क्षेत्र में अनेक रजवाड़े थे जिनमें सबसे उल्लेखनीय कृष्णा-गोदावरी कछार के ऊपरी भाग में रेड्डी तथा निचले भाग में वारंगल के शासक थे। उत्तर में उड़ीसा के शासकों और बहमनी सुल्तानों की भी इस क्षेत्र में दिलचस्पी थी। हालाँकि दिल्ली के खिलाफ संघर्ष में वारंगल के शासक ने हसन गंगू की सहायता की थी, लेकिन हसन के उत्तराधिकारी ने वारंगल पर हमला करके कोसल के दुर्ग और गोलकुंडा के पहाड़ी किले पर कब्जा कर लिया। विजयनगर का राजा दक्षिण में इतना व्यस्त था कि वह हस्तक्षेप न कर सका। बहमनी सुल्तान ने गोलकुंडा को अपनी सीमा करार दिया और वादा किया कि वह या उसके उत्तराधिकारी वारंगल में अब आगे अतिक्रमण नहीं करेंगे। इस समझौते को पक्का करने के लिए वारंगल के शासक ने बहमनी सुल्तान को एक मोती-माणिक जड़ा तख्त भेंट किया। कहते हैं कि इसे मूलतः मुहम्मद तुगलक को पेश करने के लिए बनवाया गया था। बहमनी सुल्तान और वारंगल का समझौता 50 वर्षों से

नोट

अधिक जारी रहा तथा यह तुंगभद्रा के दोआब पर कब्जा करने में विजयनगर की असमर्थता का या इस क्षेत्र में बहमनी आक्रमण को रोकने वाला प्रमुख कारण था।

मध्यकालीन लेखकों ने विजयनगर और बहमनी के युद्धों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। पर उनका हमारे लिए कोई अधिक ऐतिहासिक महत्व नहीं है। दोनों पक्षों की स्थिति कमोबेश अपरिवर्तित रही तथा युद्ध का पलड़ा कभी एक ओर तो कभी दूसरे की ओर झुकता रहा। बहमनी-वारंगल गठजोड़ के सामने भी हरिहर द्वितीय ने अपनी स्थिति बनाए रखी। बहमनी साम्राज्य से पश्चिम में स्थित बेलगाम और गोवा छीनना उसकी सबसे बड़ी सफलता थी। उसने उत्तरी श्रीलंका में भी एक मुहिम भेजी।

अनिश्चितता के एक काल के बाद देवराय प्रथम (1404-1422) हरिहर द्वितीय की मृत्यु के बाद सिंहासनारूढ़ हुआ। उसके शासन के आरंभकाल में तुंगभद्रा दोआब को लेकर फिर युद्ध हुआ। वह बहमनी सुल्तान फ़िरोज़शाह के हाथों हारा और उसे हर्जाने के रूप में दस लाख हूण, मोती-माणिक और हाथी देने पड़े। सभी भावी विवादों से बचने के लिए उसे सुल्तान से अपनी बेटी ब्याहने तथा दहेज में दोआब में स्थित बाँकापुर देने का वादा भी करना पड़ा। भारी तामझाम के साथ इस विवाह का जश्न मनाया गया। विवाह के लिए फ़िरोज़शाह बहमनी जब विजयनगर के पास पहुँचा तो देवराय नगर से बाहर आकर भारी शानो-शौकत के दिखावे के बीच उससे मिला। नगर के द्वार से महल तक, जो दस किलोमीटर की दूरी पर था, सड़क पर ज़री, मखमल, साटन और दूसरे कीमती कपड़े बिछाए गए थे। दोनों राजा नगर के चौक से घोड़ों पर सवार होकर साथ चले। जुलूस में देवराय के संबंधी भी शामिल हुए और दोनों राजाओं के आगे पैदल चलते रहे। यह जश्न तीन दिनों तक चलता रहा।

दक्षिण भारत में यह अपने ढंग का पहला राजनीतिक विवाह नहीं था। इससे पहले गोंडवाना क्षेत्र में खेड़ला का राजा शांति स्थापित करने के लिए फ़िरोज़शाह बहमनी से अपनी बेटी ब्याह चुका था। कहते हैं कि यह राजकुमारी फ़िरोज की खास चहेती पत्नी थी, पर ये विवाह अपने आप में शांति नहीं ला सकते थे। कृष्णा-गोदावरी वादी के सवाल पर विजयनगर, बहमनी साम्राज्य और उड़ीसा के बीच फिर टकराव हुआ। रेड्डी रजवाड़े में अफ़रातफ़री मच गई। उसके बँटवारे के मकसद से देवराय ने वारंगल के साथ गठजोड़ कर लिया। वारंगल का बहमनी साम्राज्य का साथ छोड़ने से दक्कन में शक्ति-संतुलन बदल गया। देवराय फ़िरोज़शाह बहमनी को करारी मात देने और कृष्णा नदी के मुहाने तक पूरे रेड्डी क्षेत्र को हथियाने में सफल रहा।

देवराय प्रथम ने शांतिकालीन कलाओं की उपेक्षा नहीं की। उसने तुंगभद्रा पर एक बाँध बनवाया ताकि जल की कमी दूर करने के लिए नगर में नहरें ला सके। इससे पास के खेतों की सिंचाई भी होने लगी, क्योंकि कहा गया है कि इन नहरों के कारण उसकी आय में 3,50,000 परादों की वृद्धि हुई। सिंचाई के लिए उसने हरिद्र नदी पर भी एक बाँध बनवाया।

कुछ अफ़रातफ़री के बाद विजयनगर की गद्दी पर देवराय द्वितीय (1425-1466) बैठा, जिसे इस वंश का सबसे महान शासक समझा जाता है। अपनी सेना को मजबूत बनाने के लिए उसने उसका पुनर्गठन किया और उसमें दिल्ली सल्तनत की सेनाओं की अनेक विशेषताओं को शामिल किया। **फ़िरिश्ता** के अनुसार देवराय द्वितीय को लगता था कि अधिक दमदार घोड़े और घुड़सवार तीरंदाजों की भारी संख्या बहमनी सेना की श्रेष्ठता के कारण हैं। इसलिए उसने 2000 मुसलमान भरती किए, उन्हें जागीरें दीं तथा अपने सभी हिंदू सैनिकों और अधिकारियों को उनसे घोड़े पर सवार होकर तीर चलाने की कला सीखने को कहा। विजयनगर सेना में मुसलमानों की भरती कोई नई बात नहीं थी। कहते हैं कि देवराय प्रथम की सेना में भी 10,000 मुसलमान थे। **फ़िरिश्ता** का कथन है कि देवराय द्वितीय ने 80,000 घुड़सवारों और दो लाख पियादों के अलावा तीर चलाने में कुशल 60,000 हिंदू भी जमा कर लिए। इन आँकड़ों में अतिशयोक्ति हो सकती है। लेकिन एक बड़े घुड़सवार दस्ते और स्थायी सेना के निर्माण ने विजयनगर साम्राज्य को दक्षिण में पहले के किसी भी हिंदू राज्य के मुकाबले अधिक केंद्रीकृत बना दिया, भले ही साम्राज्य के संसाधनों पर इसके कारण भारी दबाव पड़ा हो। कारण कि अधिकांशतः अच्छे घोड़ों का आयात किया जाता था और इस व्यापार को नियंत्रित करने वाले अरब उनसे भारी दाम वसूला करते थे।

अपनी नई सेना के साथ देवराय द्वितीय ने 1443 में तुंगभद्रा को पार किया और मुद्कल, बाँकापुर वगैरह को फिर से पाने का प्रयास किया जो कृष्णा नदी के दक्षिण में थे और बहमनी सुल्तानों के हाथों में जा चुके थे। तीन कड़ी लड़ाइयाँ लड़ी गईं, पर आखिरकार दोनों पक्षों को मौजूदा सीमाओं पर सहमत होना पड़ा।

नोट

सोलहवीं सदी के पुर्तगाली लेखक नूनीज़ का कहना है कि क्वीलोन, श्रीलंका, पुलिकट तथा (बर्मा और मलाया में) पेगू और तेन्नासेरीम के राजा देवराय द्वितीय को खिराज देते थे। विजयनगर के शासक सचमुच में क्या इतने शक्तिशाली थे कि पेगू और तेन्नासेरीम से नियमित रूप से खिराज वसूल सकें, इसमें संदेह है। कहने का आशय शायद यह रहा हो कि इन देशों के शासक विजयनगर के संपर्क में थे तथा उसकी सदिच्छा पाने के लिए उसे उपहार और दूत भेजते रहते थे। श्रीलंका पर अनेक आक्रमण अवश्य हुए। एक मजबूत नौसेना के बिना यह संभव नहीं था। योग्य शासकों की एक शृंखला के अंतर्गत विजयनगर पंद्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में दक्षिण का सबसे शक्तिशाली और समृद्ध राज्य बनकर उभरा। इतालवी यात्री **निकोलो कोन्ती** ने, जो 1420 में विजयनगर आया था, उसका एक सजीव वृत्तांत दिया है। वह कहता है, “नगर का घेरा 60 मील है, उसकी दीवारें पहाड़ों तक चली गई हैं और इन पहाड़ों की तराई में पहुँचकर उन्होंने घाटियों के गिर्द घेरा बना दिया है ... इस नगर में शस्त्र धारण करने योग्य नब्बे हजार लोगों के होने का अनुमान है। उनका राजा भारत के दूसरे सभी राजाओं से अधिक शक्तिशाली है।” **फ़िरिस्ता** का भी कथन है, “बहमनी घराने के शाहजादों ने केवल अपनी वीरता के बल पर अपनी श्रेष्ठता बनाए रखी क्योंकि शक्ति, संपत्ति और देश के विस्तार में बीजानगर (विजयनगर) के राय उनसे बहुत आगे हैं।”

फ़ारस का यात्री **अब्दुर्रज्जाक**, जिसने भारत में और बाहर दूर-दूर तक की यात्राएँ की थीं देवराय द्वितीय के काल में विजयनगर आया था। वह इस राज्य का एक प्रशंसापूर्ण विवरण पेश करता है। वह कहता है, “इस राजा के राज्य में 300 बंदरगाह हैं जिनमें से हर एक कालीकट के बराबर है, और उसका प्रादेशिक विस्तार इतना अधिक है कि थलमार्ग से उसकी यात्रा पूरी करने में तीन महीने लग जाते हैं।” सभी यात्रियों का कहना है कि इस प्रदेश की घनी आबादी थी तथा यहाँ अनेक नगर और गाँव थे। **अब्दुर्रज्जाक** के अनुसार, “देश के अधिकांश भाग अच्छी खेती वाले और उपजाऊ हैं। सैनिकों की संख्या ग्यारह लाख है।”

अब्दुर्रज्जाक ने विजयनगर को संसार के ऐसे किसी भी भाग के सबसे शानदार नगरों में एक माना है जिसे उसने देखा या सुना हो। नगर का वर्णन करते हुए वह कहता है, “इसे इस ढंग से बनाया गया है कि सात परकोटे और उतनी ही दीवारें एक दूसरे को घेरे हुए हैं। सातवाँ किला, जिसे दूसरों के केंद्र में रखा गया है, हेरात नगर के बाज़ार के दस गुने क्षेत्रफल में फैला हुआ है।” नगर की ओर से शुरू करने पर चार बाज़ार आते थे ‘जो बहुत लंबे और चौड़े’ थे। जैसा कि भारत का रिवाज था, एक जाति या पेशे के लोग नगर के एक विशेष भाग में रहते थे। लगता है मुसलमान उनके लिए सुलभ कराए गए अलग मुहल्लों में रहते थे। बाज़ारों में और राजा के महल में भी, ‘तराशकर पालिश किए गए चिकने पत्थरों से बने अनेक तालाब और नहरें दिखाई देती हैं।’ बाद का एक और यात्री कहता है कि यह नगर रोम से भी बड़ा था जो उन दिनों पश्चिमी जगत के सबसे बड़े नगरों में एक था।

विजयनगर के राजा बहुत ही संपत्तिशाली राजाओं के रूप में मशहूर थे। **अब्दुर्रज्जाक** ने इस कहावत का जिक्र किया है कि “राजा के महल में कोठरी जैसे अनेक कुंड हैं जो एक विशाल भंडार के रूप में सोने-चाँदी से भरे थे।”



सावधानी

एक शासक द्वारा धन का संचय एक प्राचीन परंपरा थी। पर इस तरह जमा किया गया धन परिचालन से बाहर रहता था और कभी-कभी आक्रांताओं को दावत देता था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the Blanks)–

- विजयनगर की स्थापना और बुक्का ने की।
- विजयनगर एवं मदुरै के सुल्तानों का लगभग चार दशकों तक चला।
- साम्राज्य 1347 में अस्तित्व में आया।
- तुंगभद्रा का दोआब, ... एवं तुंगभद्रा नदियों के बीच का क्षेत्र था।

नोट

10.2 बहमनी साम्राज्य का प्रसार और विघटन (Expansion and Decline of Bahamani Empire)

इस काल में बहमनी साम्राज्य का सबसे उल्लेखनीय व्यक्ति फ़िरोज़शाह बहमनी (1397-1422) था। वह धार्मिक ज्ञान से, अर्थात् कुरान की टीकाओं, इस्लामी कानून आदि से अच्छी तरह परिचित था और वनस्पतिशास्त्र ज्यामिति, तर्कशास्त्र आदि विज्ञानों का विशेष शौक रखता था। वह एक अच्छा कालिब और शायर था और अक्सर आशु-कविताएँ रचता था। फ़िरिश्ता के अनुसार वह फ़ारसी, अरबी और तुर्की में ही नहीं बल्कि तेलुगू, कन्नड़ और मराठी में भी सिद्धहस्त था। उसके हरम में विभिन्न देशों और क्षेत्रों की पत्नियों की एक बड़ी संख्या थी जिसमें अनेक हिंदु पत्नियाँ भी थीं। कहा गया है कि वह अपनी प्रत्येक पत्नी से उसी की भाषा में बातचीत करता था।

फ़िरोज़शाह बहमनी का संकल्प दक्कन को भारत की सांस्कृतिक राजधानी बनाने का था। दिल्ली सल्तनत के पतन ने उसकी सहायता की, क्योंकि अनेक विद्वान दिल्ली से दक्कन चले गए। सुल्तान ने ईरान और इराक के विद्वानों को भी प्रोत्साहन दिया। वह कहा करता था कि बादशाह को अपने इर्दगिर्द सभी राष्ट्रों के विद्वान व्यक्तियों और सज्जनों को जमा रखना चाहिए ताकि उनकी सोहबत से वह जानकारियाँ पाता रहे और इस तरह दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों की यात्रा से मिलने वाले कुल लाभ उसे मिलते रहें। वह आम तौर पर उलमा, शायरों, इतिहास सुनानेवालों तथा दरबारियों में सबसे विद्वान और हाज़िरजवाब लोगों की सोहबत में आधी रात तक का समय गुजारता था। उसने ओल्ड टेस्टामेंट और न्यू टेस्टामेंट दोनों पढ़ रखे थे और वह सभी धर्मों के मूलतत्वों का सम्मान करता था। उसे फ़िरिश्ता ने एक सच्चा मुसलमान कहा है जिसकी अकेली कमजोरी यह थी कि वह शराब पीने और संगीत सुनने का शौकीन था।

प्रशासन में बड़े पैमाने पर हिंदुओं की भरती फ़िरोज़शाह बहमनी का सबसे महत्वपूर्ण कदम था। कहते हैं कि उसी के समय से प्रशासन पर और खासकर राजस्व प्रशासन पर दक्कनी ब्राह्मण छा गए। यह दक्कनी हिंदू विदेशियों के आने से पड़ने वाले प्रभावों को प्रतिसंतुलित भी करते थे। फ़िरोज़शाह बहमनी खगोलिकी को प्रोत्साहन देता था और उसने दौलताबाद के पास एक वेधशाला बनवाई थी। उसने अपने राज्य के प्रमुख बंदरगाहों-चौल और दाभोल पर काफ़ी ध्यान दिया जहाँ फ़ारस की खाड़ी और लाल सागर से व्यापारी जहाज़ आते थे और दुनिया के सभी हिस्सों से विलासिता की वस्तुएँ लाते थे।

खेड़ला के गोंड राजा नरसिंहराय को हराकर फ़िरोज़ बहमनी ने बरार की ओर बहमनी साम्राज्य का प्रसार आरंभ किया। राय ने उसे 5 हाथी, 50 मन सोना और 50 मन चाँदी उपहार में दिए। राय की एक बेटी भी फ़िरोज़ से ब्याही गई। खेड़ला नरसिंह को लौटाकर उसे साम्राज्य का एक अमीर बना लिया गया तथा उसे राजसी परिधान खिलत दिया गया जिसमें ज़री की कढ़ाई वाली एक टोपी भी शामिल थी।

देवराय प्रथम की बेटी से फ़िरोज़शाह बहमनी के विवाह का तथा बाद में विजयनगर के खिलाफ़ उसके युद्धों का उल्लेख हम कर चुके हैं, लेकिन कृष्णा-गोदावरी वादी पर वर्चस्व का संघर्ष जारी रहा। 1419 में बहमनी साम्राज्य को एक धक्का लगा जब, जैसा कि कहा जा चुका है, देवराय प्रथम के हाथों फ़िरोज़शाह बहमनी पराजित हुआ। इस हार से फ़िरोज़ की स्थिति कमज़ोर हो गई और उसे अपने भाई अहमदशाह प्रथम के पक्ष में सत्ता छोड़नी पड़ी जिसे प्रसिद्ध सूफी संत गेसू दर्राज के संपर्क में रहने के कारण वली (संत) कहा जाता था। अहमदशाह ने दक्षिण भारत में पूर्वी समुद्रतट पर वर्चस्व के लिए संघर्ष जारी रखा। वह यह नहीं भूल सका कि पिछली दो लड़ाइयों में, जिनमें बहमनी सुल्तान हारा था, वारंगल ने विजयनगर का साथ दिया था। बदला लेने के लिए उसने वारंगल पर हमला किया, उसके राजा को एक लड़ाई में हराकर मार डाला और उसके अधिकांश क्षेत्रों का अधिग्रहण कर लिया। नवविजित क्षेत्रों पर अपने शासन को दृढ़ बनाने के लिए वह अपनी राजधानी को गुलबर्गा से बीदर ले गया। उसके बाद उसने मालवा, गोंडवाना और कोंकण की ओर अपनी दृष्टि घुमाई।



टिप्पणी फारस के यात्री अब्दुर्ज्जाक के द्वारा विजयनगर पर की गई टिप्पणी पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

10.3 महमूद गाँवा (Mahamood Gawan)

नोट

बहमनी साम्राज्य के हाथ में वारंगल के आने से दक्षिण भारत में शक्ति-संतुलन बदल गया। बहमनी साम्राज्य का क्रमशः प्रसार हुआ तथा महमूद गाँवा के प्रधानमंत्रित्व में वह शक्ति और क्षेत्रीय विस्तार की ऊँचाइयों पर पहुँच गया। महमूद गाँवा का आरंभिक जीवन अज्ञात है। वह जन्म से ईरानी और आरंभ में एक व्यापारी था। उसका सुल्तान से परिचय हुआ और जल्द ही वह उसका प्रिय पात्र बन गया। उसे मलिक-उल-तुज्जार की उपाधि दी गई। जल्द ही वह पेशवा (प्रधानमंत्री) बन गया। राज्य के मामलों पर लगभग 20 वर्षों तक महमूद गाँवा छाया रहा। उसने पूरब में और अधिक कब्जा करके बहमनी साम्राज्य का विस्तार किया। विजयनगर के क्षेत्र में दूर काँची तक किए गए एक हमले ने बहमनी हथियारों की शक्ति को दर्शाया। लेकिन दाभोल और गोवा समेत पश्चिमी समुद्रतटों को रौंद देना महमूद गाँवा का प्रमुख सैन्य योगदान था। इन बंदरगाहों के हाथ से निकल जाने से विजयनगर को भारी धक्का लगा। गोवा और दाभोल पर बहमनी राज्य के नियंत्रण के कारण ईरान, इराक आदि के साथ उसका विदेश व्यापार और बढ़ा एवं आंतरिक व्यापार और विनिर्माण में भी वृद्धि हुई।

महमूद गाँवा ने साम्राज्य की उत्तरी सीमाओं को भी स्थिर करने की कोशिश की। अहमदशाह प्रथम के समय से ही मालवा, जिस पर खलजी शासकों का राज्य था, गोंडवाना, बरार और कोंकण पर अधिकार पाने के लिए लड़ रहा था। इस संघर्ष में बहमनी सुल्तानों ने गुजरात के शासकों से सहायता माँगी थी जो उन्हें मिली भी थी। काफ़ी कुछ टकराव के बाद तय हुआ कि गोंडवाना में स्थित खेड़ला, मालवा को और बरार, बहमनी सुल्तान को मिलेगा। लेकिन मालवा के शासक हमेशा बरार को हथियाने की ताक में लगे रहते थे। बरार को लेकर महमूद गाँवा को मालवा के महमूद खलजी के खिलाफ़ अनेक तीखी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। गुजरात के शासक से मिली सक्रिय सहायता के बल पर वह विजयी रहा।

इस तरह हम देखते हैं कि दक्षिण में संघर्ष के ढर्रे में धार्मिक आधार पर विभाजन की कोई जगह नहीं थी—राजनीतिक एवं रणनीतिक स्वार्थ तथा व्यापार और वाणिज्य पर नियंत्रण संघर्ष के अधिक महत्वपूर्ण कारण होते थे। दूसरे, उत्तर भारत और दक्षिण भारत में विभिन्न राज्यों के आपसी संघर्ष एक दूसरे से पूरी तरह अलग रहकर कभी नहीं लड़े गए। पश्चिम में मालवा और गुजरात दक्कन के मामलों में खिंच गए, पूरब में उड़ीसा बंगाल के साथ संघर्षरत था तथा व्यापारिक दृष्टि से समृद्ध कोरोमंडल तट पर भी लालच की दृष्टि डाल रहा था। 1450 के बाद उड़ीसा के शासकों ने दक्षिण भारत में दूर तक धावे बोले, उनकी सेनाएँ मंदुरै तक जा पहुँची तथा उड़ीसा की सीमा कृष्णा नदी तक चली गई। उनकी गतिविधियों ने विजयनगर साम्राज्य को कमजोर कर डाला जो देवराय द्वितीय की मृत्यु के बाद अंदरूनी टकराव के दौर से गुजर रहा था।

महमूद गाँवा ने बहुत-से आंतरिक सुधार किए। उसने साम्राज्य को आठ प्रांतों (तरफ़ों) में बाँटा। हर तरफ़ का शासन एक तरफ़दार चलाता था। हर अमीर के वेतन और दायित्व तय किए गए। 500 घोड़ों का एकदस्ता रखने के लिए एक अमीर को एक लाख हूण प्रतिवर्ष का वेतन मिलता था। वेतन नकद या जागीर के रूप में दिया जा सकता था। जिनको जागीर के रूप में वेतन दिया जाता था उन्हें मालगुजारी की वसूली के लिए भत्ते भी दिए जाते थे। हर प्रांत (तरफ़) में सुल्तान के खर्च के लिए भूभाग (खालिसा) अलग रखा गया था। भूमि को मापने (पैमाइश) के तथा हर किसान के लिए राज्य को देय राशि तय करने का प्रयत्न किया गया।

महमूद गाँवा कला का महान संरक्षक था। उसने राजधानी बीदर में एक शानदार मदरसा बनवाया। रंगीन खपरैलों से सुसज्जित यह इमारत तीन मंजिल ऊँची थी तथा इसमें एक हजार अध्यापक और छात्र रह सकते थे। उनको मुफ्त भोजन और वस्त्र दिया जाता था। इस काल के सबसे प्रसिद्ध कुछ विद्वान ईरान और ईराक से इस मदरसे में महमूद गाँवा की प्रेरणा से आए थे।

अमीरों (कुलीनों) का आपसी टकराव बहमनी साम्राज्य के सामने मौजूद सबसे दुरुह समस्याओं में से एक था। ये अमीर पुराने और नये में या दक्कनी और विदेशी (आफ़ादी या गरीब) में विभाजित थे। एक नवांगतुक के रूप में महमूद गाँवा को दक्कनियों का भरोसा जीतने के लिए लोहे के चने चबाने पड़े। हालाँकि उसने मेल-मिलाप की व्यापक नीति अपनाई, पर दरबार में गुटों की लड़ाई बंद नहीं हुई। उसके विरोधी नौजवान सुल्तान के कान भरने में

नोट

कामयाब रहे और उसने 1482 में गाँवा को मरवा डाला। उस समय महमूद गाँवा 70 साल का था। गुटों का टकराव अब और भी तीखा हो गया। विभिन्न तरफदार स्वतंत्र हो गए। जल्द ही बहमनी साम्राज्य पाँच राज्यों में बँट गया: गोलकुंडा, बीजापुर, अहमदनगर, बरार और बीदर। इनमें से अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा के राज्यों ने सत्रहवीं सदी में मुगल साम्राज्य में शामिल किए जाने तक दक्कन की राजनीति में अग्रणी भूमिका निभाई।

बहमनी साम्राज्य ने उत्तर और दक्षिण के बीच एक सांस्कृतिक सेतु का काम किया। इस तरह विकसित होने वाली संस्कृति की अपनी विशेषताएँ थीं, जो उत्तर भारतीय संस्कृति से अलग थीं। उत्तराधिकारी राज्यों ने इन सांस्कृतिक परंपराओं को जारी रखा और उन्होंने इस काल में मुगल संस्कृति के विकास को भी प्रभावित किया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. साम्राज्य का सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति फिरोजशाह बहमनी था।
 (क) विजयनगर (ख) कंपिली
 (ग) बहमनी (घ) चोल
6. विजयनगर के राजा बहुत ही राजाओं के रूप में मशहूर थे।
 (क) विद्वान (ख) संपत्तिशाली
 (ग) वीर योद्धा (घ) निरंकुश
7. एक अच्छा कातिब और शायर था।
 (क) हरिहर (ख) देवराय
 (ग) कृष्णदेवराय (घ) फिरोजशाह बहमनी
8. महमूद गाँवा कला का महान था।
 (क) संरक्षक (ख) विरोधी
 (ग) कलाकार (घ) उपासक

10.4 विजयनगर साम्राज्य का उत्कर्ष और विघटन (Rise and Decline of Vijaynagar Empire)

जैसा कि कहा गया है, देवराज द्वितीय की मृत्यु (1446) के बाद विजयनगर साम्राज्य में अफ़रातफ़री रही। चूँकि विजयनगर में ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार का नियम स्थापित नहीं हुआ था, अतः गद्दी के विभिन्न दावेदारों के बीच गृहयुद्धों का एक सिलसिला चल पड़ा। इस प्रक्रिया में अनेक जागीरदार स्वतंत्र हो गए। मंत्रीगण बहुत शक्तिशाली हो गए तथा जनता को काफ़ी कष्ट पहुँचाते हुए उनसे जबरन उपहार और भारी कर वसूल करने लगे। राय की सत्ता कर्नाटक तक और पश्चिमी आंध्र के कुछ भागों तक सिमटकर रह गई।

शासकगण मौज-मस्ती में खोए थे और राज्य के मामलों की उपेक्षा कर रहे थे। कुछ समय बाद मंत्री सालुवा ने गद्दी हड़प ली। इस तरह पहले वाला राजवंश समाप्त हो गया। सालुवा ने कानून और व्यवस्था को बहाल किया और एक नए राजवंश की स्थापना की। जल्द ही इस राजवंश का भी अंत हो गया। अंततः कृष्णदेव ने एक नया राजवंश, जिसे तुलूवा राजवंश कहते हैं, का आरंभ किया। कृष्णदेव राय (1509-30) तुलूवा राजवंश का सबसे महान व्यक्ति था। कुछ इतिहासकार उसे विजयनगर के सभी शासकों में सबसे महान मानते हैं। कृष्णदेव राय को न सिर्फ़ कानून और व्यवस्था को बहाल करना पड़ा, बल्कि विजयनगर के पुराने विरोधियों से भी निबटना पड़ा, अर्थात् बहमनी साम्राज्य के उत्तराधिकारी राज्यों से और उड़ीसा राज्य से, जिसने विजयनगर के अनेक इलाके हड़प लिए थे। साथ ही, इसे पुर्तगालियों का सामना भी करना पड़ा जिनकी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ रही थी। वे आर्थिक और राजनीतिक रियायतें पाने के लिए समुद्र पर अपने नियंत्रण का उपयोग तटीय क्षेत्रों में विजयनगर के छोटे-छोटे अधीन राज्यों को डराने-धमकाने

नोट

के लिए कर रहे थे। उन्होंने बीजापुर से गोवा वापस पाने में राय की सहायता का वचन देकर और उसे घोड़ों की आपूर्ति का एकाधिकार देकर उसको तटस्थ रखने का प्रयास भी किया था।

सात वर्षों तक चली युद्धों की एक शृंखला में कृष्णदेव राय ने पहले उड़ीसा के शासक को कृष्णा नदी के सभी क्षेत्र विजयनगर को वापस सौंपने पर मजबूर कर दिया। इस तरह स्वयं को मजबूत बनाकर उसने तुंगभद्रा के दोआब पर नियंत्रण का पुराना संघर्ष फिर से आरंभ कर दिया। कृष्णदेव राय ने टकराव के लिए भारी तैयारियाँ कीं। उसने रायचूर और मुद्कल को रौंदकर दुश्मनी का आरंभ किया। इसके बाद हुई लड़ाई में बीजापुर शासक (1570 में) पूरी तरह हारा। उसे कृष्णा नदी के पार धकेल दिया गया और वह मुश्किल से जान बचाकर भागा। पश्चिम में विजयनगर की सेनाएँ बेलगाम जा पहुँचीं उन्होंने बीजापुर पर कब्जा करके अनेक दिनों तक उसे लूटा और संधि होने से पहले गुलबर्गा को नष्ट कर दिया।

इस तरह कृष्णदेव राय के काल में विजयनगर दक्षिण की सबसे बड़ी सैन्य शक्ति बनकर उभरा। लेकिन पुरानी शत्रुताओं को फिर से उभारने की उत्सुकता में दक्षिणी शक्तियों ने पुर्तगालियों के उदय से अपने लिए और अपने व्यापार के लिए उत्पन्न हो रहे खतरों की अधिकतर उपेक्षा की। चोल और विजयनगर के कुछ आरंभिक शासकों के विपरीत कृष्णदेव राय ने लगता है नौसेना के विकास पर कम ही ध्यान दिया।

इस काल में विजयनगर की दशा का बहुत-से विदेशी यात्रियों ने वर्णन किया है। इटली के पेस ने, जिसने कृष्णदेव राय के दरबार में अनेक वर्ष गुजारे थे, उसके व्यक्तित्व का प्रशंसापूर्ण वर्णन किया है। लेकिन वह यह भी कहता है, “वह एक महान शासक और अत्यंत न्यायप्रिय व्यक्ति है, पर एकाएक क्रोध के दौरों का शिकार हो जाता है। वह अपनी प्रजा का ध्यान रखता था तथा उसके कल्याण के प्रति उसकी फ़िक्र किस्से कहानियों का विषय बन चुकी है। उसने तुंगभद्रा के दोआब से तमाम नायकों को बाहर करके और उसे प्रत्यक्ष प्रशासन में लाकर एक अधिक केंद्रीकृत प्रशासन खड़ा करने का प्रयास किया था।”

कृष्णदेव राय एक महान निर्माता भी था। उसने विजयनगर के पास एक नया नगर बसाया और विशाल तालाब खुदवाए जिनका प्रयोग सिंचाई के लिए भी किया जाता था। वह तेलुगू और संस्कृत का विद्वान था। उसकी अनेक रचनाओं में तेलुगू में राजव्यवस्था पर एक ग्रंथ और संस्कृत में एक नाटक ही आज उपलब्ध हैं। उसके शासन में तेलुगू साहित्य का एक नया युग आरंभ हुआ, जब संस्कृत रचनाओं की नकल की जगह स्वतंत्र रचनाओं ने ले ली। उसने तेलुगू, कन्नड़ और तमिल कवियों को एकसमान संरक्षण दिया। बारबोसा, पेस और नूनिज़ जैसे विदेशी यात्रियों ने उसके कुशल प्रशासन तथा उसके काल में साम्राज्य की समृद्धि की चर्चा की है।



क्या आप जानते हैं विजयनगर के शासकों को हिंदू धर्म का महान संरक्षक माना जाता है।

विजयनगर के शासकों की देखरेख में बड़ी संख्या में मंदिर, विद्यालय और मठ बनाए गए। इस काल में मंदिरों के ढाँचे और गठन में काफ़ी विस्तार आया। खंभों वाले पंडाल, मंडप और दूसरे गौण ढाँचे जोड़कर पुराने मंदिरों के आकार को फैलाया गया। कृष्णदेव राय के साम्राज्य में जो व्यापक सहिष्णुता पाई जाती थी, उसके बारे में बारबोसा कहता है, “राजा इतनी स्वतंत्रता देता है कि चाहे ईसाई हों या यहूदी, हब्शी हों या विधर्मी, हर व्यक्ति अपनी इच्छानुसार आ-जा सकता है और अपने धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत कर सकता है। उसे इसके लिए किसी प्रकार की नाराज़गी नहीं झेलनी पड़ती है और न उसके बारे में यह जानकारी हासिल करने की कोशिश की जाती है।” बारबोसा ने कृष्णदेव राय के साम्राज्य में व्याप्त न्याय और समता के लिए उसकी प्रशंसा भी की है।

कृष्णदेव राय की मृत्यु 1530 के बाद उसके संबंधियों में उत्तराधिकार का संघर्ष चल पड़ा, क्योंकि उसके सभी बेटे अव्यस्क थे। अंततः 1543 में सदाशिव राय गद्दी पर बैठा और 1567 तक उसने शासन किया, लेकिन वास्तविक शक्ति एक त्रिमूर्ति के हाथों में थी, जिसमें अग्रणी व्यक्ति रामराजा था। रामराजा विभिन्न मुस्लिम शक्तियों को एक दूसरे से लड़ने में सफल रहा। उसने पुर्तगालियों से एक व्यापारिक संधि की जिसके अनुसार बीजापुर के शासकों को घोड़ों की आपूर्ति रोक दी गई। युद्धों की एक शृंखला में उसने बीजापुर के शासक को पूरी तरह हराया तथा

नोट

गोलकुंडा और अहमदनगर को भी अपमानजनक मातें दी। लगता है कि इन तीन शक्तियों के बीच विजयनगर के अनुकूल एक शक्ति-संतुलन बनाए रखने से अधिक रामराजा का कोई उद्देश्य भी नहीं था। आखिर उन्होंने एक होकर 1565 में तालिकोटा के पास बन्नीहट्टी में विजयनगर को एक करारी शिकस्त दी। इसे तालिकोटा की लड़ाई या राक्षसतंगड़ी की लड़ाई भी कहते हैं। रामराजा घिर गया, कैद किया गया और तुरंत मार डाला गया। कहते हैं कि इस युद्ध के दौरान एक लाख हिंदू मारे गए। विजयनगर को पूरी तरह लूटकर खंडहर बना दिया गया।

बन्नीहट्टी की लड़ाई को सामान्यतः विजयनगर के महायुग का अंत माना जाता है। यून तो वह राज्य जैसे-तैसे लगभग सौ वर्षों तक घिसटता रहा, पर उसका क्षेत्र लगातार घटता गया। दक्षिण भारत के राजनीतिक मामलों में राय अब किसी गिनती में नहीं रहा।

विजयनगर के शासकों में राजत्व की धारणा बहुत ऊँची थी। राज्य-व्यवस्था पर अपनी पुस्तक में कृष्णदेव राय राजा को सलाह देता है कि “जो कुछ तुम देखो या सुनो, उसे उपेक्षित किए बिना, बहुत सावधानी के साथ और अपनी क्षमता के अनुसार तुम्हें (सज्जनों की) रक्षा और (दुर्जनों को) दंड देने के काम पर ध्यान देना चाहिए।” उसने राजा को ‘अपनी प्रजा से हल्का कर वसूल करने की’ सलाह दी है।

विजयनगर साम्राज्य में राजा को सलाह एक मंत्रिपरिषद देती थी, जिसमें साम्राज्य के बड़े कुलीन शामिल होते थे। साम्राज्य को राज्यों या मंडलम (प्रांतों) में बाँटा गया था। उसके नीचे नाडु (ज़िले), स्थल (उप-ज़िले) और ग्राम (गाँव) होते थे।

ग्रामीण स्वशासन की चोल परंपराएँ विजयनगर साम्राज्य में काफ़ी कमज़ोर हुईं। पुश्तैनी नायक-पद के विकास ने उनकी स्वतंत्रता और पहल को सीमित किया। आरंभ में राजकुमार प्रांतों के अधिपति होते थे। बाद में अधीनस्थ शासक परिवारों के सदस्यों और कुलीनों को प्रांतपति बनाया जाने लगा। इन प्रांतपतियों को काफ़ी स्वायत्तता प्राप्त थी। वे अपने दरबार लगाते, अपने अधिकारी नियुक्त करते और सेनाएँ रखते थे। उन्हें अपने सिक्के जारी करने की अनुमति थी, हालाँकि ये छोटे मूल्यों के ही होते थे। एक प्रांतपति का कोई नियमित कार्यकाल नहीं होता था। उसका कार्यकाल उसकी योग्यता और शक्ति पर निर्भर होता था। प्रांतपति को नए कर लगाने या पुराने कर समाप्त करने का अधिकार था। हर प्रांतपति केंद्र सरकार को सैनिकों और धन के रूप में एक निश्चित योगदान देता था। अनुमान लगाया गया है कि जहाँ साम्राज्य की आय 12,000,000 पराडो थी, वहीं केंद्र सरकार को उसका आधा भाग ही मिलता था।

विजयनगर साम्राज्य में ऐसे अनेक क्षेत्र थे जो अधीन शासकों के अंतर्गत थे, अर्थात् जो युद्धों में हारे पर उनके राज्य उन्हें वापस कर दिए गए। केंद्र-प्रशासित एक बहुत बड़े क्षेत्र में राजा सैन्य सरदारों को निश्चित राजस्व वाले आमरम (क्षेत्र) देता था। ये सरदार पलैयागर (पालेगार) या नायक कहलाते थे। उन्हें राज्य की सेवा के लिए निश्चित संख्या में पियादे सैनिक, घोड़े और हाथी रखने पड़ते थे। नायकों या पालेगारों को केंद्रीय कोष में एक निश्चित राशि भी जमा करानी पड़ती थी। ये बहुत शक्तिशाली लोग थे और कभी-कभी सरकार के लिए उनको नियंत्रित करना मुश्किल हो जाता था। विजयनगर साम्राज्य की इन अंदरूनी कमज़ोरियों का भी बन्नीहट्टी के युद्ध में उसकी हार और बाद में उसके विघटन में हाथ रहा था। उसके बाद अनेक नायक तो स्वतंत्र ही हो गए, जैसे तंजावुर और मदुरै के। विजयनगर साम्राज्य में किसानों की आर्थिक दशा पर इतिहासकार एकमत नहीं हैं, क्योंकि अधिकांश यात्रियों को ग्रामीण जीवन का बहुत कम ज्ञान था और इसलिए वे बहुत चलताऊ ढंग से उसके बारे में बातें करते थे। सामान्यतः ऐसा माना जा सकता है कि जनता का आर्थिक जीवन कमोबेश अपरिवर्तित रहा, उनके घर अधिकतर फूस के और छोटे दरवाज़ों वाले होते थे। आम तौर पर वे नंगे पैर चलते और कमर से ऊपर शायद ही कुछ पहनते थे। उच्च वर्गों के लोग कभी-कभी कीमती जूते पहनते और सरों पर रेशमी पगड़ियाँ बाँधते थे, पर कमर से ऊपर अपने आपको नहीं ढँकते थे। जनता के सभी वर्ग आभूषणों के शौकीन थे तथा उन्हें ‘अपने कानों, अपने गालों और अपनी बाँहों आदि में’ पहनते थे।

किसानों को फसल का कितना भाग देना पड़ता था, इसके बारे में हमें बहुत कम ज्ञान है। एक अभिलेख के अनुसार करों की दरें इस प्रकार थीं—

नोट

जाड़ों में कुरुवई (एक प्रकार के धान) की फ़सल का एक-तिहाई, तिल, रागी, चना आदि का एक-चौथाई, असिंचित भूमि पर उपजे ज्वार-बाजरे और दूसरी फ़सलों का छोटा भाग।

इस तरह फ़सल के प्रकार, मिट्टी, सिंचाई की विधि आदि के अनुसार दर अलग-अलग थी।

भू कर के अलावा दूसरे बहुत-से कर भी थे, जैसे संपत्ति कर, फ़सल की बिक्री कर, व्यवसाय कर (आपातकाल में) सेना के लिए योगदान, विवाह कर आदि। सोलहवीं सदी का यात्री **निकितिन** कहता है, “धरती लोगों से भरी पड़ी है, पर गाँवों के लोग बहुत बदहाल हैं जबकि कुलीन अत्यंत समृद्ध हैं और विलासिता का सुख लूटते हैं।” विजयनगर साम्राज्य में नगरीय जीवन का विकास हुआ और व्यापार फ़ला-फूला। नगर बढ़े और अनेक तो मंदिरों के इर्द-गिर्द बढ़े। मंदिर बहुत बड़े-बड़े थे तथा उन्हें यात्रियों को प्रसाद बाँटने, प्रभु के भोग, पुजारियों आदि के लिए खाद्य पदार्थ एवं अन्य वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती थी। ये मंदिर समृद्ध थे तथा आंतरिक और विदेशी, दोनों प्रकार के व्यापार में भी भाग लेते थे। विजयनगर शासन में नगरों की अच्छी-खासी वृद्धि हुई और नगरीकरण हुआ। अनेक इतिहासकार इसी अर्थ में विजयनगर साम्राज्य के काल को पुरानी से नई अर्थव्यवस्था में संक्रमण का काल मानते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)–

9. देवराज द्वितीय की मृत्यु के बाद विजयनगर साम्राज्य में शांति रही।
10. बहमनी साम्राज्य ने उत्तर और दक्षिण के बीच एक सांस्कृतिक सेतु का काम किया।
11. कृष्णदेव राय तुलूवा राजवंश का सबसे महान शासक था।
12. कृष्णदेव राय के समय में विजयनगर पूरब की सबसे बड़ी शक्ति बनकर उभरा।

10.5 सारांश (Summary)

- भारत के विंध्याचल से दक्षिण भूभाग पर दो सौ वर्षों से अधिक समय तक विजयनगर और बहमनी साम्राज्यों का वर्चस्व रहा। उन्होंने न सिर्फ़ शानदार राजधानियों और नगरों को बसाया और उन्हें अनेक भव्य भवनों से सजाया तथा कला और साहित्य को आगे बढ़ाया, बल्कि कानून और व्यवस्था का भी ध्यान रखा। वाणिज्य एवं दस्तकारियों का विकास भी हुआ।
- विजयनगर साम्राज्य की स्थापना हरिहर और बुक्का ने की, जो पाँच भाइयों के परिवार के अंग थे। हरिहर के राजतिलक को 1336 की घटना बताया जाता है।
- योग्य शासकों की एक शृंखला के अंतर्गत विजयनगर पंद्रहवीं सदी के पूर्वार्ध में दक्षिण का सबसे शक्तिशाली और समृद्ध राज्य बनकर उभरा।
- बहमनी साम्राज्य का सबसे उल्लेखनीय व्यक्ति फ़िरोज़शाह बहमनी (1397-1422) था। फ़िरिश्ता के अनुसार वह फ़ारसी, अरबी और तुर्की में ही नहीं बल्कि तेलुगू, कन्नड़ और मराठी में भी सिद्धहस्त था।
- बहमनी साम्राज्य के हाथ में वारंगल के आने से दक्षिण भारत में शक्ति-संतुलन बदल गया। बहमनी साम्राज्य का क्रमशः प्रसार हुआ तथा महमूद गाँवा के प्रधानमंत्रित्व में वह शक्ति और क्षेत्रीय विस्तार की ऊँचाइयों पर पहुँच गया।
- कृष्णदेव राय (1509-30) तुलूवा राजवंश का सबसे महान व्यक्ति था। कुछ इतिहासकार उसे विजयनगर के सभी शासकों में सबसे महान मानते हैं।
- कृष्णदेव राय एक महान निर्माता भी था। उसने विजयनगर के पास एक नया नगर बसाया और विशाल तालाब खुदवाए जिनका प्रयोग सिंचाई के लिए भी किया जाता था। वह तेलुगू और संस्कृत का विद्वान था।

नोट

- विजयनगर के शासकों में राजत्व की धारणा बहुत ऊँची थी। राज्य-व्यवस्था पर अपनी पुस्तक में कृष्णदेव राय राजा को सलाह देता है कि “जो कुछ तुम देखो या सुनो, उसे उपेक्षित किए बिना, बहुत सावधानी के साथ और अपनी क्षमता के अनुसार तुम्हें (सज्जनों की) रक्षा और (दुर्जनों को) दंड देने के काम पर ध्यान देना चाहिए।” उसने राजा को ‘अपनी प्रजा से हल्का कर वसूल करने की’ सलाह दी है।

10.6 शब्दकोश (Keywords)

- **कातिब**—लिखने वाला, दस्तावेज आदि लिखने की जानकारी रखने वाला।
- **हरम**—रनिवास, अंतःपुर (बादशाह के बेगमों का महल)।
- **खिलअत**—सम्मानार्थ दी जाने वाली पोशाक।

10.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. विजयनगर साम्राज्य की स्थापना एवं राजा हरिहर और बुक्का के शासन का वर्णन करें।
2. विजयनगर और बहमनी साम्राज्य के टकराव का उल्लेख करें।
3. विजयनगर के देवराय द्वितीय के शासनकाल पर प्रकाश डालें।
4. बहमनी साम्राज्य के प्रसार एवं विघटन पर प्रकाश डालें।

अथवा

- फ़िरोजशाह बहमनी के शासनकाल पर प्रकाश डालें।
5. महमूद गाँवा के राज्य विस्तार एवं आंतरिक सुधार नीति की विवेचना करें।
6. विजयनगर साम्राज्य के चरमोत्कर्ष एवं विघटन का वर्णन करें।
7. विजयनगर के शासक कृष्णदेव राय एक महान शासक होने के साथ-साथ एक महान निर्माता भी थे। कैसे?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|----------------|--------------------|------------------------|-----------|
| 1. हरिहर | 2. संघर्ष | 3. बहमनी | 4. कृष्णा |
| 5. (ग) बहमनी | 6. (ख) संपत्तिशाली | 7. (घ) फ़िरोजशाह बहमनी | |
| 8. (क) संरक्षक | 9. असत्य | 10. सत्य | 11. सत्य |
| 12. असत्य। | | | |

10.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
2. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
3. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
4. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।

नोट

इकाई-11: भारत में पुर्तगालियों का आगमन (Portuguese Arrival in India)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

11.1 पुर्तगालियों का आगमन (Arrival of Portuguese)

11.2 भारतीय व्यापार, समाज और राजनीति पर पुर्तगाली प्रभाव
(Portuguese Impact on Indian Trade, Societies and Politics)

11.3 सारांश (Summary)

11.4 शब्दकोश (Keywords)

11.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

11.6 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- भारत में पुर्तगालियों के आगमन को जानने में;
- भारतीय व्यापार, समाज और राजनीति पर पुर्तगाली प्रभाव को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

1498 में वास्को-डि-गामा दो जहाज लेकर कालीकट में उतरा। उनके चालक गुजराती थे जिन्होंने अफ्रीका तट से कालीकट (कोज्जिकोडे) तक इन जहाजों को रास्ता दिखाया था। इसे प्रायः एक नए चरण का आरंभ माना गया है जब समुद्र का नियंत्रण यूरोपवालों के हाथों में चला गया। भारतीय व्यापार और व्यापारियों को धक्का लगा और अंततः यूरोप वाले भारत और अधिकांश पड़ोसी देशों पर अपना उपनिवेशी शासन और प्रभुत्व स्थापित करने में सफल रहे। लेकिन इस तस्वीर के सही होने के बारे में पश्चिमी और भारतीय विद्वानों ने गहरी शंका व्यक्त की है। खास तौर से द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत और इस भूभाग के देशों पर यूरोपीय राजनीतिक शासन की समाप्ति के बाद यह शंका जोरदार रूप से जाहिर की जा रही है।

11.1 पुर्तगालियों का आगमन (Arrival of Portuguese)

भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीति पर पुर्तगालियों के प्रभाव का आकलन करने से पहले हम उन कारणों की छानबीन करेंगे जो पुर्तगालियों को भारत ले आए। मोटे तौर पर कहें तो पुर्तगाली ऐसे समय में भारत आए जब यूरोप में दलदलों की सुखाई और जंगलों की कटाई, सुधरे हुए हल के प्रचलन और एक अधिक वैज्ञानिक

नोट

फसल-चक्र के कारण मवेशी की संख्या और मांस की आपूर्ति बढ़ रही थी और यूरोपीय अर्थव्यवस्था तेजी से सुधर रही थी। अर्थव्यवस्था की यह मजबूती नगरों के उदय तथा आंतरिक और बाह्य व्यापार, दोनों की वृद्धि में प्रतिबिंबित हो रही थी। आर्थिक पुनरुत्थान के साथ इन सब चीजों की माँग बढ़ी, खासकर काली मिर्च और मसालों की, जिनकी आवश्यकता मांस को स्वादिष्ट बनाने के लिए पड़ती थी। चारे की कमी के कारण जाड़ों में अनेक मवेशी मार दिए जाते थे और उनके मांस को नमक लगाकर रख दिया जाता था।



नोट्स रोमन काल से ही पूर्वी वस्तुओं की भारी माँग चली आ रही थी। इनमें चीन का रेशम तथा भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के मसाले और जड़ी-बूटियाँ शामिल थे।

भारत व दक्षिण-पूर्व एशिया से काली मिर्च स्थल-मार्ग तथा अंशतः समुद्र-मार्ग से लिवेंट (Levant), मिस्र और काला सागर के बंदरगाहों तक लाई जाती थी। पंद्रहवीं सदी के आरंभिक भाग में उस्मानी तुर्कों की सत्ता के उदय के बाद ये सभी क्षेत्र तुर्कों के नियंत्रण में आ गए। उन्होंने 1453 में कुस्तुनिया पर और बाद में सीरिया और मिस्र पर भी अधिकार कर लिया। तुर्क व्यापार के विरोधी नहीं थे, पर काली मिर्च पर उनका लगभग एकाधिकार लाजमी तौर पर यूरोपवालों के हित के खिलाफ पड़ता था। यूरोपवालों को पूर्वी यूरोप में तुर्क शक्ति के प्रसार ने चौकन्ना कर दिया तथा तुर्क नौसेना के विकास ने भी, जिसने पूर्वी भूमध्य सागर को तुर्कों की झील बनाकर रख दिया था। वेनिस और जेनोआ, जो पूर्वी वस्तुओं के व्यापार में सबसे आगे थे, इतने छोटे थे कि तुर्कों के आगे ठहर नहीं सकते थे। खासकर वेनिस ने तो जल्द ही तुर्कों से समझौता कर लिया। इसलिए तुर्क खतरे के खिलाफ जंग का परचम भूमध्य सागर के पश्चिमी भाग की शक्तियों अर्थात् स्पेन और पुर्तगाल ने बुलंद किया। उनकी सहायता उत्तरी यूरोपवालों ने धन-जन देकर की तथा जेनोआ वालों ने, जो वेनिस के प्रतियोगी थे, जहाज और तकनीकी ज्ञान देकर। भारत के लिए एक सीधे समुद्री मार्ग की खोज अकेले पुर्तगालियों ने नहीं बल्कि इन सभी लोगों ने शुरू की। इस तरह समुद्रमार्गी खोजों का एक नया दौर शुरू हुआ। इनमें जेनोआवासी क्रिस्टोफर कोलंबस के द्वारा अमरीका की 'खोज' भी शामिल है। यह बल्कि पुनर्खोज थी, क्योंकि उससे पहले उत्तर से नार्स (नार्वेवासी) वहाँ पहुँच चुके थे और बेरिंग जलडमरूमध्य पार करके रेड इंडियन भी। पुर्तगाली शासक **दोम हेनरी**, जिसे आम तौर पर नाविक हेनरी कहा जाता है, के काम को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए।

1418 के बाद दोम हेनरी अफ्रीका के पश्चिमी तट की खोज के लिए हर साल दो या तीन जहाज भेजा करता था, और भारत के समुद्रमार्ग की तलाश के लिए भी। उसके दो उद्देश्य थे—पहला, समृद्ध पूर्वी व्यापार से तुर्कों को और अपने यूरोपीय प्रतियोगियों को बाहर करना, खासकर वेनिस वालों को। दूसरा, अफ्रीका और एशिया के 'हब्बियाँ' को ईसाइयत के दायरे में लाकर तुर्कों और अरबों की बढ़ती ताकत का सामना करना। इन दोनों उद्देश्यों के लिए प्रयास बराबर जारी रहे। वास्तव में, वे एक दूसरे को औचित्य प्रदान करते और बल पहुँचाते थे। 1453 में पोप ने इसे एक 'बुल' (धर्मदेश) जारी करके अपना समर्थन दिया जिसमें उसने पुर्तगाल को अफ्रीका में स्थित केप नोर से भारत तक 'खोजी गई' तमाम भूमियों को 'हमेशा के लिए' इस शर्त पर दे दिया कि इन देशों की जनता को ईसाइयत के दायरे में लाया जाएगा।

1488 में बार्थोलोम्यू दियाज ने केप ऑफ गुड होप का चक्कर लगाया तथा यूरोप और भारत के बीच सीधे व्यापार संबंध का आधार डाल दिया। ऐसी लंबी समुद्री यात्राएँ अनेक उल्लेखनीय आविष्कारों के कारण संभव हुईं। मुख्यतः कंपास और एस्ट्रोलैब के कारण, जिसका प्रयोग यात्रा के दौरान आकाशीय पिंडों की ऊँचाई जानने के लिए किया जाता था। इनमें से कोई भी यूरोपीय आविष्कार न था। नाविकों का कंपास (दिशासूचक यंत्र) चीनियों को अनेक सदी पहले से ज्ञात था, पर इसका अधिक उपयोग नहीं किया गया था। लेकिन अरब, भारतीय और दूसरे लोग एस्ट्रोलैब का व्यापक उपयोग कर रहे थे। यह एक यूनानी आविष्कार था पर अरबों ने इसमें भारी सुधार किया था। यूरोपीय जहाज उन दिनों एशियाई समुद्रों में चल रहे जहाजों, जैसे चीनी जंक से श्रेष्ठ नहीं थे। यूरोपवालों का साहस और उद्यम की भावना निश्चित ही नई बात थी। इस भावना को तेरहवीं सदी से ही व्यापार और वाणिज्य के पुनरुत्थान

नोट

और उद्यम से जोड़ा गया है, जिसके कारण यूरोपीय राज्यों के बीच तीखी शत्रुता पैदा हुई थी। उतनी ही महत्वपूर्ण वह नई बौद्धिक उथल-पुथल थी, जिसे पुनर्जागरण कहते हैं। पुनर्जागरण धर्मग्रंथों या चर्च को बुद्धिमत्ता का आधार बनाने के बजाए स्वतंत्र अन्वेषण की भावना का सूचक था। इन विकासक्रमों के कारण बारूद, छपाई दूरबीन आदि अन्य विदेशी (अरब और चीनी) आविष्कारों को भी तेजी से आत्मसात किया गया, फैलाया और सुधारा गया। धातुकर्म के विकास के कारण बेहतर किस्म की बंदूकें बनने लगीं।



क्या आप जानते हैं अपने जहाज़ पर गुजराती चालक साथ लेकर वास्को-डि-गामा 1498 में कालीकट पहुँचा।

कालीकट में बसे अरब सौदागरों के शक्तिशाली समूह ने वास्को-डि-गामा का विरोध किया, पर ज़मोरिन ने, जो एक हिंदू राजा था, पुर्तगालियों का स्वागत किया तथा उन्हें काली मिर्च, जड़ी-बूटियाँ आदि अपने साथ ले जाने की अनुमति दे दी। पुर्तगाल में गामा की लाई वस्तुओं की कीमत पूरे अभियान की लागत की 60 गुनी आँकी गई। इसके बावजूद भारत और यूरोप के बीच सीधा व्यापार धीमे ही बढ़ा। इसका एक कारण पुर्तगाल सरकार का एकाधिकार था। आरंभ से ही पुर्तगाली शासक पूर्वी व्यापार से न सिर्फ यूरोप और एशिया के प्रतियोगी राष्ट्रों को बल्कि निजी पुर्तगाली व्यापारियों को भी बाहर रखकर उसे शाही एकाधिकार बनाने के लिए कमर कसे हुए थे।

पुर्तगालियों की बढ़ती शक्ति से चौकन्ना होकर मिस्र के सुल्तान ने एक बेड़ा तैयार किया और उसे भारत की ओर भेजा। उससे गुजरात के शासक के भेजे जहाज़ों का एक समूह आ मिला। आरंभ में उसे जीत मिली और पुर्तगाली सूबेदार दोन अलमाइदा का बेटा मारा गया। पर इसके बाद 1509 में पुर्तगालियों ने इस संयुक्त बेड़े को मात दे दी। फिर तो पुर्तगाली नौसेना हिंद महासागर में सबसे बड़ी शक्ति बन गई और उसके कारण पुर्तगालियों ने अपनी गतिविधियों को फ़ारस की खाड़ी और लाल सागर तक फैला लिया।

कुछ ही समय बाद अलबुकर्क को पूर्व में पुर्तगाल अधिकृत क्षेत्रों का गवर्नर बनाया गया। उसने एशिया एवं अफ्रीका के विभिन्न रणनीतिक स्थानों पर किले बनाकर पूरे पूर्वी व्यापार पर हावी होने की नीति की पैरवी की और उसे अपनाया। इसके साथ एक मज़बूत नौसेना भी तैयार की जाती थी। अपने विचारों के समर्थन में वह लिखता है, 'अकेले नौसेना द्वारा स्थापित कोई राज्य ठहर नहीं सकता।' उसका तर्क था कि किलों के न होने पर 'न तो वे (शासकगण) आपके साथ व्यापार करेंगे और न आपके साथ मित्रतापूर्ण संबंध रखेंगे।'

1510 में बीजापुर से गोवा को छीनकर अलबुकर्क ने अपनी नई नीति का आरंभ किया। गोवा द्वीप एक उत्तम प्राकृतिक बंदरगाह और किला था। उसकी स्थिति रणनीतिक थी और वहाँ से पुर्तगाली मालाबार के व्यापार को नियंत्रित कर सकते थे या दकनी शासकों पर नज़र रख सकते थे। वह गुजरात के बंदरगाहों से इतना निकट तो था ही कि पुर्तगाली वहाँ अपनी मौजूदगी का एहसास करा सकें। इस तरह गोवा पूरब में पुर्तगालियों के व्यापारिक और राजनीतिक कार्यकलाप के प्रमुख केंद्र के रूप में उपयुक्त था। पुर्तगालियों ने गोवा के सामने मुख्य भूभाग पर भी अपना अधिकार जमाया, बीजापुर के दंदा-राजौरी और दाभोल बंदरगाहों की नाकाबंदी करके उनको तबाह किया और इस तरह बीजापुर के समुद्री व्यापार को ठप्प कर दिया।

गोवा को आधार बनाकर पुर्तगालियों ने कोलंबो (श्रीलंका), आचिन (सुमात्रा) और मलक्का बंदरगाह पर किले बनाए तथा अपनी स्थिति को और मज़बूत किया। मलक्का तो मलाया प्रायद्वीप की तंग समुद्री पट्टी में आने-जाने पर नियंत्रण रखता था। पुर्तगालियों ने लाल सागर के मुहाने पर सोकोतरा द्वीप में एक अड्डा भी बनाया, किंतु वे अदन पर कब्ज़ा करने में नाकाम रहे और लाल सागर उनके नियंत्रण से बाहर रहा, पर उन्होंने फ़ारस की खाड़ी में प्रवेश को नियंत्रित करने वाले होर्मुज़ के शासक को मज़बूर करके वहाँ एक किला बनाने की अनुमति ले ली।

पर पुर्तगालियों की सफलता वास्तविकता से अधिक दिखावी थी। आरंभ से ही उनको आंतरिक और बाह्य, दोनों प्रकार की अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ा। बाहरी चुनौती तो तुर्कों की थी, जिनसे कभी-कभी अरब और कुछ भारतीय शक्तियाँ भी हाथ मिला लेती थीं। सीरिया, मिस्र और अरब को जीतने के बाद तुर्कों ने पूर्वी यूरोप को जीतना

नोट

आरंभ कर दिया था और 1529 में केंद्रीय यूरोप की राजधानी और उसकी सुरक्षा के द्वार वियना के लिए खतरा बन चुके थे। लाल सागर और फ़ारस की खाड़ी के तट पर तुर्क शक्ति के उदय से अनुमान होता था कि हिंद महासागर के पश्चिमी भाग पर वर्चस्व के लिए तुर्कों और पुर्तगालियों के बीच एक टकराव होगा। 1541 के एक खत में उस्मानी वज़ीर-ए-आज़म **लुत्फ़ी पाशा** ने तुर्क सुल्तान सुलेमान को लिखा था, “पिछले सुल्तानों के काल में ज़मीन पर हुकूमत करने वाले बहुत थे, पर समुद्र पर हुकूमत करने वाले थोड़े थे। समुद्री युद्ध के संचालन में काफ़िर हमसे आगे हैं। हमें उनको पीछे छोड़ना होगा।”

गुजरात के व्यापार और तटीय क्षेत्रों पर बढ़ते हुए पुर्तगाली खतरे को देखकर गुजरात के सुल्तान ने उस्मानी खलीफ़ा के पास एक प्रतिनिधिमंडल भेजकर उसकी जीतों पर उसे बधाइयाँ दीं और उसकी सहायता माँगी। बदले में उस्मानी खलीफ़ा ने उन काफ़िरों अर्थात् पुर्तगालियों से टकराने की इच्छा व्यक्त की जिन्होंने अरब के तटों में अशांति मचा रखी थी। इसके बाद से दोनों देशों के बीच प्रतिनिधिमंडलों और पत्रों का आना-जाना लगातार चलता रहा। तुर्कों ने लाल सागर से पुर्तगालियों को बाहर फेंक दिया और 1529 में गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह की मदद के लिए सुलेमान रईस की कमान में एक बड़ा बेड़ा भेजा गया। बहादुरशाह ने उनका खूब स्वागत किया तथा दो तुर्क अधिकारियों को भारतीय नाम देकर उन्हें क्रमशः सूरत और दीव का सूबेदार बना दिया। इन दोनों में रूमी खान ने आगे चलकर उस्ताद तोपची के रूप में बहुत नाम कमाया।

1531 में स्थानीय अधिकारियों से साँठ-गाँठ करके पुर्तगालियों ने दमन और दीव पर हमला किया, पर उस्मानी कमानदार रूमी खान ने हमले को नाकाम बना दिया। लेकिन समुद्रतट पर और नीचे की ओर चौल में पुर्तगालियों ने एक किला बना ही लिया। गुजरात-तुर्क गठजोड़ के मज़बूत होने से पहले गुजरात के लिए एक और बड़ा खतरा मुग़लों की ओर से पैदा हो गया। हुमायूँ ने गुजरात पर हमला किया। बहादुरशाह ने बेसीन द्वीप पुर्तगालियों को दे दिया। मुग़लों के खिलाफ़ एक प्रतिरक्षात्मक आक्रामक गठबंधन भी बना और पुर्तगालियों को दीव में किला बनाने की इजाज़त दे दी गई। इस तरह पुर्तगाली गुजरात में अपने पाँव जमाने में सफल रहे।

जल्द ही बहादुरशाह को पुर्तगालियों को दी गई रियायत पर पछताना पड़ा। गुजरात से मुग़लों के निकाले जाने के बाद उसने उस्मानी सुल्तान से फिर सहायता की गुहार की और दीव में पुर्तगाली अतिक्रमण को रोकने का प्रयास किया। जब बहादुरशाह और पुर्तगालियों के बीच समझौते के लिए वार्ता चल रही थी उस समय बहादुरशाह दीव के किले के गवर्नर के एक जहाज़ पर था, वार्ता के दौरान बहादुरशाह को विश्वासघात का शक हुआ। उसके बाद हुई झड़प में पुर्तगाली गवर्नर मारा गया और तैरकर बच निकलने के प्रयास में बहादुरशाह डूब मरा। यह घटना 1536 की है। हालाँकि उस्मानी सुल्तान इस्लाम के समर्थक थे और इसलिए पुर्तगालियों का विरोधी होने का दावा करते थे, पर उन्होंने फ़ारस की खाड़ी में या उससे आगे पुर्तगालियों की स्थिति का गंभीर विरोध नहीं किया। यह सब बावजूद इसके कि तुर्क मोटे तौर पर तोपखाने के विकास के साथ-साथ और कुछ कम सीमा तक पश्चिम के नौसेना विज्ञान के विकास के साथ-साथ चल रहे थे। तुर्क नौसेना पूर्वी भूमध्यसागर पर हावी थी और जिब्राल्टर से परे भी धावे बोल रही थी।

भारतीय समुद्रों में पुर्तगालियों के खिलाफ़ तुर्कों ने अपनी नौसैनिक शक्ति का सबसे बड़ा समर्थन 1536 में किया। उनके बेड़े में 45 नावें थीं, जिन पर 20,000 व्यक्ति थे। इनमें 7000 थल सैनिक अर्थात् जाँनिसारी भी थे। सिकंदरिया स्थित वेनिस की गैली नावों के अनेक जहाज़ियों की सेवाएँ ली गईं। इस बेड़े का कमानदार 82 साल का सुलेमान पाशा था जो सुल्तान का सबसे अधिक भरोसे का व्यक्ति था और उसे काहिरा का सूबेदार नियुक्त किया गया था। इसी बेड़े ने 1538 में आकर दीव को घेर लिया। दुर्भाग्य से तुर्क एडमिरल ने दंभ भरा व्यवहार किया जिसके कारण गुजरात के सुल्तान ने अपना समर्थन वापस ले लिया। दो माह की घेराबंदी के बाद यह खबर पाकर पीछे हट गया कि दीव को घेरे से निकालने के लिए एक विशाल पुर्तगाली बेड़ा आ रहा है।

पुर्तगालियों के लिए आगे भी दो दशकों तक तुर्कों का खतरा बना रहा। 1551 में पेरी रईस ने मस्कट और होर्मुज़ के पुर्तगाली किलों पर हमला किया, उसकी सहायता कालीकट का ज़मोरिन कर रहा था। इस बीच दमन के शासक से दमन छीनकर पुर्तगालियों ने अपनी स्थिति मज़बूत बना ली थी। आखिरी उस्मानी अभियान 1554 में अली रईस

नोट

के नेतृत्व में भेजा गया। इन अभियानों की असफलता के कारण अंततः तुर्कों का रवैया बदल गया। 1566 में पुर्तगालियों और उस्मानियों ने अरब सागर में न टकराकर मसालों और पूर्वी व्यापार में हिस्सेदारी का समझौता किया। उस्मानी फिर एक बार यूरोप पर ध्यान देने लगे। इसी कारण पुर्तगालियों के खिलाफ़ उभरती हुई मुगल शक्ति से उनके गठबंधन की संभावना ही नहीं रही।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the Blanks)–

1. काल से पूर्वी वस्तुओं की माँग चली आ रही थी।
2. क्रिस्टोफर कोलंबस ने की खोज की।
3. का प्रयोग आकाशीय पिंडों की ऊँचाई जानने के लिए किया जाता है।
4. के विकास के कारण बेहतर किस्म की बंदूकें बनने लगीं।

11.2 भारतीय व्यापार, समाज और राजनीति पर पुर्तगाली प्रभाव (Portuguese Impact on Indian Trade, Societies and Politics)

आरंभ से ही पुर्तगाली हिंद महासागर के विशाल क्षेत्र की पर्याप्त निगरानी नहीं कर सके और न ही वहाँ व्यापारियों को नियंत्रित कर सके। उन्होंने केवल यह करने का प्रयास किया कि कुछ वस्तुओं पर अपना एकाधिकार बना सकें और कुछ पर कर वसूल करें। इस प्रकार काली मिर्च, हथियारों, गोला-बारूद और जंगी घोड़ों के व्यापार पर शाही एकाधिकार घोषित कर दिया गया। इन वस्तुओं का व्यापार करने की इजाजत किसी भी राष्ट्र को नहीं थी, गैर-सरकारी पुर्तगाली व्यापारियों को भी नहीं। दूसरी वस्तुओं के व्यापार में लगे जहाजों को पुर्तगाली अधिकारियों से परमिट लेना पड़ता था। पुर्तगालियों ने पूरब या अफ्रीका की ओर जाने वाले तमाम जहाजों को मजबूर करने की कोशिश की कि वे गोवा होकर जाएँ और वहाँ सीमा शुल्क अदा करें।

इन नियमों को लागू करने के लिए पुर्तगालियों ने मनमाने ढंग से अपने को यह अधिकार दे डाला कि वे ऐसे जहाजों की तलाशी ले सकते हैं जिनके 'प्रतिबंधित' व्यापार में लगे होने का उन्हें संदेह हो। तलाशी देने से मना करने वाले जहाज को लूट का माल समझकर उसे डुबोया या पकड़ा जा सकता था और उस पर मौजूद स्त्री-पुरुषों को गुलाम बनाया जा सकता था। इसके कारण बहुत-से टकराव हुए। पुर्तगालियों को जल्द ही पता चल गया कि एशियाई समुद्रों में मुक्त व्यापार की प्रथा और परंपरा से एकदम उल्टे तौर-तरीके अपनाने से उनको समुद्र में जितना लाभ मिल रहा था, स्थल पर उससे अधिक की हानि हो रही थी।



सावधानी

यह सच है कि अनेक अरब और भारतीय जहाज तोपें लेकर चलने लगे, पर यह अधिकतर उन समुद्री लुटेरों से सुरक्षा के लिए थे जो मालाबार और अरब के तट पर छाए हुए थे।

एशियाई व्यापारतंत्रों के सुस्थापित प्रतिमानों को पुर्तगाली शायद ही बदल सके। कुछ सबसे अधिक लाभदायक एशियाई व्यापार पर गुजराती और अरब व्यापारियों का वर्चस्व बना रहा। आरंभ में कुछ दशकों को छोड़ दें तो पुर्तगाली यूरोप जाने वाली काली मिर्च और मसालों के व्यापार पर भी एकाधिकार नहीं कर सके। सोलहवीं सदी के अंत तक, स्थल मार्ग और लाल सागर, दोनों के रास्ते, लिबैंट और मिस्र के बाजारों में काली मिर्च की आपूर्ति पहले जितनी ही बनी रही। कारण यह भी था कि एशिया के महान मुगल और सफ़वी साम्राज्य स्थलीय व्यापार को प्रोत्साहन और सुरक्षा देते रहे और यह भी कि गुजराती सुमात्रा में स्थित आचिन से लेकर लक्षद्वीप और लाल सागर के रास्ते मिस्र तक एक नया आपूर्ति मार्ग बनाने में सफल रहे, जहाँ पुर्तगाली नौसेना कार्यरत नहीं हो पा रही थी। न ही पुर्तगाली गोवा को एशियाई व्यापार के ऐसे प्रमुख केंद्र के रूप में विकसित कर सके जो गुजरात में खंबायत

नोट

को और आगे चलकर सूरत को पीछे छोड़ जाए। लेकिन उन्होंने मालाबार के व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव अवश्य डाला और बंगाल के समुद्री व्यापार पर भी, जिस पर वे चटगाँव से धावे बोलते थे।



उदाहरण भारतीय कपड़ों और साथ में चावल और शक्कर के व्यापार पर, जिनके बदले पुर्तगाली दक्षिण-पूर्व से मसाले, पश्चिम एशिया से सोना और घोड़े तथा चीन से रेशम और चीनी-मिट्टी और चीनी बर्तन लाते थे।

पुर्तगालियों ने भारत का जापान के साथ व्यापार अवश्य आरंभ किया जहाँ से ताँबा और चाँदी प्राप्त होते थे। उन्होंने फिलीपीन से भारत का व्यापार भी शुरू किया। फिलीपीन से पुर्तगाली भारतीय कपड़े लेकर दक्षिण अमरीका जाते थे और वहाँ से बदले में चाँदी लाते थे। इस प्रकार, उन्होंने दिखा दिया कि भारत जैसे सुविकसित देश में व्यापार को बाधित करने के लिए तथा नए व्यापार-मार्ग खोलने के लिए भी नौसेना का प्रयोग कैसे किया जा सकता था। पुनर्जागरण काल के बाद यूरोप में विकसित विज्ञान और प्रौद्योगिकी को भारत लाने के लिए पुर्तगाली एक माध्यम का काम भी नहीं कर सके। अंशतः इसका कारण यह था कि स्वयं पुर्तगालियों पर पुनर्जागरण का उतना प्रभाव नहीं पड़ा था जितना इटली या उत्तरी यूरोप पर पड़ा था। बाद में जेसुइटों के नेतृत्व में कैथोलिक धार्मिक प्रतिक्रिया को आगे बढ़ाने के बाद पुर्तगालियों ने तो पुनर्जागरण की ओर से मुँह मोड़ लिया। लेकिन उन्होंने मध्य अमरीका से अनेक खेतिहर पैदावारों को भारत तक स्थानांतरित अवश्य किया, जैसे आलू, तंबाकू, मकई, मटर आदि को। ये फसलें धीरे-धीरे ही फैलीं। पुर्तगाली प्रभाव के कारण भारत में यूरोपीय तर्ज के जहाज-निर्माण, सुधरी किस्म की तोपों और चश्मे जैसी वस्तुओं का प्रयोग शुरू हुआ। पर पुस्तकों की छपाई, दीवार घड़ी जैसे पश्चिमी आविष्कारों का प्रसार नहीं हुआ।

1565 में बन्नीहट्टी में विजयनगर की पराजय ने दक्कन राज्यों को इसके लिए हौसला दिया कि वे दक्कन के समुद्री तट से पुर्तगालियों को भगाने के लिए मिलकर प्रयास करें। दक्षिण में जब तक बीजापुर के सामने विजयनगर का खतरा मौजूद रहा, तब तक पुर्तगालियों के साथ उन्हें शांति की आवश्यकता थी, क्योंकि घोड़ों के व्यापार पर पुर्तगालियों का नियंत्रण था और उनसे शत्रुता का मतलब था कि इस व्यापार की दिशा विजयनगर के अनुकूल हो जाती। 1570 में बीजापुर के सुल्तान अली आदिलशाह ने अहमदनगर के सुल्तान से एक समझौता किया। कालीकट के ज़मोरिन को भी इस गठजोड़ में खींच लिया गया। इन सहयोगियों ने अपने-अपने इलाकों में पुर्तगाली ठिकानों पर हमले का फैसला किया। गोवा पर हमले का नेतृत्व स्वयं आदिलशाह ने किया जबकि निज़ामशाह ने चोल पर कब्जा कर लिया। लेकिन नौसेना की पुष्टपनाही पाने वाली पुर्तगाली प्रतिरक्षा एक बार फिर कुछ अधिक शक्तिशाली निकली। इस तरह पुर्तगाली भारतीय समुद्र और दक्कन समुद्र तट के मालिक बने रहे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें

(State whether the following statements are True/False)–

5. बहादुरशाह की मृत्यु गोली लगने से हुई।
6. पुर्तगालियों ने भारत का जापान के साथ व्यापार आरंभ किया जहाँ से चाँदी और ताँबा प्राप्त होते थे।
7. कुछ लाभदायक एशियाई व्यापार पर गुजराती एवं अरब व्यापारियों का वर्चस्व बना रहा।
8. 1570 में बीजापुर के सुल्तान और अहमदनगर के सुल्तान के बीच एक युद्ध हुआ।

11.3 सारांश (Summary)

- 1498 में वास्को-डि-गामा दो जहाज लेकर कालीकट में उतरा। उनके चालक गुजराती थे जिन्होंने अफ्रीका तट से कालीकट (कोज्जिकोडे) तक इन जहाजों को रास्ता दिखाया था।

नोट

- जब समुद्र का नियंत्रण यूरोपवालों के हाथों में चला गया। भारतीय व्यापार और व्यापारियों को धक्का लगा और अंततः यूरोप वाले भारत और अधिकांश पड़ोसी देशों पर अपना उपनिवेशी शासन और प्रभुत्व स्थापित करने में सफल रहे।
- भारत व दक्षिण-पूर्व एशिया से काली मिर्च स्थल-मार्ग तथा अंशतः समुद्र-मार्ग से लिवेंट (Levant), मिस्र और काला सागर के बंदरगाहों तक लाई जाती थी। पंद्रहवीं सदी के आरंभिक भाग में उस्मानी तुर्कों की सत्ता के उदय के बाद ये सभी क्षेत्र तुर्कों के नियंत्रण में आ गए।
- 1488 में बार्थोलोम्यू दियाज ने केप आफ गुड होप का चक्कर लगाया तथा यूरोप और भारत के बीच सीधे व्यापार संबंध का आधार डाल दिया।
- गोवा को आधार बनाकर पुर्तगालियों ने कोलंबो (श्रीलंका), आचिन (सुमात्रा) और मलक्का बंदरगाह पर किले बनाए तथा अपनी स्थिति को और मजबूत किया।
- काली मिर्च, हथियारों, गोला-बारूद और जंगी घोड़ों के व्यापार पर शाही एकाधिकार घोषित कर दिया गया। इन वस्तुओं का व्यापार करने की इजाजत किसी भी राष्ट्र को नहीं थी, गैर-सरकारी पुर्तगाली व्यापारियों को भी नहीं। दूसरी वस्तुओं के व्यापार में लगे जहाजों को पुर्तगाली अधिकारियों से परमिट लेना पड़ता था।

11.4 शब्दकोश (Keywords)

- कंपास—दिशासूचक यंत्र।
- बुल—पोप का धर्मदेश।
- पुश्तपनाही—पीढ़ी-दर-पीढ़ी संरक्षण या पनाह।

11.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

- पुर्तगालियों के भारत में प्रवेश या आगमन पर प्रकाश डालें।
- पुर्तगालियों के भारतीय समुद्र में वर्चस्व जमाने की कवायदों या कोशिशों का उल्लेख करें।
- भारतीय व्यापार, समाज तथा राजनीति पर पड़े पुर्तगाली प्रभाव का वर्णन करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|----------|-----------|---------------|-------------|
| 1. रोमन | 2. अमरीका | 3. एस्ट्रोलेब | 4. धातुकर्म |
| 5. असत्य | 6. सत्य | 7. सत्य | 8. असत्य। |

11.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

- भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
- प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
- 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
- औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।

नोट

इकाई-12: उत्तर-भारत में साम्राज्य के लिए संघर्ष (लगभग 1400-1525) (Conflict from Empire in North-India) (Near 1400-1525)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

12.1 पूर्वी-भारत : बंगाल, असम और उड़ीसा (Eastern-India : Bengal, Assam and Orissa)

12.2 एकीकरण की ओर : राज्य, धर्म और सामाजिक सुधार
(Towards Integration : State, Religion and Social Reforms)

12.3 सारांश (Summary)

12.4 शब्दकोश (Keywords)

12.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

12.6 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- पूर्वी-भारत के बंगाल, असम और उड़ीसा के बारे में समझने में;
- राज्य, धर्म और सामाजिक सुधार में एकीकरण को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

दिल्ली सल्तनत की बढ़ती कमजोरी, 1398 में दिल्ली पर तैमूर का हमला और उसके बाद तुगलक सुल्तान का अपनी राजधानी में भाग खड़ा होना—इनके कारण अनेक सूबेदार और स्वायत्त रजवाड़ों ने हौसला पाकर स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। दक्कनी राज्यों के अलावा पूरब में बंगाल तथा पश्चिम में सिंध और मुलतान दिल्ली से संबंध तोड़ने में आगे रहे। जल्द ही गुजरात, मालवा और जौनपुर (पूर्वी उत्तर प्रदेश में) के सूबेदारों ने भी अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। अजमेर से मुस्लिम सूबेदार के निकाले जाने के बाद राजपूताना के विभिन्न राज्यों ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी।

धीरे-धीरे विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित राज्यों के बीच एक सुनिश्चित शक्ति-संतुलन पैदा हुआ। पश्चिम में गुजरात, मालवा और मेवाड़ एक दूसरे की शक्ति को संतुलित करने और उसकी वृद्धि पर अंकुश लगाने का काम करने लगे। बंगाल पर उड़ीसा के गजपति शासकों ने नियंत्रण रखा और जौनपुर ने भी। दिल्ली में पंद्रहवीं सदी के लगभग मध्य में लोदियों की शक्ति के उदय के बाद गंगा-यमुना दोआब पर नियंत्रण के लिए उनके और जौनपुर के शासकों के

नोट

बीच लंबा संघर्ष चला। पंद्रहवीं सदी के अंतिम वर्षों में लोदियों द्वारा जौनपुर के अधिग्रहण के बाद स्थिति बदलने लगी। इस विजय के बाद लोदी पूर्वी राजस्थान और मालवा में अपने पाँव फैलाने लगे। अंदरूनी कारणों से इसी समय मालवा का विघटन होने लगा जिससे गुजरात, मेवाड़ और लोदियों के बीच शत्रुता और तेज़ हुई। स्पष्ट हो गया कि इस टकराव में जीतने वाला ही उत्तर भारत पर राज्य करेगा। इस तरह मालवा पर वर्चस्व का संघर्ष उत्तर भारत पर अधिकार के संघर्ष का अखाड़ा बन गया। यही तीखी हो चुकी शत्रुता थी, जिसने संभवतः राणा सांगा को इस आशा में बाबर को भारत आने का निमंत्रण देने के लिए प्रेरित किया कि लोदियों की शक्ति के नष्ट होने पर मेवाड़ ही सबसे बड़ी शक्ति बन जाएगा।

12.1 पूर्वी-भारत : बंगाल, असम और उड़ीसा (Eastern-India : Bengal, Assam and Orissa)

जैसा कि हमने ऊपर देखा, अपनी दूरी और जलवायु के कारण बंगाल बार-बार दिल्ली के नियंत्रण से मुक्त होता रहा और इस कारण भी कि संचार-संपर्क काफ़ी उत्तर-पश्चिम के मामले तय करने के बाद अकबर ने पूर्वी एवं पश्चिमी भारत और दक्कन की ओर ध्यान दिया। उड़ीसा को, जो तब अफ़ग़ान सरदारों के नियंत्रण में था, राजा मानसिंह ने जीता जो उस समय बंगाल का सूबेदार था। मानसिंह ने कूचबिहार तथा ढाका समेत पूर्वी बंगाल के कुछ भागों को भी जीता। अकबर के दूध-भाई मिर्जा अजीज़ कोका ने पश्चिम में काठियावाड़ को जीता। खान-ए-खाना मुनीम खान को शाहजादा मुराद के साथ दक्कन की ओर भेजा गया। दक्कन के घटनाक्रमों की विवेचना एक अलग अध्याय में की जाएगी। यहाँ इतना ही कहना काफ़ी है कि सदी के समाप्त होने तक मुगलों का नियंत्रण अहमदनगर तक फैल चुका था जिसके कारण मुगल पहली बार मराठों के सीधे संपर्क में आए।

इस तरह सदी के अंत तक उत्तर भारत का राजनीतिक एकीकरण पूरा हो चुका था और अब दक्कन में मुगलों का प्रवेश आरंभ हुआ। लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस विशाल साम्राज्य में जनता का सांस्कृतिक और भावात्मक एकीकरण तेज़ी से आगे बढ़ा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the Blanks)–

1. अजमेर से मुस्लिम सूबेदार के निकाले जाने के बाद के विभिन्न राज्यों ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी।
2. सत्ता हाथ में लेने के बाद अकबर ने सबसे पहले का उन्मूलन किया।
3. अमीर वर्ग में हिंदुओं को शामिल करने से के उदारवादी सिद्धांत मजबूत हुए।
4. धर्म और दर्शन में की गहरी दिलचस्पी थी।

12.2 एकीकरण की ओर : राज्य, धर्म और सामाजिक सुधार (Towards Integration : State, Religion and Social Reforms)

हमने देखा है कि देश के विभिन्न भागों में पंद्रहवीं सदी में किस प्रकार अनेक शासकों ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच आपसी समझदारी को बढ़ावा देने का प्रयास किया था। इसके लिए उन्होंने लौकिक और धार्मिक साहित्य का संस्कृत से फ़ारसी में अनुवाद कराया, स्थानीय भाषाओं और साहित्य को संरक्षण दिया, धार्मिक सहिष्णुता की अधिक उदार नीति अपनाई और कुछ मिसालों में तो हिंदुओं को दरबार और सेना में महत्वपूर्ण पद भी दिए। देश के विभिन्न भागों में चैतन्य, कबीर और नानक जैसे लोकप्रिय संतों की एक उल्लेखनीय शृंखला ने किस प्रकार इस्लाम और हिंदू धर्म की बुनियादी एकता पर जोर दिया तथा कर्मकांडों एवं इस्लामी पुस्तकों की शाब्दिक व्याख्या के बदले प्रेम और भक्ति पर आधारित धर्म को अपनाने का आग्रह किया। इस तरह उन्होंने ऐसा वातावरण बनाया

नोट

जिसमें उदार भावनाओं और विचारों का प्रसार हुआ तथा धार्मिक संकीर्णता को हीन दृष्टि से देखा जाने लगा। यही वातावरण था, जिसमें अकबर का जन्म और पालन-पोषण हुआ था।



नोट्स

अपने हाथों में सत्ता लेने के बाद अकबर ने पहले-पहल जो कदम उठाए उनमें एक था जज़िया का उन्मूलन जिसे एक मुस्लिम राज्य में गैर-मुस्लिमों को देना पड़ता था। यह कोई भारी कर न था, पर इसे इसलिए नापसंद किया जाता था कि यह प्रजा और प्रजा में भेद करता था।

साथ ही, अकबर ने प्रयाग, बनारस आदि स्थानों पर स्नान संबंधी तीर्थयात्रा कर भी समाप्त कर दिया। उसने युद्धबंदियों से जबरन इस्लाम स्वीकार कराने की प्रथा भी समाप्त कर दी। इसके कारण धार्मिक विश्वासों से परे, सभी नागरिकों के समान अधिकारों पर आधारित एक साम्राज्य के लिए आवश्यक आधार तैयार हुआ।

अमीर वर्ग में हिंदुओं को शामिल करने से साम्राज्य के उदारवादी सिद्धांत और मज़बूत हुए। इनमें से अधिकांश तो राजपूत राजा थे, जिनमें से अनेक के परिवारों से अकबर ने विवाह-संबंध स्थापित किए और जिनके साथ उसने व्यक्तिगत रिश्ते भी जोड़ लिए थे, पर योग्यता के आधार पर दूसरों को भी मनसब दिए गए।



उदाहरण

इन लोगों में सबसे योग्य और सबसे प्रसिद्ध टोडमरल था जो राजस्व के विषयों का विशेषज्ञ था और दीवान के पद तक ऊपर उठा। दूसरा बीरबल था जो स्वयं बादशाह को प्रिय था। इनके अलावा कायस्थ भी थे जो वित्तीय मामलों का प्रबंध करते थे।

हिंदू प्रजा के प्रति अकबर के रवैये का गहरा संबंध उसके इस विचार से था कि एक शासक को अपनी प्रजा से कैसा व्यवहार करना चाहिए। ये विचार, जिनको अकबर के जीवनी-लेखक अबुल फजल ने बहुत सावधानी से स्पष्ट किया है, बादशाहत के बारे में तैमूरी, फ़ारसी और भारतीय विचारों के मेल थे। अबुल फजल के अनुसार एक सच्चे शासक का पद भारी ज़िम्मेदारी का पद है जो दैवी बोध (फ़र-ए-एज़ादी) पर आधारित होता है। इसलिए अल्लाह और एक सच्चे शासक के बीच कोई और खड़ा नहीं होना चाहिए। पंथ और धर्म के भेद से ऊपर उठकर अपनी प्रजा से पिता-समान प्रेम, इतना विशाल-हृदय कि बड़े-छोटे सबकी इच्छाएँ पूरी हों, प्रार्थना और भक्ति तथा अल्लाह में दिन-ब-दिन बढ़ता विश्वास—ये ही एक सच्चे शासक की विशेषताएँ हैं। किसी एक पद या व्यवसाय के व्यक्तियों को दूसरे के कर्तव्यों और दायित्वों में हस्तक्षेप की अनुमति न देकर समाज में संतुलन बनाए रखना भी एक शासक का कर्तव्य है। सबसे बड़ी बात यह है कि वह पंथगत टकराव की धूल को उठने ही न दे। इन्हीं सब बातों से मिलकर वह नीति बनी जिसे सुलहकुल (सबके लिए शांति) कहा जाता है।

आरंभ में अकबर एक रूढ़िवादी मुस्लिम था। राज्य के प्रमुख काज़ी अब्दुन्नबी खान का जो सद्र-उस-सदूर (काज़ियों का काज़ी) के पद पर आसीन था, वह बहुत आदर करता था और एक अवसर पर तो उसकी जूती भी उठाकर उसे दी थी। पर अकबर जब तक वयस्क हुआ, तब तसव्वुफ (सूफ़ीवाद) उसे प्रभावित करने लगा जिसका पूरे देश में प्रसार हो रहा था। कहा जाता है कि वह रात-रात भर अल्लाह के ध्यान में खोया हुआ, बराबर उसके नाम का जाप करते हुए गुज़ार देता था और अपनी सफलता पर आधार व्यक्त करने के लिए उसने आगरा में अपने महल के पास एक पुरानी इमारत में एक बड़े-से चौरस पत्थर पर उपासना और ध्यान में कई-कई सुबहें गुज़ारीं। धीरे-धीरे वह संकीर्ण रूढ़िवाद के रास्ते से हटता गया। उसने, जैसा कि हमने देखा जज़िया और तीर्थयात्रा कर समाप्त कर दिया था।



क्या आप जानते हैं? धर्म और दर्शन में अकबर की गहरी दिलचस्पी थी।

12.3 सारांश (Summary)

नोट

- दिल्ली सल्तनत की बढ़ती कमजोरी, 1398 में दिल्ली पर तैमूर का हमला और उसके बाद तुगलक सुल्तान का अपनी राजधानी में भाग खड़ा होना—इनके कारण अनेक सूबेदार और स्वायत्त रजवाड़ों ने हौसला पाकर स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। दक्कनी राज्यों के अलावा पूरब में बंगाल तथा पश्चिम में सिंध और मुलतान दिल्ली से संबंध तोड़ने में आगे रहे।
- अपनी दूरी और जलवायु के कारण बंगाल बार-बार दिल्ली के नियंत्रण से मुक्त होता रहा और इस कारण भी कि संचार-संपर्क काफ़ी उत्तर-पश्चिम के मामले तय करने के बाद अकबर ने पूर्वी एवं पश्चिमी भारत और दक्कन की ओर ध्यान दिया।
- पंद्रहवीं सदी में अनेक शासकों ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच आपसी समझदारी को बढ़ावा देने का प्रयास किया था। इसके लिए उन्होंने लौकिक और धार्मिक साहित्य का संस्कृत से फ़ारसी में अनुवाद कराया, स्थानीय भाषाओं और साहित्य को संरक्षण दिया, धार्मिक सहिष्णुता की अधिक उदार नीति अपनाई और कुछ मिसालों में तो हिंदुओं को दरबार और सेना में महत्वपूर्ण पद भी दिए।
- अकबर ने प्रयाग, बनारस आदि स्थानों पर स्नान संबंधी तीर्थयात्रा कर भी समाप्त कर दिया। उसने युद्धबंदियों से जबरन इस्लाम स्वीकार कराने की प्रथा भी समाप्त कर दी। इसके कारण धार्मिक विश्वासों से परे, सभी नागरिकों के समान अधिकारों पर आधारित एक साम्राज्य के लिए आवश्यक आधार तैयार हुआ।

12.4 शब्दकोश (Keywords)

- सुलहकुल—सबके लिए शांति की व्यवस्था।
- तसव्वुफ—सूफीवाद।
- सद्र-उस-सदूर—काजियों का काजी।

12.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

- दिल्ली सल्तनत से बंगाल, असम और उड़ीसा (पूर्वी भारत) के स्वतंत्र होने का उल्लेख करें।
- हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एकीकरण के प्रयासों का वर्णन करें।
- सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों में राजनीतिक (शासकों) प्रयासों का वर्णन करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- राजपूताना
- जजिया
- साम्राज्य
- अकबर।

12.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

- भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
- प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
- 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
- औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
- मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
- सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
- मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
- भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-13: 18वीं सदी की राज्य-व्यवस्था (The 18th Century Politics)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

13.1 राजपूत राज्य (Rajput States)

13.2 पंजाब में सिख-शक्ति का उत्थान (Rise of Sikh-Power in Punjab)

13.3 मैसूर-राज्य का उत्थान और पतन (Rise and Decline of Mysore State)

13.4 मराठे (Marathas)

13.5 सारांश (Summary)

13.6 शब्दकोश (Keywords)

13.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

13.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- राजपूत राज्य एवं पंजाब में सिख-शक्ति के उत्थान को जानने में;
- मैसूर-राज्य के उत्थान और पतन को जानने में;
- मराठों को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

18वीं सदी में भारत का राजनीतिक विभाजन हुआ। मुगल बादशाह मुहम्मदशाह (1719-1748 ई.) के शासनकाल में मुगल-साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तथा हैदराबाद, बंगाल और अवध में प्रायः स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। मराठों ने न केवल महाराष्ट्र के लिए स्वतन्त्रता ही प्राप्त कर ली अपितु पेशवा बाजीराव के समय (1720-40 ई.) में उत्तर-भारत के विभिन्न सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल की एवं दिल्ली के निकट तक धावे किये। इससे मुगल-साम्राज्य शीघ्रता से पतनोन्मुख हुआ। यद्यपि नाम के लिए मुगल-बादशाहत 1858 ई. तक रही जब तक कि अंग्रेजों ने 1857 ई. के विद्रोह को दबाने के पश्चात् अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह द्वितीय को सिंहासन से हटाकर 1858 ई. में ग़ुल नही भेज दिया। वस्तुतः मुगल-बादशाहत उससे बहुत पहले ही नष्ट हो गयी थी और 18वीं सदी में ही भारत में विभिन्न शक्तियों का उदय हो गया था जिनमें सत्ता और राज्य-विस्तार के लिए संघर्ष हुआ। राजस्थान में राजपूत-शासक स्वतन्त्र हो गये, पंजाब में सिखों ने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये, दक्षिण-भारत में हैदराबाद ने मैसूर के स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली तथा मराठों ने भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति होने

नोट

का दावा किया। राजनीतिक विभक्तीकरण की इन परिस्थितियों में यूरोपीय राज्यों के निवासियों ने भी भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप किया, परस्पर संघर्ष किया और भारतीय नरेशों से भी संघर्ष किया। 18वीं सदी के इस राजनीतिक उथल-पुथल और संघर्ष के समय में अधिकांशतया मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बने रहे परन्तु 18वीं सदी के समाप्त होने के समय तक यह स्पष्ट हो गया कि भारत की सत्ता के लिए उनके मुख्य शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी अंग्रेज थे। अंग्रेजों ने अपने मुख्य यूरोपियन प्रतिद्वन्दी फ्रान्सीसियों को 1761 ई. में पाण्डिचेरी पर अधिकार करके अपने मार्ग से हटा दिया। 1757 ई. में प्लासी के युद्ध और 1764 ई. में बक्सर के युद्ध को जीतकर उन्होंने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की वास्तविक सत्ता अपने हाथों में ले ली। 1799 ई. में उन्होंने अपने एक स्थायी शत्रु टीपू को परास्त करके मैसूर राज्य के विरोध को समाप्त कर दिया और मराठों से प्रथम युद्ध करके 1782 ई. में सम्मानित शर्तों पर उनसे सालबाई की सन्धि की। इस प्रकार 18वीं सदी भारत में मुगल-साम्राज्य के पतन और उसके परिणामस्वरूप उसके विभिन्न भागों में बने स्वतन्त्र राज्यों तथा भारत में आयी हुई यूरोपियन जातियों के पारस्परिक संघर्ष की सदी रही।

13.1 राजपूत-राज्य (Rajput States)

मुगल-काल में अकबर ने राजपूतों के प्रति एक निश्चित नीति अपनायी थी जिसके परिणामस्वरूप मेवाड़ के अतिरिक्त राजस्थान के सभी राजपूत-शासकों ने मुगलों की अधीनता को स्वीकार कर लिया था। 1580 ई. में जब अकबर ने प्रशासकीय सुविधा की दृष्टि से अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को बारह सूबों में विभाजित किया तब उसने राजस्थान के अपने अधीन सभी राज्यों को एक सूबा में संगठित किया और उसे अजमेर-सूबा पुकारा। इस सूबा की राजधानी अजमेर रखी गयी। अजमेर-सूबा में भी एक मुगल-सूबेदार नियुक्त किया गया जो सूबा की देखभाल करता था। परन्तु उसके प्रशासकीय अधिकार बहुत ही छोटे कुछ राज्यों के शासन तक सीमित थे। अन्य सभी राजपूत-राजा अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र थे और मुगल बादशाह से उनका सीधा सम्बन्ध था। इस दृष्टि से वे अपने और अपने राज्यों के कार्य के सम्बन्ध में सूबेदार के प्रति नहीं अपितु मुगल बादशाह के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी थे, परन्तु अकबर की इस व्यवस्था ने इन राजपूत-शासकों और उनकी प्रजा को यह स्पष्ट कर दिया कि मुगल बादशाह उनका सम्प्रभु था। इस प्रकार, अकबर ने राजस्थान के राजपूत-शासकों को आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करके भी उनके राज्यों को मुगल-साम्राज्य का अन्तरंग अंग बनाने में सफलता प्राप्त की थी। मुगलों की यह नीति औरंगजेब के काल तक रही, परन्तु जब औरंगजेब ने जसवन्तसिंह के पुत्र अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार करने से इंकार कर दिया तब मारवाड़ ने विद्रोह किया, मेवाड़ ने उसका साथ दिया। यद्यपि मेवाड़ ने मुगलों से शीघ्र सन्धि कर ली परन्तु मारवाड़ बीच-बीच में सन्धि करते हुए भी औरंगजेब के अन्तिम समय तक संघर्षरत रहा जब तक कि मुगल बादशाह ने अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार नहीं कर लिया। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों ने राजस्थान के शासकों के साथ कोई सुनिश्चित नीति नहीं अपनाई बल्कि उसके प्रथम उत्तराधिकारी बहादुरशाह प्रथम का पहला प्रयत्न इन शासकों को अपने दबाव में लाने का रहा, परन्तु वह इस कार्य में असफल रहा। इसके प्रतिक्रियास्वरूप मेवाड़ के राणा अमरसिंह, मारवाड़ के शासक अजीतसिंह और जयपुर के राजा जयसिंह ने मिलकर राजस्थान में मुगलों के प्रभाव को नष्ट करने का प्रयत्न किया। पंजाब में सिखों के विद्रोह के कारण बहादुरशाह ने इन राजपूत-शासकों से समझौता करना उचित समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि इन राजपूत-शासकों को भी मुगलों की दुर्बलता समझ में आ गयी और उन्होंने अपने अधिकारों में वृद्धि की तथा 1740 ई. तक वे भी अर्द्ध-स्वतन्त्रता की उसी स्थिति में पहुँच गये जो हैदराबाद, अवध और बंगाल के राज्यों ने प्राप्त कर ली थी, परन्तु राजपूत-राज्यों ने इसका कोई लाभ नहीं उठाया। उनमें अधिकांशतया परस्पर संघर्ष रहा अथवा सिंहासन के उत्तराधिकार के लिए युद्ध होते रहे जिसका लाभ उभरती हुई मराठा-शक्ति ने उठाया। मराठों ने उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके राजस्थान को अपने प्रभाव में ले लिया। इस कारण राजपूत-शासक धीरे-धीरे मराठों की अधीनता में चले गये। उनका मराठों से वही सम्बन्ध हो गया जो पहले मुगल बादशाह से था। बाद में जब भारत में मराठों का स्थान अंग्रेजों ने ले लिया तब राजस्थान के ये राजपूत-शासक अंग्रेजों की सम्प्रभुता के अधीन हो गये। 16वीं सदी में जब राजपूतों के सम्बन्ध मुगलों से हो गये तब उन सम्बन्धों का प्रभाव उनके शासन, राजनीति, सभ्यता

नोट

और संस्कृति पर आया। यद्यपि मुगल बादशाहों ने राजपूत-राजाओं के शासन और परम्पराओं में कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं किया तब भी उनके शासन और रीति-रिवाजों पर मुगलों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।



नोट्स

शासन में राजा जिसे राणा, महाराणा, महाराजा, राजाधिराज आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता था, राज्य का प्रधान था और राज्य की वैधानिक कार्यकारिणी, न्यायिक और सैनिक-शक्तियाँ उसमें केन्द्रित थीं।

उसकी सलाह के लिए मन्त्रियों की एक समिति अवश्य होती थी परन्तु उसकी सलाह मानने के लिए राजा बाध्य नहीं था। राजपूत-शासकों में यह परम्परा थी कि उनके सबसे बड़े पुत्र के वयस्क होने पर उसे सिंहासन का उत्तराधिकारी अर्थात् युवराज घोषित कर दिया जाता था और शासन में उससे भी सहयोग लिया जाता था। सबसे बड़े पुत्र के अयोग्य होने पर राजा या उसकी मृत्यु हो जाने की स्थिति में राज्य के सामन्त-गण उसके किसी अन्य पुत्र या निकट के किसी सम्बन्धी को गद्दी पर बैठा देते थे, ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। मुगल बादशाह अकबर ने राजपूत-शासकों पर अपनी सम्प्रभुता को प्रभावी बनाये रखने के लिए राजा की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी को टीका अर्थात् माथे पर तिलक लगाकर उसे राजा की मान्यता प्रदान करने की प्रथा आरम्भ की। यह प्रथा एक परम्परा बन गयी जिसका प्रयोग मुगल बादशाहों ने अपने पक्ष में किया। कई अवसरों पर मुगल बादशाहों ने विवादग्रस्त उत्तराधिकार के समय में अपने ऐच्छिक व्यक्ति को टीका लगाकर राज्य का उत्तराधिकारी बनाया और इस प्रकार राजपूत-शासकों के सम्प्रभु होने के अधिकार का अपने पक्ष में प्रयोग किया। मुगल बादशाह अधिकांशतया राजपूत-शासकों की नियुक्ति उनके राज्य के बाहर ही करते थे जिसके कारण राजपूत-शासक अपने राज्य का शासन प्रत्यक्ष रूप से करने की स्थिति में नहीं रह गये, उनकी मन्त्रिपरिषद् का महत्त्व कम हो गया तथा केन्द्रीय विभागों के प्रधान शासन में महत्त्वपूर्ण बन गये। राजपूत-शासन में केन्द्र पर दीवान, बख्शी, खान-ए-सामाँ और शहर कोतवाल आदि पदाधिकारियों का होना मुगल-शासन के प्रभाव को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार, राज्य को परगना, तहसील और गाँव में बाँटना तथा वहाँ हाकिम, फौजदार, अमीन, कानूनगो, पटवारी आदि अधिकारियों के पदों का नामांकन और उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों का वर्गीकरण भी मुगल-शासन प्रणाली के समान ही किया गया था। परगना का सबसे बड़ा अधिकारी हाकिम था तथा शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए फौजदार की नियुक्ति होती थी। तहसील में शान्ति और सुरक्षा का उत्तरदायित्व थानेदार का होता था और गाँव के शासन की देखभाल चौधरी या पटवारी और ग्राम-पंचायतें करती थीं। यह कहना उचित नहीं है कि सभी राजपूत-राज्यों में शासन-व्यवस्था समान थी। वस्तुतः यह कहना अधिक उचित है कि उनमें स्थानीय आधार पर पदाधिकारियों के नामांकन, अधिकारों और लगान-सम्बन्धी शासन को लेकर अन्तर थे यद्यपि विस्तृत रूप में उनमें समानता थी जो उनके शासन पर मुगलों का प्रभाव आ जाने के कारण थी। मूलतया, राजपूतों की सामन्त-व्यवस्था भी सभी राजपूत-राज्यों को समता प्रदान करने में सहायक थी। यह सामन्त-व्यवस्था यूरोप की सामन्त-व्यवस्था से भिन्न थी। राजपूत-राजा के सामन्त अधिकांशतया उसके निकट के सम्बन्धी या रक्त-सम्बन्धों से जुड़े हुए परिवार के ही व्यक्ति होते थे। उनके पारस्परिक सम्बन्ध प्रभुत्व और रिश्तेदारी के होते थे न कि किसी समझौते के जैसा कि यूरोप में था। इसके अतिरिक्त, जबकि यूरोप में सामन्त अपने सिक्के ढालने और अपने प्रदेश में शासन और न्याय करने का स्वतन्त्र अधिकार रखते थे, राजपूतों में ऐसा नहीं था। इसके अतिरिक्त, जबकि यूरोप में भूमि राजा की मानी जाती थी जिसे राजा सामन्तों को प्रदान कर सकता था, भारत में प्रत्येक शासन के अन्तर्गत और राजपूतों में भी भूमि का मालिक सामन्त को नहीं बल्कि किसान को माना गया था जो भूमि पर खेती करता था। परन्तु राजपूतों की अपनी सामन्त-व्यवस्था में तो समानता थी ही जो उनके विभिन्न राज्यों के शासन में समता प्रदान करती थी। यह भी कहना उचित है कि राजपूत-राजा और सामन्तों के सम्बन्ध सर्वदा एक जैसे नहीं रहे थे। शक्तिशाली मुगल-शासकों का आश्रय पाकर राजपूत-शासकों की सामन्तों पर निर्भरता कम हुई और उन्होंने सामन्तों के अधिकारों में कमी की परन्तु जब मुगल बादशाह दुर्बल हो गये तब सामन्तों ने अपने प्रभाव को पुनः बढ़ा लिया।

राजपूत राज्यों की **आर्थिक स्थिति** में भी कृषि और उस पर लिये जाने वाले लगान का जिसे 'भोग' या 'हासिल' पुकारा जाता था, मुख्य स्थान था। भूमि चार प्रकार की थी। राजा की भूमि **खालसा-भूमि** कहलाती थी जिससे राज्य

नोट

उत्पादन का 1/3 से 1/2 भाग लगान के रूप में लेता था। सामन्तों की भूमि को **जागीर-भूमि** पुकारते थे जो अपनी भूमि की आय का 8% भाग (जिसे '**रेख**' पुकारते थे) राजा को उसके सैनिक-व्यय के लिए देते थे। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक सामन्त राजा की सैनिक सहायता करने के लिए भी बाध्य था जिसे '**चाकरी**' पुकारते थे। तीसरे प्रकार की भूमि **भौम** थी जिसके मालिक को '**भौमिया**' पुकारते थे, जो कृषि-कर से मुक्त भूमि थी और जिस पर '**भौमिया**' का वंशानुगत अधिकार था तथा जिसके बदले में वह गाँव, सड़कों, यातायात और अपने क्षेत्र में खजाने की सुरक्षा की व्यवस्था करता था। चौथी भूमि '**मुआफी**' भूमि थी जो दान या पारितोषिक के रूप में व्यक्तियों को दी जाती थी तथा कर-मुक्त थी। राज्य की ओर से किसानों को पट्टे दिये जाते थे। सामन्त भी किसानों को पट्टे देते थे। इन पट्टों द्वारा भूमि पर किसान के स्वामित्व को स्वीकार किया जाता था।



सावधानी

विद्रोही होने पर, उत्तराधिकारी न होने पर अथवा राज्य के कानूनों का उल्लंघन करने पर ही राज्य किसान को उसकी भूमि से पृथक् कर सकता था अन्यथा नहीं।

किसानों का एक वर्ग ऐसा भी था जिनको पट्टे अस्थायी रूप से दिये जाते थे। ऐसी स्थिति में उन किसानों का अपनी भूमि पर वंशानुगत अधिकार नहीं होता था अपितु उनका अधिकार भूमि पर उतने समय के लिए ही होता था जितना समय उनके पट्टे में लिखा होता था। खड़ी फसल पर लगान तय करना, फसल के कटने के पश्चात् लगान तय करना और भूमि की पैमाइश के आधार पर लगान तय करना आदि विभिन्न तरीके लगान को निश्चित करने के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। लगान गल्ले की शक्ल में या सिक्के की शक्ल में अर्थात् दोनों में से किसी भी शक्ल में दिया जा सकता था। अलग-अलग फसलों के लिए अलग-अलग व्यवस्था थी। लगान निश्चित करते समय किसान का आर्थिक स्तर, भूमि की किस्म, सिंचाई की सुविधा, गाँव से खेत की दूरी आदि का भी ध्यान रखा जाता था। कठिनाइयों के अवसर पर किसानों को लगान में छूट भी दी जाती थी। किसानों से बेगार ली जाती थी, ऐसे भी प्रमाण प्राप्त हुए हैं। लगान के अतिरिक्त समय-समय पर सामन्तों तथा अन्य अधिकारियों द्वारा दिये गये नज़राने जिन्हें '**पेशकश**' कहते थे और सीमा-शुल्क जिसे '**राहदारी**' पुकारते थे, राज्य की आय के अन्य साधन थे। बिक्री-कर, मकान-कर आदि भी राज्य की आय के अन्य स्रोत थे। राज्य का **दीवान** (प्रधान वित्त-अधिकारी), उसकी सहायता के लिए **दीवान-ए-तन**, **हवलदार**, **दरोगा**, **अमीन**, **पोतदार**, **कामदार**, **तहसीलदार** आदि विभिन्न राज्य-अधिकारी थे। इनके अतिरिक्त **चौधरी**, **पटवारी**, और **साहण** गाँव के पैतृक अधिकारी थे जो लगान वसूल करने में राज्य की सहायता करते थे परन्तु वेतनभोगी अधिकारी नहीं थे। मुगलों की लगान व्यवस्था का प्रभाव राजपूतों की व्यवस्था पर था, यह उनके अधिकारियों के नामांकन से स्पष्ट होता है। मुगल-साम्राज्य के सम्पर्क में आने से राजस्थान के व्यापार में प्रगति हुई थी। मुगल-प्रदेशों में राजस्थान का चमड़े और लकड़ी का समान, संगमरमर पत्थर से बनी हुई वस्तुएँ, ऊँट आदि की माँग होने लगी। राजस्थान की भौगोलिक स्थिति दक्षिण-भारत, गुजरात, मालवा और उत्तर-भारत से व्यापार करने के लिए सुविधाजनक थी। राजस्थान में सड़कों की कमी भी न थी। मेवाड़, रणथम्भौर, जयपुर, अजमेर, मेड़ता, सिवान आदि से विभिन्न सड़कें विभिन्न स्थानों को जाती थीं और राजस्थान के सभी नगर एक-दूसरे से सड़कों से जुड़े हुए थे। इस कारण, सम्पूर्ण मुगल-काल में राजस्थान के व्यापार में उन्नति हुई, नई मण्डियाँ खुलीं तथा नवीन बाजारों और हाटों (व्यापारिक मेले) की व्यवस्था हुई। उद्योगों की दृष्टि से भी राजस्थान में सूती वस्त्र, लोहे के शस्त्र, आभूषण, पत्थर निकालना, चमड़े की वस्तुएँ आदि बनाने के उद्योग और नमक बनाने का उद्योग काफी प्रगतिशील था। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मुगल-साम्राज्य के सम्पर्क में आने से राजस्थान आर्थिक दृष्टि से प्रगति की और अग्रसर हुआ था।

सामाजिक दृष्टि से कुल अथवा जातीय-व्यवस्था राजस्थान में दृढ़ रही। राजपूतों की सामन्त-व्यवस्था ने उसे कठोर ही बनाया। ब्राह्मणों और क्षत्रिय-राजपूतों का समाज में श्रेष्ठ स्थान रहा। खान-पान, वेश-भूषा और रहन-सहन के साधनों में, मुगल-दरबार के सम्पर्क में आने से, मुख्यतया शासक-वर्ग में सुधार हुआ। परन्तु सामाजिक कुरीतियाँ जैसे सती-प्रथा, अल्पायु-विवाह, विधवाओं का विवाह न होना, जाति-भेद आदि समाज में विद्यमान रहे। मुगलों के सम्पर्क में आने से राजपूत-शासकों में विलासिता की वृद्धि हुई। अकबर के समय में राजा मानसिंह ने भी अपना हरम स्थापित

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. राजा को सामंतों तथा अधिकारियों द्वारा दिये गये सीमा-शुल्क को कहते थे।
 (अ) जमींदारी (ब) राहदारी
 (स) मनसबदारी (द) सूबेदारी
6. मुगल-साम्राज्य के संपर्क में आने से राजस्थान के में प्रगति हुई।
 (अ) व्यापार (ब) कृषि
 (स) संस्कृति (द) पहनावा
7. सिखों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह के दो पुत्रों को ने दीवार में जिन्दा चिनवा दिया था।
 (अ) राजपूतों (ब) मुगलों
 (स) ब्राह्मणों (द) यवनों
8. बन्दा-बहादुर का उद्देश्य में एक सिख राज्य स्थापित करने का था।
 (अ) हरियाणा (ब) उत्तर प्रदेश
 (स) पंजाब (द) दिल्ली

13.3 मैसूर-राज्य का उत्थान और पतन (Rise and Decline of Mysore State)

मैसूर विजयनगर-राज्य के अधीन था। 1565 ई. में तालीकोटा के युद्ध के पश्चात् जब विजयनगर-राज्य दुर्बल हो गया तब मैसूर-राज्य ने एक स्वतंत्र राज्य की भाँति व्यवहार करना आरम्भ कर दिया, यद्यपि नाम के लिए वह विजयनगर-राज्य के स्वामित्व को स्वीकार करता रहा। 1612 ई. में विजयनगर के शासक वेंकट द्वितीय ने मैसूर के सरदार वाडियार को 'राजा' की उपाधि से विभूषित किया, तब से मैसूर-राज्य की महत्वाकांक्षाएँ बढ़ गयीं। उसके शासकों ने स्वतन्त्र शासकों की भाँति ही राज्य-विस्तार की नीति अपनायी और पर्याप्त सफल भी रहे। 1732 ई. में अल्पायु में राजकुमार कृष्णराज मैसूर-राज्य का राजा बना। उसके समय में वास्तविक शासन-सत्ता उसके मन्त्री नन्दराज के हाथों में चली गयी। उस स्थिति का लाभ हैदरअली ने उठाया और 1761 ई. में उसने सत्ता अपने हाथों में ले ली।

हैदरअली का जन्म मैसूर-राज्य में बुदीकोंट नामक स्थान पर 1721 ई. में हुआ था। उसके पूर्वज दिल्ली से गुलबर्गा आये थे। और कृषि करते थे। हैदरअली के पिता फतह मुहम्मद ने, सर्वप्रथम, सैनिक-सेवा आरम्भ की और मैसूर-राज्य में फौजदार का पद और बुदीकोंट की जागीर प्राप्त की। 1728 ई. में फतह मुहम्मद की मृत्यु हो गयी जबकि हैदरअली बच्चा ही था जवान होकर हैदरअली सेना में भर्ती हो गया। उस समय कृष्णराज मैसूर का राजा था। हैदरअली साहसी और सैनिक दृष्टि से प्रतिभावान था। इस कारण, उसके पद में उन्नति होती गयी। हैदराबाद के निजाम नासिरजंग के कत्ल हो जाने और मुजफ्फरजंग के निजाम बनने के अवसर पर हैदरअली को सौभाग्य से नासिरजंग के खजाने का कुछ भाग मिल गया। इससे उसे अपने सैनिकों की संख्या बढ़ाने का अवसर मिला। उसने यूरोपीय युद्ध-शैली की श्रेष्ठता को समझा और अपने सैनिकों को उसी आधार पर प्रशिक्षित किया। नन्दराज, एक बार त्रिचनापल्ली पर आक्रमण के अवसर पर, उसे अपने साथ ले गया जिसने उसे युद्ध का अनुभव करा दिया। सौभाग्य से हैदरअली को उस युद्ध में अंग्रेजों की कुछ तोपें प्राप्त हो गयीं। इससे उसे अपनी सैनिक-शक्ति में वृद्धि करने का अवसर मिला। 1755 ई. में उसे डिण्डीगल का फौजदार नियुक्त किया गया। वहाँ उसने फ्रान्सीसियों की सहायता से एक शस्त्रागार स्थापित किया और उनसे अपने सैनिकों को यूरोपीय युद्ध-पद्धति का प्रशिक्षण भी दिलवाया। उस समय मैसूर-राज्य पर मराठों के आक्रमण होते रहते थे जिनसे छुटकारा अधिकांशतया धन देकर ही पाया जाता था। हैदराबाद का निजाम भी मैसूर-राज्य के विरुद्ध था और यदा-कदा उससे धन वसूल करता था। इन पड़ोसी राज्यों द्वारा उत्पन्न की गयी कठिनाइयों से भी हैदरअली को अपने उत्थान में सहायता मिली।



क्या आप जानते हैं? हैदरअली की सैनिक-प्रतिभा और शक्ति को देखकर उसे राज्य का सेनापति नियुक्त किया गया। इसका उसने पूर्ण लाभ उठाया और 1761 ई. में वह राज्य का सर्वेसर्वा बन गया।

नोट

मैसूर के राजा को वर्ष में एक बार उसकी प्रजा को दिखा दिया जाता था परन्तु शासन में उसका कोई महत्त्व न था। हैदरअली ही राज्य का प्रधान बन गया यद्यपि उसने सुल्तान का पद कभी भी ग्रहण नहीं किया। हैदरअली ने मैसूर-राज्य को विस्तृत किया। वह जब डिण्डीगल का फौजदार था तभी से अपने सीमा-क्षेत्र को बढ़ा रहा था। बाद में भी वह इसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा। हैदराबाद और कर्नाटक के उत्तराधिकार के युद्ध, पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठों की पराजय और अंग्रेजों तथा फ्रान्सीसियों की कट्टर शत्रुता ने उसे अपने राज्य की सीमा में विस्तार करने का अवसर दिया क्योंकि इनमें से कोई भी काफी समय तक मैसूर-राज्य की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं पा सका। हैदरअली ने धीरे-धीरे अपने निकट के क्षेत्रों जैसे बेदनूर, कनारा आदि पर अधिकार कर लिया और बल्लालपुर, रायदुर्ग, चित्तलदुर्ग आदि के सरदारों को अपना प्रभुत्व स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार, हैदरअली ने दक्षिण-भारत में मैसूर-राज्य को एक विस्तृत और शक्तिशाली राज्य बनाने में सफलता प्राप्त की। परन्तु मराठे और निजाम मैसूर-राज्य के उत्थान के प्रति उदासीन नहीं थे। निजाम अपने पड़ोस में एक शक्तिशाली राज्य को पसन्द नहीं करता था और मराठे दक्षिण में एक अन्य राज्य को पनपने का अवसर देना नहीं चाहते थे। अंग्रेज भी आरम्भ से ही मैसूर-राज्य के विरोधी हो गये थे। हैदरअली का सैनिक-प्रशिक्षण के लिए फ्रान्सीसियों पर निर्भर करना, माही के बन्दरगाह पर अंग्रेजों का अधिकार करना, हैदरअली के पुत्र और उत्तराधिकारी टीपू का भी अंग्रेजों के विरुद्ध रहना तथा ट्रवनकोर के राजा पर आक्रमण करना जो अंग्रेजों का मित्र-राज्य था, समय-समय पर ऐसे कारण बने जिनसे अंग्रेजों और मैसूर-राज्य के सम्बन्ध शत्रुता के रहे। वैसे भी अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति भारत में किसी भी शत्रु-राज्य को न पनपने देने की थी। अंग्रेज, निजाम और मराठे, टीपू से इस कारण भी असन्तुष्ट हुए क्योंकि उसने 1786 ई. में सुल्तान का पद ग्रहण कर लिया।



उदाहरण इस कारण हैदराबाद का निजाम, मराठे और मुख्यतया अंग्रेज मैसूर-राज्य के विरोधी रहे।

निस्सन्देह, निजाम और मराठे अप्रत्यक्ष रूप से मैसूर-राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुए क्योंकि समय-समय पर उन्होंने या तो अंग्रेजों की मैसूर-राज्य के विरुद्ध सहायता की अथवा अंग्रेजों और मैसूर-राज्य में युद्ध होने की स्थिति में वे तटस्थ हो गये, परन्तु अंग्रेज प्रत्यक्ष रूप से मैसूर-राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुए। अंग्रेजों ने चार युद्ध मैसूर-राज्य के विरुद्ध लड़े—पहला 1766-1769 ई. में, दूसरा 1780-1784 ई. में तीसरा, 1790-1792 ई. में और चौथा 1799 ई. में। दूसरे आँग्ल-मैसूर युद्ध के अवसर पर हैदरअली की मृत्यु हो गयी जिसके कारण बाद के युद्ध अंग्रेजों से टीपू ने लड़े। इन युद्धों का परिणाम हैदरअली द्वारा बनाये गये मैसूर-राज्य का नष्ट हो जाना था। चौथे युद्ध में टीपू अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टम के किले की दीवार के निकट लड़ता हुआ मारा गया। उसके पश्चात् मैसूर-राज्य के अधिकांश भाग पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया, कुछ भाग निजाम को दे दिया गया और बाकी बचा हुआ छोटा राज्य पहले के हिन्दू राजा के अल्पायु पुत्र को सौंप दिया गया जो पूर्णतया अंग्रेजों पर आश्रित था। इस प्रकार 18वीं सदी की एक मुख्य घटना दक्षिण-भारत में मैसूर-राज्य का उत्थान और उसी सदी में उसका पतन रहा।



टास्क टीपू सुल्तान की जीवनी पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

13.4 मराठे (Marathas)

मराठों के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना छत्रपति शिवाजी ने औरंगजेब के शासनकाल में ही कर ली। बाद में, 1689 ई. में औरंगजेब ने शिवाजी के पुत्र और उत्तराधिकारी शम्भाजी को समाप्त करने तथा महाराष्ट्र पर अधिकार करने में

नोट

सफलता पायी, परन्तु यह सफलता अस्थायी थी। मराठों ने शम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् महाराष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए जो संग्राम आरम्भ किया वह औरंगजेब की मृत्यु तक चला। औरंगजेब मराठों के उस संग्राम को न दबा सका और मराठों ने न केवल महाराष्ट्र को ही स्वतन्त्र कर लिया बल्कि मुगल-छावनी पर भी छापे मारने आरम्भ कर दिये। शिवाजी के दूसरे पुत्र राजाराम की पत्नी ने अपने पति की मृत्यु (1700 ई.) के पश्चात् मराठों का छत्रपति अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय को घोषित किया और मुगलों से संघर्ष जारी रखा। ऐसी ही स्थिति में मुगलों की कैद से निकलकर आये हुए शम्भाजी के पुत्र शाहू ने महाराष्ट्र में प्रवेश किया (1707 ई.) और मराठा-छत्रपति होने का दावा किया। वह सफल हुआ। अधिकांश मराठा-सरदारों ने उसे मराठा-छत्रपति मान लिया। उसके समय में उसके द्वारा नियुक्त किये गये उसके प्रथम तीन पेशवाओं ने मराठा-साम्राज्य के विस्तार में भाग लिया। एक के बाद एक हुए पेशवा बालाजी विश्वनाथ, पेशवा बाजीराव और पेशवा बालाजी बाजीराव ने अपने-अपने साधनों से मराठों को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। उन्होंने इस श्रेष्ठता का उपभोग उस समय तक किया जब तक कि मराठा-शक्ति पानीपत के तृतीय युद्ध में अहमदशाह अब्दाली से टकराकर दुर्बल नहीं हो गयी, परन्तु वह 18वीं सदी का प्रायः अन्त था। 18वीं सदी के अधिकांश समय में मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति थे। बाद में उनका संघर्ष नवोदित शक्ति अंग्रेजों से हुआ जिसमें वे परास्त हुए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. मैसूर, विजयनगर राज्य के अधीन था।
10. हैदरअली मैसूर का सुल्तान था।
11. टीपू सुल्तान हैदरअली का पुत्र था।
12. मराठों के स्वतंत्र राज्य की स्थापना छत्रपति शिवाजी ने की।

13.5 सारांश (Summary)

- 18वीं सदी में भारत का राजनीतिक विभाजन हुआ। मुगल बादशाह मुहम्मदशाह (1719-1748 ई.) के शासनकाल में मुगल-साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तथा हैदराबाद, बंगाल और अवध में प्रायः स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये।
- मुगल-काल में अकबर ने राजपूतों के प्रति एक निश्चित नीति अपनायी थी जिसके परिणामस्वरूप मेवाड़ के अतिरिक्त राजस्थान के सभी राजपूत-शासकों ने मुगलों की अधीनता को स्वीकार कर लिया था।
- जब औरंगजेब ने जसवन्तसिंह के पुत्र अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार करने से इंकार कर दिया तब मारवाड़ ने विद्रोह किया, मेवाड़ ने उसका साथ दिया। यद्यपि मेवाड़ ने मुगलों से शीघ्र सन्धि कर ली परन्तु मारवाड़ बीच-बीच में सन्धि करते हुए भी औरंगजेब के अन्तिम समय तक संघर्षरत रहा जब तक कि मुगल बादशाह ने अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार नहीं कर लिया।
- 16वीं सदी में जब राजपूतों के सम्बन्ध मुगलों से हो गये तब उन सम्बन्धों का प्रभाव उनके शासन, राजनीति, सभ्यता और संस्कृति पर आया।
- सिखों के दसवें और अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह के दो पुत्र युद्ध में लड़ते हुए मारे गये थे और दो पुत्रों को मुगलों ने दीवार में ज़िन्दा चिनवा दिया था। उन्होंने अपनी मृत्यु से पहले गुरु की प्रथा को समाप्त कर दिया और कहा कि जहाँ भी पाँच सिख एकत्रित होंगे वहाँ मैं उपस्थित रहूँगा।
- मैसूर विजयनगर-राज्य के अधीन था। 1612 ई. में विजयनगर के शासक वेंकट द्वितीय ने मैसूर के सरदार वाडियार को 'राजा' की उपाधि से विभूषित किया, तब से मैसूर-राज्य की महत्वाकांक्षाएँ बढ़ गयीं।

नोट

- मैसूर के राजा को वर्ष में एक बार उसकी प्रजा को दिखा दिया जाता था परन्तु शासन में उसका कोई महत्व न था। हैदरअली ही राज्य का प्रधान बन गया यद्यपि उसने सुल्तान का पद कभी भी ग्रहण नहीं किया। हैदरअली ने मैसूर-राज्य को विस्तृत किया।
- मराठों के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना छत्रपति शिवाजी ने औरंगजेब के शासनकाल में ही कर ली। बाद में, 1689 ई. में औरंगजेब ने शिवाजी के पुत्र और उत्तराधिकारी शम्भाजी को समाप्त करने तथा महाराष्ट्र पर अधिकार करने में सफलता पायी, परन्तु यह सफलता अस्थायी थी।
- 18वीं सदी के अधिकांश समय में मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति थे। बाद में उनका संघर्ष नवोदित शक्ति अंग्रेजों से हुआ जिसमें वे परास्त हुए।

13.6 शब्दकोश (Keywords)

- **हासिल**—कृषि और उस पर लिए जाने वाले लगान।
- **भौमिया**—भूमि पर वंशानुगत अधिकार पाने वाले।
- **रेख**—सामंतों द्वारा भूमि आय का 8% भाग सैनिक व्यय के लिए राजा को देना।

13.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. मुगलकाल के राजपूत राज्यों एवं रजवाड़ों का वर्णन करें।
2. पंजाब में सिख शक्ति के उत्थान पर प्रकाश डालें।
3. बंदा बहादुर का संक्षिप्त परिचय दें?
4. मैसूर राज्य के उत्थान एवं पतन का वर्णन करें।
5. हैदरअली कौन था? मैसूर साम्राज्य के विस्तार में उसके योगदानों का वर्णन करें।
6. मराठों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|----------------|----------------|---------------|--------------|
| 1. साम्राज्य | 2. युवराज | 3. हाकिम | 4. खालसा |
| 5. (ख) राहदारी | 6. (ग) व्यापार | 7. (ख) मुगलों | 8. (ग) पंजाब |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. सत्य | 12. सत्य |

13.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
2. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
3. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
4. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-14: औपनिवेशिक शक्तियाँ (Colonial Powers)

अनुक्रमणिका (Contents)

- उद्देश्य (Objectives)
- प्रस्तावना (Introduction)
- 14.1 पुर्तगाली (Portuguese)
- 14.2 डच (Dutch)
- 14.3 अंग्रेज (British)
- 14.4 फ्रांसीसी (French)
- 14.5 सारांश (Summary)
- 14.6 शब्दकोश (Keywords)
- 14.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 14.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे-

- पुर्तगालियों को जानने में;
- डच एवं अंग्रेजों को जानने में;
- फ्रांसीसियों को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

यूरोप के निवासियों में से भारत आने वाले और यहाँ की राजनीति और व्यापार को प्रभावित करने वालों में पुर्तगाली, डच (हॉलैण्ड के रहने वाले), अंग्रेज और फ्रान्सीसी थे। भारत में यूरोपीय निवासियों के आने का मुख्य अभिप्राय व्यापार था यद्यपि सहायक रूप में अपने देश के गौरव में वृद्धि करना और ईसाई धर्म का प्रसार करना भी रहा। तुर्कों ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी यूरोप तक अपना अधिकार कर लिया था जिससे यूरोप द्वारा एशिया के पूर्वी देशों से व्यापार करने के स्थल-मार्ग पर उनका एकाधिपत्य हो गया था और यूरोप के राज्य इसके लिए उनकी दया पर आश्रित हो गये थे। यूरोपीय देश एशिया के देशों से रेशम, जवाहरात, जड़ी-बूटियाँ आदि विभिन्न वस्तुएँ आयात करते थे परन्तु उनमें सबसे मुख्य वस्तु गर्म-मसाले थे जो उनके मांसाहारी भोजन को स्वादिष्ट बनाने की एक आवश्यकता थी। इस कारण यूरोपीय देशों को भारत और पूर्वी देशों से व्यापार करने के लिए जल-मार्ग खोजने की आवश्यकता हुई। उनके अनुसार भारत एक ऐसा देश था जो धनवान था और जहाँ से वे गर्म-मसाले प्राप्त कर सकते थे। इस कारण, भारत के लिए समुद्री-मार्ग की खोज यूरोप-निवासियों के लिए एक आवश्यक और प्रेरणादायक लक्ष्य बन

नोट

गयी। भारत आकर ही उन्हें यह पता लगा कि गर्म-मसालों के लिए भारत की अपेक्षा दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देश जैसे जावा, सुमात्रा, मलाया, बोर्नियो आदि और श्रीलंका अधिक उपयुक्त थे। स्वयं भारतीय गर्म-मसालों को इन देशों से आयात करते थे और फिर उन्हें यूरोपीय देशों को भेजते थे, परन्तु तब भी भारत दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों से व्यापार करने की एक कड़ी हो सकता था। इस कारण, पूर्व से आने वाले सभी यूरोपीय निवासियों ने भारत से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये।

18वीं सदी में भारत की राजनीतिक दुर्बलता को देखकर इन यूरोपीय निवासियों ने यहाँ राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जिसके कारण उनमें पारस्परिक व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ राजनीतिक प्रतिस्पर्धा भी आरम्भ हुई। इससे इनके झगड़े आपस में हुए और भारतीय नरेशों से भी। इस संघर्ष में अन्तिम विजय अंग्रेजों की हुई जिन्होंने सम्पूर्ण भारत को अपने अधीन करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि भारत में यूरोपीय निवासियों के आने का मूल कारण भारत से व्यापार करके आर्थिक लाभ प्राप्त करना था। यूरोप उस समय तक बौद्धिक जागृति (Renaissance) और धर्म-सुधार (Reformation) से प्रभावित हो चुका था और जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नतिशील था। इस कारण, 16वीं सदी में तो नहीं परन्तु 17वीं सदी में व्यापारिक क्षेत्र में भी उसकी महत्वाकांक्षाएँ बढ़ गयी थीं और वह अन्तर-महाद्वीपीय व्यापार के लिए तत्पर और समर्थ हो गया था। इस कारण, यूरोप-निवासियों ने एशिया के देशों से व्यापार करने हेतु अपनी गतिविधियाँ तीव्र कीं तथा भारत के लिए प्रत्यक्ष समुद्री-मार्ग खोजने में सफल हुए। कुछ अंग्रेज इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यूरोप-निवासियों का भारत आना एक श्रेष्ठ सभ्यता का प्रसार (civilization on the march) था अर्थात् यूरोप निवासियों का एशिया और अफ्रीका के देशों में जाने का उद्देश्य सभ्यता का प्रसार करना था और भारत में भी उनका मुख्य उद्देश्य यही था, परन्तु यह पूर्णतया असत्य विचारधारा है। यूरोप-निवासी इन देशों और भारत में भी पूर्णतया व्यापार और धन की लालसा में आये थे। यहाँ आकर उन्होंने राज्यों की दुर्बल स्थिति से लाभ उठाकर अपने राज्य स्थापित किये और इन देशों के निवासियों का शोषण किया। बाद में अपने साम्राज्यवाद और उससे उत्पन्न दोषों पर पर्दा डालने के लिए उन्होंने 'श्रेष्ठ सभ्यता का प्रसार' और 'सफेद आदमी का बोझा' (White Man's Burden) अर्थात् काले व्यक्तियों को सुसभ्य बनाना सफेद आदमी का उत्तरदायित्व या बोझा है, आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

14.1 पुर्तगाली (Portuguese)

पहला यूरोपीय व्यक्ति, जिसने यूरोप से आशा अन्तरीप (Cape of Goodhope) होते हुए भारत के प्रत्यक्ष समुद्री-मार्ग को खोजने में सफलता प्राप्त की, वास्को-डि-गामा था। 1498 ई. में वह कालीकट के समुद्र-तट पर उतरा। वह पुर्तगाल के शासक के प्रतिनिधि के रूप में भारत आया था और उसने कालीकट के शासक जेमोरीन से पुर्तगाल के लिए व्यापार करने की सुविधा माँगी। वह सुविधा उसे प्राप्त हो गयी। इस कारण, यूरोप-निवासियों में भारत आने वाले सर्वप्रथम पुर्तगाली थे। सम्पूर्ण 16वीं सदी में पुर्तगालियों ने भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के यूरोप से होने वाले व्यापार पर अपना अधिकार रखा। किसी अन्य यूरोपीय राज्य से उनकी प्रतिद्वन्द्विता इस कारण भी नहीं हुई कि 1492 ई. में ही पोप एलेक्जेंडर षष्ठ ने पूर्वी समुद्रों में व्यापार करने का एकाधिपत्य पुर्तगाल को अपने एक आज्ञापत्र द्वारा दे दिया था जिसका विरोध करने का साहस किसी भी कैथोलिक देश ने नहीं किया। बाद में, 1506 ई. में पोप जुलियस द्वितीय ने और 1514 ई. में पोप लुई दशम ने इस आज्ञापत्र की पुनरावृत्ति की। बाद में धर्म-सुधार के शक्तिशाली हो जाने के कारण पोप की आज्ञा का उल्लंघन हुआ तथा डच, अंग्रेज और फ्रान्सीसियों ने भारत एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से व्यापार करने के लिए पुर्तगाल से ही नहीं बल्कि आपस में भी प्रतिद्वन्द्विता की।



नोट्स धर्म-सुधार के शक्तिशाली होने से पहले किसी भी यूरोपीय राज्य ने इन आज्ञापत्रों का उल्लंघन नहीं किया और 16वीं सदी में पुर्तगाल यूरोप का एकमात्र देश रहा जिसने भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से व्यापार किया।

नोट

पुर्तगालियों ने भारत से व्यापार करना ही आरम्भ नहीं किया अपितु भारतीय राजनीति में भी हस्तक्षेप किया। आरम्भ में ही उन्होंने कोचीन के शासक के विरुद्ध कालीकट के राजा की सहायता की। पुर्तगालियों का भारत में पहला गवर्नर आल्मीडा (1505-1509 ई.) था। यद्यपि उसका प्रमुख उद्देश्य भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया के पुर्तगाली व्यापार की सुरक्षा करना था तब भी उसने भारत में पुर्तगाली उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसका उत्तराधिकारी अल्बुकर्क (1509-1515 ई.) अधिक महत्वाकांक्षी था। उसके पुर्तगाली-शक्ति को पूर्वी समुद्रों में बनाये रखने के निम्न लक्ष्य थे—

1. यूरोप से भारत के मार्ग में पड़ने वाले सभी व्यापारिक स्थानों को अपने अधिकार में लेना;
2. स्थानीय निवासियों से वैवाहिक सम्बन्ध करके पुर्तगाली उपनिवेश स्थापित करना;
3. जहाँ उपनिवेशों की स्थापना सम्भव न हो वहाँ समुद्र-तट पर दृढ़ किले बनाना जिससे जल-मार्गों की सुरक्षा की व्यवस्था हो सके; और
4. जहाँ किले बनाना भी सम्भव न हो वहाँ स्थानीय शासक से पुर्तगाल के राजा की सत्ता को स्वीकार कराया जाना।

अल्बुकर्क ने पूर्वी समुद्रों में पुर्तगाल की शक्ति को दृढ़ बनाने में पर्याप्त सफलता पायी। भारत में भी पुर्तगालियों ने व्यापार और निवास-स्थान के रूप में कई अच्छे स्थान प्राप्त किये, जैसे पश्चिमी समुद्र-तट पर गोआ, डामन, ड्यू, सालसेट, बेसीन, चौल और बम्बई, मद्रास-तट पर सान-थोम और बंगाल में हुगली। 16वीं सदी में समुद्र पर पुर्तगालियों की श्रेष्ठता ने उन्हें यूरोप से पूर्वी देशों में व्यापार पर श्रेष्ठता बनाये रखने में सहायता दी। उनकी शक्ति को चुनौती 17वीं सदी में हॉलैण्ड ने सफलतापूर्वक दी जिसकी नौ-सेना पुर्तगालियों की नौ-सेना से श्रेष्ठ थी।

पुर्तगाली प्रायः 100 वर्ष तक यूरोप के भारत से होने वाले व्यापार पर नियन्त्रण रखने में तो सफल हुए परन्तु भारत में राजनीतिक दृष्टि से वे कभी भी अधिक सफल न हो सके। 16वीं सदी में यूरोप के अन्य राज्यों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता तथा पोप द्वारा पूर्वी-संसार के व्यापार पर उन्हें एकाधिपत्य प्रदान करना उनकी सफलता का मुख्य कारण थे, परन्तु 17वीं सदी में जब डच उनके मुकाबले आये तब वे परास्त हो गये। उनका समुद्र पर आधिपत्य नष्ट हो गया। इस कारण, भारत में राजनीतिक सफलता प्राप्त करना उनके लिए असम्भव हो गया।



उदाहरण पुर्तगालियों के राजनीति में हस्तक्षेप करने से असन्तुष्ट होकर 1629 ई. में शाहजहाँ ने उनसे हुगली छीन लिया, 1639 ई. में मराठों ने उनसे सालसेट और बेसीन छीन लिये तथा 1661 ई. में पुर्तगाल ने दहेज में बम्बई अंग्रेजों को दे दिया।

पुर्तगालियों द्वारा स्थानीय व्यक्तियों का धर्म-परिवर्तन करने और उनसे विवाह-सम्बन्ध करने से भी उनके शत्रु उत्पन्न हुए। पुर्तगालियों ने व्यापार में कम और राजनीति में अधिक रुचि दिखायी जो उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। उस समय भारत में मुगल-साम्राज्य दृढ़ था। 1580 ई. में पुर्तगाल स्पेन के साथ मिलकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खो बैठा। इसके अतिरिक्त, पुर्तगाल यूरोप का एक बहुत छोटा राज्य था। आर्थिक और सैनिक दृष्टि से वह इतना सबल नहीं था कि भारत जैसे दूरस्थ प्रदेश में अपनी सत्ता स्थापित कर पाता।

भारतीय समुद्र पर पुर्तगाली नियन्त्रण की स्थापना तथा उसके राजनीतिक और आर्थिक परिणाम

1498 ई. में पुर्तगाल के राजा हेनरी दी नेवीगेटर के प्रतिनिधि के रूप में वास्को-डि-गामा के कालीकट पहुँचने पर पुर्तगाल के भारत से व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्ध आरम्भ हुए। धीरे-धीरे पुर्तगालियों ने अरब-सागर तथा बंगाल की खाड़ी पर तथा लाल-सागर से लेकर अरब-सागर तट के समुद्री मार्ग और व्यापार पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया।

16वीं सदी के आरम्भ से ही पुर्तगालियों का उद्देश्य लाल-सागर से लेकर भारत के पश्चिमी तट तक के मार्ग और व्यापार को अपने एकाधिपत्य में लेना था। पूर्वीय देशों के मुकाबले उनकी नौ-सेना दृढ़ थी जिसका मुख्य कारण उनके जहाजों पर गोला-बारूद का प्रयोग करने वाली तोपें थीं। इस कारण, उन्होंने इस मार्ग पर अधिकार कर लिया

नोट

तथा अपने अधिकार को दृढ़ करने के लिए मार्ग के समुद्री-तट पर विभिन्न स्थानों पर किले बनाये या स्थानीय शासकों के दुर्गों पर अधिकार कर लिया। पुर्तगालियों ने शक्ति के आधार पर यह निर्णय लिया कि हिन्द-महासागर में व्यापार करने वालों को उनकी स्वीकृति लेनी चाहिए, काली मिर्च और घोड़ों का व्यापार कोई अन्य व्यापारी नहीं करेगा तथा अपने जहाजों की सुरक्षा के बदले सभी व्यापारियों को उन्हें थोड़ा कर देना चाहिए। प्रायः एक सदी तक पुर्तगालियों ने अपनी नौ-सेना की शक्ति के आधार पर अरब-सागर और कुछ मात्रा में बंगाल की खाड़ी के व्यापार पर अपना स्वामित्व अथवा नियन्त्रण स्थापित रखने में सफलता प्राप्त की। परन्तु 17वीं सदी में उनकी श्रेष्ठता का विरोध डचों (हॉलैण्ड के रहने वाले) ने करना आरम्भ कर दिया और धीरे-धीरे उनके प्रभाव को नष्ट कर दिया। प्रायः एक सदी तक पुर्तगालियों के हिन्द-महासागर के व्यापार पर नियन्त्रण करने के कुछ आर्थिक और राजनीतिक परिणाम हुए। आर्थिक दृष्टि से इस व्यापार से न केवल पुर्तगाल को ही लाभ प्राप्त हुआ अपितु भारत को भी आर्थिक लाभ हुआ क्योंकि भारतीय व्यापार को उससे सुरक्षा प्राप्त हुई जिससे उसमें वृद्धि हुई। राजनीतिक दृष्टि से समुद्री-व्यापार पर नियन्त्रण करने के अधिकार का प्रयोग करके पुर्तगालियों ने एशियाई सामुद्रिक गतिविधियों में राजनीति का समावेश कर दिया। उन्होंने अपने व्यापारिक लाभ के लिए एक भारतीय राजा के मुकाबले दूसरे भारतीय राजा की सहायता करना आरम्भ किया। कोचीन का राजा एक प्रकार उनके अधीन शासक हो गया जबकि कालीकट के शासक ने उनका विरोध किया। इसके परिणामस्वरूप पुर्तगालियों ने कोचीन के राजा की सहायता की जिसके कारण कालीकट के स्थान पर कोचीन मसालों के व्यापार का केन्द्र स्थान बन गया। इसी प्रकार, उन्होंने घोड़ों के व्यापार को भी राजनीति में सम्मिलित किया। उन्होंने घोड़ों को बेचने का आश्वासन उन्हीं भारतीय राज्यों को दिया जो व्यापार में उनके मित्र बने। इस प्रकार व्यापार के आधार पर मित्र-राज्य और शत्रु-राज्य के अन्तर पुर्तगालियों ने भारत में आरम्भ किये।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. भारत में आने वाले यूरोपीय निवासियों का मुख्य अभिप्राय था।
2. यूरोप उस समय 'बौद्धिक-जागृति' और से प्रभावित हो चुका था।
3. वास्को-डि-गामा पुर्तगाली शासक के के रूप में भारत आया था।
4. पुर्तगालियों का भारत में पहला आल्मीडा था।

14.2 डच (Dutch)

भारत से व्यापार करने के लिए प्रथम डच कम्पनी 1602 ई. में स्थापित हुई। डचों ने पुर्तगालियों से व्यापारिक प्रतिस्पर्धा ही नहीं की बल्कि पूर्वी समुद्रों और बस्तियों पर अधिकार करने के लिए उनसे संघर्ष भी किया। डच नौ-सेना पुर्तगाली नौ-सेना से श्रेष्ठ सिद्ध हुई। इस कारण, डचों ने पहले पुर्तगालियों को समुद्री-मार्ग से हटाया तथा बाद में उनके भू-स्थलों पर भी आक्रमण किये। पुर्तगालियों के पूर्व के व्यापार को नष्ट करने में डचों का प्रमुख हाथ रहा। उन्होंने श्रीलंका और इण्डोनेशिया पर जहाँ से उन्हें गर्म-मसाले प्राप्त होते थे, अधिकार कर लिया। 17वीं सदी में फ्रान्सीसी और अंग्रेज भी भारत और पूर्व के देशों से व्यापार करने के लिए आ गये परन्तु वे देर से आये। 17वीं सदी में भारत का डचों से व्यापार अंग्रेज और फ्रान्सीसियों की तुलना में अधिक था और भारत में उन्होंने पुलीकट, सूरत, चिनसुरा, कासिमबाजार, पटना, बालासोर, नागापट्टम, कोचीन आदि स्थानों पर अपने व्यापारिक केन्द्र बना रखे थे। परन्तु डचों ने भारत में राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। वे गर्म-मसाले के व्यापार के लिए भारत आये। इसके लिए उन्हें भारत की अपेक्षा इण्डोनेशिया और श्रीलंका अधिक उपयुक्त लगे और उन पर उन्होंने अधिकार भी कर लिया परन्तु भारत से उन्हें सूती वस्त्र प्राप्त होता था जिसकी दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में माँग थी। इस कारण भारत में भी उन्होंने व्यापारिक केन्द्र बनाकर रखे थे। भारत में उनकी राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने की लालसा नहीं थी। उस पराजय से भी भारत में अंग्रेजों की तुलना में उनकी स्थिति दुर्बल

नोट

हुई। भारतीय राजनीति और व्यापार में अंग्रेज अधिक रुचि ले रहे थे। ऐसी स्थिति में डचों ने उनके विरुद्ध होना लाभदायक नहीं समझा। इस कारण, डचों ने भारत में राज्य स्थापित करने में रुचि नहीं ली और वे अंग्रेजों या फ्रान्सीसियों के राजनीतिक प्रतिद्वन्दी के रूप में भारत में खड़े नहीं हुए।



क्या आप जानते हैं 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन और हॉलैण्ड के मध्य नौ-सेना के युद्ध हुए जिनमें हॉलैण्ड की पराजय हुई।

14.3 अंग्रेज (British)

प्रथम अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी की स्थापना 1600 ई. में हुई। 1615 ई. में इसी कम्पनी ने सर टामस रो को जहाँगीर के दरबार में भेजा और मुगल-साम्राज्य के अन्तर्गत व्यापारिक कोठियाँ खोलने की आज्ञा प्राप्त कर ली। धीरे-धीरे अंग्रेजों ने सूरत, आगरा, अहमदाबाद, बम्बई, पटना, कासिम बाजार, राजमहल, कलकत्ता आदि में अपनी कोठियाँ या व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये। 1698 ई. में एक अन्य अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी की स्थापना हुई परन्तु पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने के लिए 1702 ई. में दोनों कम्पनियों को मिला दिया गया जो मिलकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी कहलायी। 1717 ई. में इस कम्पनी ने मुगल बादशाह फर्रुखसियर से एक व्यापारिक अधिकार-पत्र प्राप्त किया। इस अधिकार-पत्र (फरमान) द्वारा अंग्रेज कम्पनी को मुगल बादशाह को 3,000 रु. प्रतिवर्ष देने के बदले में हैदराबाद, गुजरात और बंगाल में बिना कर दिये हुए व्यापार करने का अधिकार दिया गया। इसके अतिरिक्त, दीवान की आज्ञा प्राप्त करके कम्पनी को बंगाल में 38 गाँव खरीदने और यदि साम्राज्य के हित में समझा जाए तो वहाँ के शाही टकसाल का उपयोग करने का अधिकार भी दिया गया। कम्पनी ने इस फरमान को बंगाल में अंग्रेजी-व्यापार का **मैगना कार्टा** बताया। परन्तु यह फरमान अंग्रेज कम्पनी और बंगाल के नवाबों के मध्य झगड़े का कारण भी बना जिस झगड़े में अंग्रेज विजयी हुए। इस प्रकार, यह फरमान न केवल अंग्रेजों के व्यापार की वृद्धि में सहायक हुआ अपितु अंग्रेजी राज्य को भारत में बंगाल से आरम्भ करने के लिए भी उत्तरदायी हुआ।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

5. डच नौसेना पुर्तगाली नौसेना से श्रेष्ठ सिद्ध हुई।
6. डचों को भारत में राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने की लालसा थी।
7. प्रथम अंग्रेज व्यापारिक कंपनी की स्थापना 1700 ई. में हुई।
8. मुगल बादशाह द्वारा दिये गये व्यापारिक फरमान को अंग्रेजों ने मैगना कार्टा (व्यापार का) बनाया।

14.4 फ्रान्सीसी (French)

फ्रान्स के शासक लुई चौदहवें के मन्त्री कोलबर्ट के प्रोत्साहन और सरकारी सहायता से 1664 ई. में भारत से व्यापार करने के लिए प्रथम फ्रान्सीसी कम्पनी की स्थापना हुई। फ्रान्सीसियों ने पूर्वी समुद्र-तट पर पाण्डिचेरी, बंगाल में चन्द्रनगर तथा मॉरीशस द्वीप में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये। परन्तु फ्रान्सीसियों ने व्यापार में कम और राजनीति में अधिक रुचि प्रकट की। सम्भवतया, इसका एक कारण कम्पनी का राजकीय संरक्षण में बनना था और दूसरा कारण यह था कि फ्रान्सीसी गवर्नर फ्रान्स से अधिक सहायता की आशा नहीं करते थे क्योंकि फ्रान्सीसी सरकार का ध्यान भारत की अपेक्षा अमेरिका की ओर अधिक था। फ्रान्सीसी गवर्नर एलेक्जेंडर ड्यूमा ने राजनीति में हस्तक्षेप की नीति को गम्भीरता से लिया और सफलता भी पायी। उसके उत्तराधिकारी डूप्ले को इससे प्रोत्साहन

नोट

मिला और वह राजनीति में और अधिक सक्रिय हो गया। अंग्रेज फ्रान्सीसियों की गतिविधियों के प्रति उदासीन नहीं रहे। यूरोप-निवासियों में से वस्तुतः अंग्रेज और फ्रान्सीसी ही 18वीं सदी में व्यापारिक और राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के लिए बाकी रह गये थे। इस कारण, अंग्रेज भी अपने हितों की रक्षा के लिए भारतीय राजनीति में सक्रिय हुए। इस व्यापारिक और राजनीतिक स्पर्धा के फलस्वरूप अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों का संघर्ष आरम्भ हुआ जो मूलतया दक्षिण-भारत में कर्नाटक-राज्य तक सीमित रहा। इस संघर्ष का एक अन्य कारण भी था। ब्रिटेन और फ्रान्स यूरोप और अमेरिका में भी एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। इस कारण, उन दोनों की यूरोपीय राजनीति का प्रभाव भी उनके भारत के सम्बन्धों पर पड़ा। अंग्रेज और फ्रान्सीसियों में उपर्युक्त कारणों से तीन युद्ध हुए जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय कर्नाटक-युद्ध कहलाये।

14.5 सारांश (Summary)

- यूरोप के निवासियों में से भारत आने वाले और यहाँ की राजनीति और व्यापार को प्रभावित करने वालों में पुर्तगाली, डच (हॉलैण्ड के रहने वाले), अंग्रेज और फ्रान्सीसी थे। भारत में यूरोपीय निवासियों के आने का मुख्य अभिप्राय व्यापार था यद्यपि सहायक रूप में अपने देश के गौरव में वृद्धि करना और ईसाई धर्म का प्रसार करना भी रहा।
- 18वीं सदी में भारत की राजनीतिक दुर्बलता को देखकर इन यूरोपीय निवासियों ने यहाँ राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जिसके कारण उनमें पारस्परिक व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ राजनीतिक प्रतिस्पर्धा भी आरम्भ हुई।
- पहला यूरोपीय व्यक्ति, जिसने यूरोप से आशा अन्तरीप (Cape of Goodhope) होते हुए भारत के प्रत्यक्ष समुद्री-मार्ग को खोजने में सफलता प्राप्त की, वास्को-डि-गामा था। 1498 ई. में वह कालीकट के समुद्र-तट पर उतरा। वह पुर्तगाल के शासक के प्रतिनिधि के रूप में भारत आया था और उसने कालीकट के शासक जेमोरीन से पुर्तगाल के लिए व्यापार करने की सुविधा माँगी।
- धीरे-धीरे पुर्तगालियों ने अरब-सागर तथा बंगाल की खाड़ी पर तथा लाल-सागर से लेकर अरब-सागर तट के समुद्री मार्ग और व्यापार पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया।
- भारत से व्यापार करने के लिए प्रथम डच कम्पनी 1602 ई. में स्थापित हुई। डचों ने पुर्तगालियों से व्यापारिक प्रतिस्पर्धा ही नहीं की बल्कि पूर्वी समुद्रों और बस्तियों पर अधिकार करने के लिए उनसे संघर्ष भी किया।
- भारतीय राजनीति और व्यापार में अंग्रेज अधिक रुचि ले रहे थे। ऐसी स्थिति में डचों ने उनके विरुद्ध होना लाभदायक नहीं समझा।
- फ्रान्स के शासक लुई चौदहवें के मन्त्री कोलबर्ट के प्रोत्साहन और सरकारी सहायता से 1664 ई. में भारत से व्यापार करने के लिए प्रथम फ्रान्सीसी कम्पनी की स्थापना हुई, परन्तु फ्रान्सीसियों ने व्यापार में कम और राजनीति में अधिक रुचि प्रकट की।

14.6 शब्दकोश (Keywords)

- **एकाधिपत्य**—एकाधिकार, एक व्यक्ति का प्रभुत्व या स्वामित्व।
- **फरमान**—राजकीय आज्ञा, आज्ञापत्र।

14.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. भारत में पुर्तगालियों के आगमन पर प्रकाश डालें।
2. भारतीय समुद्र पर पुर्तगालियों के नियंत्रण से हुए राजनीतिक एवं आर्थिक परिणामों का उल्लेख करें।

नोट

3. भारत में डचों के आगमन पर प्रकाश डालें।
4. अंग्रेजों का मैग्ना कार्टा क्या था तथा यह किसके द्वारा प्रदान किया गया?
5. भारत में व्यापार के लिए आये फ्रांसीसियों का उल्लेख करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|------------|--------------|--------------|-----------|
| 1. व्यापार | 2. धर्मसुधार | 3. प्रतिनिधि | 4. गवर्नर |
| 5. सत्य | 6. असत्य | 7. असत्य | 8. सत्य। |

14.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएण्ट ब्लैकस्वान।
2. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
3. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
4. औपनिवेशिक काल में भारत—डग्लस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
5. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
6. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
7. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
8. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

नोट

इकाई-15: ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य

(The British Colonial State)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 15.1 सिराजुद्दौला एवं बंगाल का प्रथम विद्रोह
(Sirajuddaula and the First Revolt of Bengal)
- 15.2 सिराजुद्दौला का कलकत्ता पर आक्रमण तथा कालकोठरी की घटना
(Sirajuddaula's Invasion on Calcutta and Black Hole Tragedy)
- 15.3 अलीनगर (कलकत्ता) की संधि [The Treaty of Alinagar (Calcutta)]
- 15.4 प्लासी युद्ध के कारण (Causes of Plassey Battle)
- 15.5 प्लासी का युद्ध (The Battle of Plassey)
- 15.6 प्लासी युद्ध के परिणाम (Result of the Plassey Battle)
- 15.7 सारांश (Summary)
- 15.8 शब्दकोश (Keywords)
- 15.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 15.10 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे—

- सिराजुद्दौला एवं बंगाल के प्रथम विद्रोह को जानने में;
- सिराजुद्दौला का कलकत्ता पर आक्रमण एवं कालकोठरी की घटना को जानने में;
- अलीनगर की संधि, प्लासी का युद्ध, युद्ध के कारण एवं परिणाम को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मुगल-साम्राज्य के अन्तर्गत आने वाले प्रान्तों में बंगाल सर्वाधिक सम्पन्न प्रान्त था। अंग्रेजों ने अपनी प्रथम कोठी (गोदाम) 1651 ई. में हुगली में तत्कालीन बंगाल के सूबेदार शाहजहाँ के द्वितीय पुत्र शाहशुजा की अनुमति से बनवाई थी। शाहशुजा ने 1651 ई. में ही राज-परिवार की एक स्त्री का डॉक्टर बौटन (Dr. Boughton) द्वारा इलाज करने पर अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा में मुक्त व्यापार करने की अनुमति मात्र 3,000 रु. वार्षिक शुल्क पर दे दी थी। शीघ्र ही अंग्रेजों ने कासिम बाजार, पटना और अन्य स्थानों पर अपनी कोठियाँ बना लीं। 18वीं शताब्दी

नोट

के पूर्वार्द्ध में यहाँ के सूबेदारों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करके 'नवाब' की उपाधि धारण कर ली थी। 1740 ई. में अलीवर्दीख़ाँ ने नवाब शुजाउद्दीन के पुत्र सरफराज ख़ाँ को परास्त करके बंगाल की सूबेदारी प्राप्त कर ली थी और वह अब बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सम्मिलित प्रदेश का नवाब बन गया। साथ ही उसने तत्कालीन मुगल सम्राट मुहम्मदशाह से भी एक स्वीकृत-पत्र प्राप्त कर लिया था। अलीवर्दीख़ाँ ने लगभग 15 वर्षों तक मराठों से संघर्ष किया था। वह साहसी और कूटनीतिज्ञ था। अपने समय में उसने यूरोपियन जातियों को न तो अपने सूबे में संघर्ष करने दिया और न ही सूबे की राजनीति में उन्हें हस्तक्षेप करने का अवसर दिया। अलीवर्दीख़ाँ यूरोपियनों को मधुमक्खियों के समान मानता था। परन्तु 1756 ई. में उसकी मृत्यु और उसके धेवते सिराजुद्दौला के गद्दी पर बैठते ही परिस्थितियाँ बदलने लगीं और एक वर्ष में ही बंगाल का सूबा युद्ध और संघर्ष का स्थल बन गया जिसका अन्तिम परिणाम बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अंग्रेज कम्पनी के प्रभाव की स्थापना था। वस्तुतः भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का प्रारम्भ बंगाल, बिहार और उड़ीसा से हुआ।



नोट्स अलवर्दी ख़ाँ का कहना था कि “यदि यूरोपियन को न छेड़ा जाए तो वह शहद देंगी और यदि छेड़ा जाए तो वे काट-काटकर मार डालेंगी।”

15.1 सिराजुद्दौला एवं बंगाल का प्रथम विद्रोह (Sirajuddaula and the First Revolt of Bengal)

अनेक अंग्रेज इतिहासकारों ने नवाब सिराजुद्दौला की विलासिता, क्रूरता और शासन में अत्याचार को झगड़े का मुख्य कारण बताया है। उनका कहना है कि नवाब का शासन अप्रिय था और उसे गद्दी से हटाने के षड्यन्त्र चल रहे थे, क्योंकि नवाब प्रारम्भ से ही अंग्रेजों का शत्रु था, इस कारण अपनी सुरक्षा के लिए अंग्रेजों ने उसे गद्दी से हटाने में भाग लिया, परन्तु यह विचार मान्य नहीं है। नवाब का शासन भारत के उस समय के अन्य शासकों के शासन से भिन्न था और न उसके अत्याचार ही अंग्रेजों द्वारा उसके विरोध का कारण थे। झगड़े के मुख्य कारण कुछ अन्य थे जो निम्नलिखित हैं—

1. राजनीतिक—झगड़े का मुख्य कारण सिराजुद्दौला का अपनी शक्ति का व्यावहारिक प्रयोग था। जिस समय वह गद्दी पर बैठा था तभी अलीवर्दीख़ाँ की बड़ी बेटी घसीटी बेगम सिराजुद्दौला के छोटे भाई और अपने गोद लिये हुए लड़के मुराजुद्दौला को नवाब बनाने के पक्ष में थी। पूर्णिया का सूबेदार शौकतजंग, जो सिराज की दूसरी मौसी का लड़का था, गद्दी का दूसरा दावेदार था जिसे अक्टूबर 1756 ई. में नवाब ने एक युद्ध में परास्त किया और मार दिया। नवाब का सेनापति तथा अलीवर्दीख़ाँ का बहनोई मीरजाफर भी यदि नवाब बनने का नहीं तो नवाब के नाम से स्वयं राज्य चलाने के लिए अवश्य उत्सुक था। कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे सिराजुद्दौला ने यह अनुभव किया कि अंग्रेज न केवल उसकी आज्ञा को ही मानने से इन्कार करते हैं बल्कि उसके शत्रुओं तथा गद्दी के दावेदारों की सहायता भी करते हैं। इस कारण नवाब होने के नाते उसने अंग्रेजों की शक्ति को दुर्बल करने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर, अंग्रेजों ने नवाब के विरुद्ध चल रहे षड्यन्त्रों में भाग लेकर बंगाल में अंग्रेजी प्रभाव को बढ़ाने का उपयुक्त अवसर देखा। मुख्यतः इसी कारण नवाब और अंग्रेजों का संघर्ष हुआ।

2. सिराजुद्दौला का प्रारम्भ से ही अंग्रेजों पर सन्देह करना—कुछ अंग्रेज इतिहासकारों के अनुसार सिराजुद्दौला प्रारम्भ से ही अंग्रेजों पर सन्देह करता था। नवाब अलीवर्दीख़ाँ दक्षिण में अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों की प्रगति के कारण उनके प्रति शंकालु हो गया था। उसका विचार था कि यूरोपियन बंगाल में वही कार्य करेंगे जो वह दक्षिण में कर रहे थे। **हॉलवेल (Holwell)** ने लिखा है कि अलीवर्दीख़ाँ ने सिराजुद्दौला से मरते समय कहा था कि “देश में यूरोपियनों की शक्ति क्या है, इसका ध्यान रखो। तेलंगाना की भूमि में उनकी राजनीति और युद्धों को देखते हुए तुम्हें जागृत रहना चाहिए। अपने पारस्परिक झगड़ों के आधार पर उन्होंने राजा की भूमि और उसकी प्रजा की सम्पत्ति को

नोट

आपस में बाँट लिया है। तीनों को एक साथ दुर्बल करने की मत सोचना। अंग्रेजों की शक्ति अधिक है। पहले उसे समाप्त करना। तब अन्य तुम्हें कम दुःख देंगे। जब तुम उनकी शक्ति को दबा दो, तो मेरे बच्चे, उन्हें सैनिक रखने और किले बनाने की आज्ञा मत देना। यदि तुमने यह आज्ञा दी हो तो देश तुम्हारा नहीं रहेगा।” हॉलवेल का यह कथन चाहे एक विचार मात्र हो, परन्तु इसमें जो शंका व्यक्त की गयी थी, उसमें अवश्य ही बल था। नवाब यदि प्रारम्भ से नहीं तो बाद में अवश्य ही अंग्रेजों के व्यवहार को शंका से देखने लगा था जिसके कारण उसने बंगाल में उनकी शक्ति को तुरन्त दबाने का प्रयत्न किया।

3. नवाब के प्रति अंग्रेजों का दुर्व्यवहार—फ्रान्सीसियों की भाँति अंग्रेजों ने कभी भी नवाब के प्रति सम्मान प्रदर्शित नहीं किया। अंग्रेजों ने नवाब के राज्याभिषेक के अवसर पर भी उसे बहुमूल्य उपहार नहीं दिये। एक बार तो उन्होंने नवाब को अपनी कासिमबाजार की फैक्टरी दिखाने तक से इन्कार कर दिया। **मि. लॉ** ने लिखा—“उन्होंने अपने व्यापार के सम्बन्ध में भी कभी कोई सूचनात्मक पत्र सिराजुद्दौला को नहीं लिखा।” नवाब को यह विश्वास हो गया था कि अंग्रेज उसके शत्रु शौकतजंग से पत्र-व्यवहार कर रहे थे और इस सब से नवाब के सम्मान को ठेस पहुँची।

4. व्यापारिक झगड़ा—अंग्रेज मुगल बादशाह फर्रुखशियर के 1717 ई. के आदेश-पत्र के अनुसार बिना कर दिये व्यापार करते थे। इससे भारतीय व्यापारियों को हानि होती थी और नवाब की आय में कमी आती थी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज अपने ‘दस्तक’ (Free Pass) के अधिकार का दुरुपयोग करते हुए इसका प्रयोग भारतीयों को करने देते थे जिससे अंग्रेजों के नाम से भारतीय व्यापारी भी अपने व्यापारिक सामान को कर-मुक्त करा लिया करते थे। यदि नवाब के अधिकारी इसे रोकना भी चाहते थे तो अंग्रेज ऐसे भारतीय व्यापारियों को संरक्षण प्रदान कर देते थे। नवाब इससे असन्तुष्ट था और इस सम्बन्ध में अंग्रेजों से कोई अन्य समझौता करना चाहता था, परन्तु अंग्रेज अपने इस विशेषाधिकार को छोड़ने के लिए तत्पर न थे। अतएव अंग्रेजों और सिराजुद्दौला के बीच आर्थिक झगड़ा मुख्य था।

5. अंग्रेजों का कृष्णबल्लभ को नवाब के हाथों में देने से इन्कार करना—कृष्णबल्लभ घसीटी बेगम के दीवान राजबल्लभ का पुत्र था। राजबल्लभ ने घसीटी बेगम के धन को छिपाने का प्रयत्न किया। इस कारण नवाब ने उसे उसके पद से हटा दिया, परन्तु इससे पहले ही राजबल्लभ ने अपनी सम्पत्ति अपने पुत्र कृष्णबल्लभ को देकर उसे अंग्रेजों के संरक्षण में भेज दिया। जब नवाब ने कृष्णबल्लभ को, जो सिराजुद्दौला के न्याय से भाग रहा था, अंग्रेजों से वापस माँगा तो अंग्रेजों ने ऐसा करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया तथा नवाब के प्रतिनिधि नारायणसिंह का अपमान भी किया। इससे नवाब को यह अनुभव होने लगा कि अंग्रेज उसके शत्रुओं को संरक्षण देते हैं। नवाब का यह विचार ठीक भी था क्योंकि अंग्रेज नवाब के डर से भागे हुए सभी व्यक्तियों को शरण देते थे।

6. अंग्रेजों द्वारा कलकत्ता के किले की किलेबन्दी करना और नवाब की आज्ञा का पालन न करना—इस समय तक आंग्ल-फ्रान्सीसी प्रतिस्पर्धा के कारण अंग्रेज और फ्रान्सीसी दोनों ही अपनी-अपनी बस्तियों की घेराबन्दी कर रहे थे। उनकी गतिविधियों से आशंकित होकर नवाब ने उन्हें ऐसा करने से रोका। फ्रान्सीसी तो उसकी बात मान गये, परन्तु अंग्रेजों ने उस पर कोई ध्यान न देते हुए कलकत्ता के किले की मरम्मत और उसके चारों ओर एक खाई खोदना जारी रखा। नवाब को यह कार्य पसन्द नहीं आया और उसने किले की मरम्मत को तुरन्त बन्द कर देने और खाई को समतल कर देने के आदेश जारी किये। उसने अंग्रेजों को लिखा—“तुम व्यापारी हो, तुम्हें किले की क्या आवश्यकता है। मेरी सुरक्षा में रहते हुए तुम्हें किसी भी शत्रु का भय नहीं होना चाहिए।” यह कहा गया है कि किसी दम्भी अंग्रेज अधिकारी ने नवाब के कर्मचारियों से यहाँ तक कहा—“यह खाई भर दी जायेगी परन्तु मुसलमानों के सिरों से।” यह सूचना नवाब को दी गयी और नवाब ने अंग्रेजों को सजा देने का निश्चय कर लिया।

इस प्रकार सिराजुद्दौला और अंग्रेजों के बीच झगड़ा आरम्भ होने के कारण बन गये। स्वयं **मि. हिल** ने स्वीकार किया—“इस प्रकार स्पष्ट है कि सिराजुद्दौला ने जिन बहानों के आधार पर अंग्रेजों पर आक्रमण किया, उनमें तर्क अवश्य था।”

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–

1. 18वीं सदी के पूर्वार्द्ध में सूबेदारों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करके की उपाधि धारण कर ली थी।
2. झगड़े का मुख्य कारण सिराजुद्दौला का अपनी शक्ति का प्रयोग था।
3. फ्रांसीसियों की भाँति ने कभी भी नवाब के प्रति सम्मान प्रदर्शित नहीं किया।
4. कृष्णबल्लभ बेगम के दीवान राजबल्लभ का पुत्र था।

15.2 सिराजुद्दौला का कलकत्ता पर आक्रमण तथा कालकोठरी की घटना (Sirajuddaula's Invasion on Calcutta and Black Hole Tragedy)

4 जून को नवाब ने अंग्रेजों की कासिमबाजार की कोठी पर आक्रमण कर कब्जा कर लिया। उसे जीतकर वह कलकत्ता पर आक्रमण के लिए सेना के साथ 5 जून को चल दिया और 16 जून को पहुँचकर आक्रमण कर दिया। तीन दिन बाद गवर्नर ड्रेक और अधिकांश अंग्रेज जहाज पर बैठकर फुल्टा (Fulta) टापू पर भाग गये और मि. हॉलवेल ने किले की सुरक्षा का प्रबन्ध किया। 20 जून को नवाब ने किले पर अधिकार कर लिया। उसने कलकत्ता का नाम अलीनगर रख दिया। यहीं पर 'कालकोठरी की दुर्घटना' (Black Hole Tragedy) का होना माना जाता है।

इस घटना का विवरण मि. हॉलवेल ने अपने एक मित्र को एक पत्र लिखते हुए दिया था। उसके अनुसार 146 अंग्रेज कैदियों को नवाब के आदेशानुसार 18 फीट लम्बी और 14 फीट 10 इंच चौड़ी एक अँधेरी कोठरी में 20 जून, 1756 ई. की रात को बन्द कर दिया गया। जून की गर्मी के कारण 21 जून, 1756 ई. की सुबह उनमें से 123 व्यक्ति दम घुटने से मर गये और केवल 23 व्यक्ति शेष बचे जिन्हें नवाब ने बाद में अंग्रेजों को वापस कर दिया। मि. हॉलवेल ने इस घटना का कलकत्ता की कालकोठरी के नाम से वर्णन किया है।

अंग्रेजों ने इस घटना को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया है। सम्भवतः उनका एकमात्र लक्ष्य सिराजुद्दौला को एक क्रूर नवाब सिद्ध करने का था, परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस दुर्घटना की सत्यता में विश्वास नहीं करते।



उदाहरण आधुनिक खोजों ने जिनमें डॉ. भोलानाथ की खोज प्रमुख है, यह सिद्ध कर दिया है कि इस दुर्घटना की कहानी मि. हॉलवेल ने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए बनायी थी और यह दुर्घटना कभी नहीं हुई।

यदि हम इस घटना के सम्बन्ध में उत्पन्न हुए विवाद के कारण यह स्वीकार भी कर लें कि यह घटना हुई थी, तब भी सब इतिहासकार कम से कम इस बात पर अवश्य सहमत हैं कि इसका दोष नवाब पर बिलकुल नहीं था। इस घटना को असत्य प्रमाणित करने के लिए निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—

- (i) किसी भी तत्कालीन इतिहासकार ने इस घटना का वर्णन नहीं किया है। मुसलमान इतिहासकारों की पुस्तकों मुख्यतः 'सर-ए-मुतखरीन' और 'रियाज-उस-सलातीन' में इस घटना का कोई विवरण नहीं है।
- (ii) तत्कालीन अंग्रेजी पुस्तकों में जो उस समय फुल्टा टापू में लिखी गयीं, इस घटना का कोई विवरण नहीं है। उस समय की मद्रास कौंसिल के वाद-विवादों और डायरेक्टरों को क्लाइव तथा वाटसन द्वारा लिखे गये पत्रों में भी इस घटना का कोई उल्लेख नहीं है।
- (iii) मि. हॉलवेल बहुत झूठा व्यक्ति था। 1760 ई. में उसने नवाब मीरजाफर पर दोषारोपण किया कि उसने एक ही रात में अनेक व्यक्तियों की हत्या करायी है। उसने नवाब के आदेश पर मारे गये व्यक्तियों के नामों की सूची भी दी थी। परन्तु उसी के बारे में 1765 ई. में, क्लाइव और वाटसन ने लिखा—“मृत नवाब मीरजाफर की याद में उसके साथ न्याय करते हुए यह कहना पड़ता है कि मि. हॉलवेल ने नवाब पर जो अमानुषिक

नोट

क्रूरता का दोष लगाया था, उसमें नाममात्र का भी सत्य नहीं है। तीन के अतिरिक्त वे सभी व्यक्ति अभी तक जीवित हैं, जिनके बारे में उसने कहा था कि वे नवाब के आदेश पर कत्ल कर दिये गये।”

- (iv) गणित के किसी भी हिसाब से उस इतने से छोटे कमरे में 146 व्यक्ति बन्द नहीं किये जा सकते थे।
- (v) 1757 ई. में अंग्रेजों ने जो सन्धि नवाब सिराजुद्दौला से की उसके द्वारा अंग्रेजों ने अपनी क्षतिपूर्ति के लिए नवाब से धन की माँग की। उस माँग में सभी प्रकार की हानियों की पूर्ति के लिए धन माँगा गया। परन्तु उसमें इस दुर्घटना में मारे गये व्यक्तियों के परिवारों की क्षतिपूर्ति के लिए कोई धन नहीं माँगा गया। अगर यह दुर्घटना हुई होती तो अंग्रेज इसके लिए भी अवश्य धन माँगते।
- (vi) जो व्यक्ति इस दुर्घटना में मारे गये थे उनके नामों का अभी तक पता नहीं चला है। यह भी सन्देह किया जाता है कि उस समय किले में इतने अंग्रेज थे भी या नहीं, जैसा कि **मि. हिल** ने लिखा है—“केवल वही जो बीमार थे अथवा जिनको चोटें आयी थीं, पीछे रह गये थे जबकि बाकी सभी ने भागकर फुल्ला टापू में शरण ले ली थी।” यह भी कहा जाता है कि यथार्थ में यदि ये बन्दी वहाँ थे भी तो उन्हें किसी कोठरी में नहीं बल्कि किले में ही रखा गया था और वह दम घुटने से नहीं बल्कि युद्ध में लगी हुई चोटों में मरे थे।
- (vii) विभिन्न व्यक्तियों ने इस दुर्घटना के बारे में भिन्न-भिन्न विवरण दिये हैं। **डॉ. विल्सन मि. हॉलवेल** के विवरण को स्वीकार करते हैं जबकि **कैप्टेन ग्राण्ट** ने लिखा था कि “वह कोठरी केवल 16 वर्ग फीट थी और उसमें 200 व्यक्ति बन्द किये गये थे, जिनमें से केवल 10 जीवित रहे थे।”

इसके अतिरिक्त जैसा कि स्वयं हॉलवेल का विवरण है, उसी से नवाब इस दोष से मुक्त हो जाता है। उसकी कहानी के अनुसार अंग्रेज सैनिकों ने शराब पी रखी थी और परस्पर दुर्व्यवहार किया था। जब वे कैदी नवाब के सामने लाये गये तो नवाब ने पूछा कि ऐसे कैदियों को कहाँ रखा जाए? कुछ अंग्रेजों ने स्वयं ही एक कोठरी की ओर इशारा किया और नवाब ने उनको वहीं कैद करने की आज्ञा दे दी। नवाब के अधिकारियों ने, जो अंग्रेजों से अप्रसन्न थे, उन सभी को एक कोठरी में बन्द कर दिया जिसमें यह दुर्घटना हुई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि या तो यह घटना हुई ही नहीं और यदि हुई तो कम से कम नवाब इस दुर्घटना के लिए उत्तरदायी नहीं था।

15.3 अलीनगर (कलकत्ता) की सन्धि [The Treaty of Alinagar (Calcutta)]

कलकत्ता के पतन की सूचना जब मद्रास पहुँची तो कलकत्ता पर पुनः अधिकार करने के लिए एक सेना, जो अंग्रेजों ने फ्रान्सीसियों के विरुद्ध युद्ध के लिए गठित की थी, को समुद्री मार्ग से एडमिरल वाटसन (Watson) और स्थल-मार्ग से क्लाइव के अधीन भेजा गया। यह सेना 16 अक्टूबर, 1756 ई. को मद्रास से चलकर 14 दिसम्बर, 1756 ई. को बंगाल पहुँच गयी। नवाब सिराजुद्दौला को प्रत्यक्ष: इसका कोई पता नहीं था। क्लाइव ससैन्य कलकत्ता की ओर रवाना हुआ। नवाब के प्रभारी अधिकारी मानिक चन्द ने अंग्रेजों से घूस ले ली थी। वह लड़ाई लड़ने का बहाना बनाकर मुर्शिदाबाद भाग गया। क्लाइव ने बिना किसी घमासान लड़ाई के 2 जनवरी, 1757 को कलकत्ता पर पुनः अधिकार कर लिया और हुगली तथा आसपास के प्रदेश को लूटा। सिराजुद्दौला एक बड़ी सेना लेकर कलकत्ता की ओर गया।



क्या आप जानते हैं? एक साधारण युद्ध के पश्चात् सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों के साथ 9 फरवरी, 1757 को ‘अलीनगर (नवाब द्वारा दिया गया कलकत्ता का नया नाम) की सन्धि, पर हस्ताक्षर कर दिये।

इस अलीनगर की सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थीं—

- (1) मुगल बादशाह द्वारा अंग्रेजों को दी गयी सभी सुविधाओं को नवाब ने स्वीकार कर लिया।
- (2) अंग्रेजों के ‘दस्तक’ से जो भी सामान आयेगा, उस पर बंगाल, बिहार, और उड़ीसा की सीमाओं में कोई कर नहीं लिया जायेगा।

नोट

- (3) नवाब कम्पनी और उसके कर्मचारियों की उन सभी वस्तुओं को वापस कर देगा जिन्हें नवाब ने छीन लिया था। इसके अतिरिक्त नवाब क्षतिपूर्ति के रूप में अंग्रेजों को धन देगा।
- (4) अंग्रेज कलकत्ता की किलेबन्दी अपनी इच्छानुसार करेंगे।
- (5) अंग्रेजों को अपने सिक्के बनाने का अधिकार होगा।

अलीनगर की सन्धि का परिणाम अंग्रेजों और नवाब के बीच सद्भावना स्थापित होना नहीं था। उस अवसर पर दोनों शक्तियों ने अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सन्धि को स्वीकार कर लिया था और दोनों में से किसी की भी इच्छा उस सन्धि की शर्तों को पूरा करने की न थी। भारत में 'सप्तवर्षीय युद्ध' की सूचना आ गयी थी और अंग्रेजों को फ्रान्सीसियों एवं नवाब के मिल जाने का भय था। क्लाइव ने स्वयं कहा था—“एक या दो दिन की देर भी फ्रान्सीसियों और नवाब के मिल जाने से कम्पनी की स्थिति को पूर्णतः नष्ट कर सकती थी।”



सावधानी बंगाल में फ्रान्सीसियों के पास 800 यूरोपियन सैनिक और अच्छा तोपखाना था तथा कलकत्ता से केवल 300 मील दूर 'उत्तरी-सरकार' प्रदेश में बुसी उपस्थित था। यदि उस समय फ्रान्सीसी और नवाब मिल जाते तो अंग्रेजों के लिए कठिनाई हो सकती थी।

इसके अतिरिक्त क्लाइव के सम्बन्ध एडमिरल वाटसन तथा कलकत्ता की कौंसिल से अच्छे नहीं चल रहे थे क्योंकि वे क्लाइव के असीमित अधिकारों से असन्तुष्ट थे। इस कारण अंग्रेजों के लिए सन्धि करना लाभदायक था और जिन शर्तों पर उन्होंने सन्धि की वे सम्मानजनक तथा उनके प्रभाव को बढ़ाने वाली थीं। सिराजुद्दौला को भी कुछ कठिनाइयों के कारण सन्धि करना आवश्यक हो गया था। उसके मुख्य सरदार और उसका श्वसुर मुहम्मद इराजख़ाँ सन्धि के पक्ष में थे। उसी अवसर पर मुगल बादशाह के विरुद्ध अहमदशाह अब्दाली की विजय के कारण नवाब घबरा गया। उसे यह भय हो गया कि कहीं रुहेलों और अवध के नवाब की सहायता लेकर अब्दाली बंगाल पर भी आक्रमण न कर दे। इस प्रकार दोनों पक्षों ने कुछ विशेष परिस्थितियों में यह सन्धि स्वीकार की थी अन्यथा दोनों में से कोई भी पक्ष सद्भावना के पक्ष में न था। ऐसी स्थिति में युद्ध कभी भी हो सकता था और उस युद्ध में अधिक देर लगी भी नहीं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

5. को नवाब ने अंग्रेजों के कासिमबाजार की कोठी पर आक्रमण कर कब्जा कर लिया।
 (अ) 6 जून (ब) 5 जून
 (स) 10 जून (द) 2 जून।
6. सिराजुद्दौला ने का नाम अलीनगर रख दिया।
 (अ) कलकत्ता (ब) दिल्ली
 (स) लखनऊ (द) बंगाल।
7. मुगल बादशाह के विरुद्ध अहमदशाह अब्दाली की विजय के कारण घबरा गया।
 (अ) अंग्रेज (ब) फ्रान्सीसी
 (स) नवाब (द) पुर्तगाली।
8. नवाब का अपनी हिन्दू प्रजा के साथ व्यवहार सद्भावनापूर्ण था।
 (अ) सिराजुद्दौला (ब) मीरकासिम
 (स) अलीवर्दीख़ाँ (द) मीरजाफर।

15.4 प्लासी युद्ध के कारण (Causes of Plassey Battle)

नोट

- (अ) **अलीनगर की सन्धि की शर्तों का पूरा न होना**—अंग्रेज और नवाब दोनों में से कोई भी सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिए तैयार न था। नवाब ने क्षतिपूर्ति के रूप में जो धन अंग्रेजों को देने का वायदा किया था, उसे पूरा नहीं किया। **रैमजे म्योर (Ramsay Muir)** ने लिखा है—“नवाब सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिए तत्पर न था, इस कारण युद्ध आवश्यक बन गया।” इस कारण अंग्रेजों ने नवाब के द्वारा युद्ध की तैयारी करने से पहले ही युद्ध आरम्भ करना उचित समझा। नवाब, निःसन्देह, सन्धि की शर्तों को पूरा करने को तैयार न था परन्तु यही स्थिति अंग्रेजों की भी थी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज भलीभाँति जानते थे कि सिराजुद्दौला के सुरक्षित रहते हुए उनकी सुरक्षा सुनिश्चित नहीं थी।
- (ब) **अंग्रेजों द्वारा नवाब पर उसके द्वारा दिये गये आश्वासनों को पूरा न करने का दोषारोपण**—नवाब ने अपने कुछ व्यक्तिगत पत्रों में अंग्रेजों को आश्वासन दिया था कि नवाब अंग्रेजों के शत्रुओं से मित्रता नहीं रखेगा। अंग्रेजों ने इस आश्वासन को भी सन्धि की शर्तों की भाँति माना। नवाब ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि नवाब ने इस शर्त को सन्धि की शर्तों में सम्मिलित करने से इन्कार कर दिया था। जब अंग्रेजों ने मार्च 1757 ई. में चन्द्रनगर पर आक्रमण किया, तब नवाब ने बहुत बुरा माना और उसने फ्रान्सीसियों की सहायता के लिए कुछ सेना भेजी। इसे अंग्रेजों ने शत्रुता का व्यवहार माना और नवाब पर सन्धि की शर्तों को तोड़ने का आरोप लगाया। नवाब ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसके अतिरिक्त नवाब फ्रान्सीसियों को अंग्रेजों का शत्रु मानने को तैयार न था क्योंकि बंगाल में फ्रान्सीसियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया था।
- (स) **सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यन्त्र**—सिराजुद्दौला के विरुद्ध राज्य में असन्तोष व्याप्त था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। नवाब अलीवर्दीखान का अपनी हिन्दू प्रजा के साथ व्यवहार सद्भावनापूर्ण था और उन्हें राज्य में बड़े-बड़े पद प्राप्त थे, परन्तु सिराजुद्दौला धार्मिक दृष्टि से कट्टर था। उसकी धार्मिक अनुदारता की नीति से हिन्दू असन्तुष्ट थे। इसके अतिरिक्त नवाब ने राज्य के बड़े पदाधिकारियों तथा हिन्दू सेठों को भी असन्तुष्ट कर दिया था। रायबल्लभ को दीवान के पद से हटा दिया गया था, बंगाल के जगत-सेठ को, जो एक धनवान हिन्दू व्यापारी था, अपमानित किया गया था और मीरजाफर को मीरबख्शी के पद से हटा दिया गया था। इस कारण, कुछ मुसलमान सरदार प्रभावशाली हिन्दुओं की सहायता से नवाब को गद्दी से हटाने का षड्यन्त्र कर रहे थे और इस षड्यन्त्र में प्रमुख व्यक्ति मीरजाफर था जो उस समय भी राज्य की सेना का सेनापति था। धनवान हिन्दू इस षड्यन्त्र में शामिल थे जिनमें महाराजा कृष्णचन्द्र और जगत-सेठ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अंग्रेज भी इस षड्यन्त्र में शामिल हो गये। हिन्दू व्यापारियों और अंग्रेजों के आर्थिक हितों में पर्याप्त निकटता भी थी। इसी कारण अंग्रेजों को इसमें सम्मिलित किया जाना कठिन न था। अप्रैल 1757 ई. में जब प्रथम बार अंग्रेजों को इस षड्यन्त्र में सम्मिलित होने का संकेत दिया गया तो अंग्रेजों ने इसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। आर्थिक हितों की सुरक्षा के अतिरिक्त अंग्रेजों को यह भी विश्वास था कि सूबे के शासन में परिवर्तन होने और स्वयं उस परिवर्तन में सहायता देने से वे विभिन्न प्रकार के लाभ प्राप्त कर सकते थे।

10 जून, 1757 ई. में अंग्रेजों और अन्य षड्यन्त्रकारियों में एक सन्धि हो गयी। इस सन्धि के द्वारा निश्चित किया गया कि मीरजाफर को बंगाल का नवाब बनाया जायेगा। इसके बदले में मीरजाफर, नवाब बनने के पश्चात् कलकत्ता में हुई कम्पनी की हानि की क्षतिपूर्ति के लिए एक करोड़ रुपया अंग्रेज कम्पनी को, यूरोपियनों की हानि-पूर्ति के लिए 50 लाख रुपया यूरोपियन नागरिकों को तथा 20 लाख रुपया हिन्दू व्यापारियों को उन्हें हुई हानि की पूर्ति हेतु देगा। वह युद्ध में होने वाले व्यय की क्षतिपूर्ति भी करेगा। वह अंग्रेज कम्पनी को कलकत्ता की सम्पूर्ण भूमि का स्वामित्व और उसके दक्षिण की भूमि के जमींदार अधिकार भी देगा तथा हुगली के निकट कोई किलेबन्दी नहीं करेगा। जब षड्यन्त्र की योजना पूरी हो गयी और प्रत्येक प्रकार का समझौता हो गया तब अमीचन्द ने धमकी दी कि यदि उसे 30 लाख रुपया और नवाब के खजाने का 50% भाग देने का वचन नहीं दिया गया तो वह सम्पूर्ण षड्यन्त्र से नवाब को परिचित करा देगा। अमीचन्द इस षड्यन्त्र में दोनों पक्षों के बीच बातचीत व समझौता कराने

नोट

में सहायता कर रहा था और उसे षड्यन्त्र की पूरी जानकारी थी। क्लाइव ने इस कारण दो सन्धियाँ तैयार करायीं—एक सफेद कागज पर जो सच्ची थी और दूसरी लाल कागज पर जो झूठी थीं और जिसमें अमीचन्द की शर्तों को स्वीकार किया गया था। झूठी सन्धि के कागज पर वाटसन ने हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। इस कारण क्लाइव ने उस पर वाटसन के जाली हस्ताक्षर बना दिये और इस प्रकार अमीचन्द को धोखा देकर सन्तुष्ट कर दिया गया और षड्यन्त्र पूरा हो गया।



टिप्पणी प्लासी युद्ध में सिराजुद्दौला के विरुद्ध हुए षड्यन्त्रों पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

15.5 प्लासी का युद्ध (The Battle of Plassey)

इसके पश्चात् क्लाइव ने नवाब पर दोषारोपण किया कि उसने अलीनगर की सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया है और नवाब का उत्तर मिलने से पहले ही वह अपनी सेनाओं को लेकर 'प्लासी के मैदान' की ओर चल दिया। प्लासी मुर्शिदाबाद के दक्षिण में 22 मील की दूरी पर स्थित एक गाँव था। नवाब सिराजुद्दौला ने भी अपनी सेना सहित क्लाइव का मुकाबला करने को प्रस्थान किया। उसके पास 50,000 सैनिक थे, जबकि विपक्षी अंग्रेज सेना में 950 यूरोपीय पदापि, 100 यूरोपीय तोपची 50 नाविक तथा 2,100 भारतीय सैनिक थे।



क्या आप जानते हैं 23 जून, 1757 को 'प्लासी का युद्ध' आरम्भ हुआ।

नवाब की एक अग्रगामी टुकड़ी जिसका नेतृत्व मीरमदान और मोहनलाल कर रहे थे और जिसे फ्रान्सीसी अफसर सहायता दे रहे थे, ने प्रत्यक्षतः युद्ध में भाग लिया और क्लाइव को वृक्षों के पीछे छिपने के लिए बाध्य किया। अंग्रेजों ने फ्रान्सीसियों को परास्त कर दिया और मीरमदान लड़ता-लड़ता मारा गया। दूसरी तरफ षड्यन्त्र के अनुरूप नवाब की अधिकांश सेना जिसका दाहिना भाग दुर्लभराय और बायाँ भाग मीरजाफर के नेतृत्व में था, अंग्रेजों से मिले हुए थे। नवाब तुरन्त समझ गया कि उसके साथ धोखा और षड्यन्त्र हुआ है, अतः वह युद्ध क्षेत्र से भाग खड़ा हुआ परन्तु राजमहल के निकट पकड़ा गया और 2 जुलाई, 1757 ई. को मुर्शिदाबाद भेज दिया गया। वहाँ पर मीरजाफर के लड़के मीरन ने उसे मुहम्मद बेग के द्वारा कत्ल करा दिया। 24 जून को मीरजाफर मुर्शिदाबाद पहुँचा और पाँच दिन पश्चात् 29 जून, 1757 को क्लाइव ने वहाँ पहुँचकर उसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा का नवाब घोषित कर दिया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य चुनें—

(State whether the following statements are True/False)

9. मीरजाफर और दुर्लभराय दोनों ने युद्ध (प्लासी) के मैदान में नवाब को धोखा दिया।
10. इस युद्ध से अंग्रेजों को आर्थिक हानि हुई।
11. 1757 ई. में अंग्रेजों ने सबसे पहले टकसाल स्थापित कर अपना सिक्का चलाया।
12. बंगाल भारत का एक संपन्न सूबा था।

15.6 प्लासी युद्ध के परिणाम (Results of the Plassey Battle)

सैनिक दृष्टि से प्लासी का युद्ध महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। यद्यपि नवाब की सेना अंग्रेजों की सेना से बहुत बड़ी थी परन्तु उसकी अधिकांश सेना ने युद्ध में भाग नहीं लिया था। अंग्रेजों के केवल 65 व्यक्ति मारे गये थे और

नोट

नवाब के 500 सैनिक। मीरजाफर और दुर्लभराय दोनों ने युद्ध के मैदान में सिराजुद्दौला को धोखा दिया। अतएव नवाब की पराजय का कारण सैनिक दुर्बलता न होकर क्लाइव की कूटनीति और षड्यन्त्र था। उसने जगत-सेठ के भय और मीरजाफर की महत्वाकांक्षाओं का पूर्ण लाभ उठाया।



नोट्स के. एम. पणिक्कर ने लिखा है—“प्लासी एक ऐसा व्यापार था जिसमें बंगाल के धनवान सेठों और मीरजाफर ने नवाब को अंग्रेजों के हाथों बेच दिया था।”

प्लासी का युद्ध बंगाल में बाद की घटनाओं की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। अंग्रेजों को इससे आर्थिक लाभ हुआ। अमीचन्द को अंग्रेजों ने कुछ नहीं दिया और स्वयं 72,71,666 रुपये पहले, 16,55,358 रुपये उसके पश्चात् और पुनः 15,99,737 रुपये प्राप्त किये। यह विश्वास किया जाता है कि अंग्रेजों को धन देने के लिए नवाब मीरजाफर को अपने महल के बर्तन और अन्य सामान तक बेचना पड़ा था। 24-परगना की जागीर भी नवाब ने अंग्रेजों को दी। अंग्रेजी व्यापार को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सीमाओं के अन्तर्गत पूर्ण स्वतंत्रता दी गयी और इन सूबों के विभिन्न भागों में अंग्रेजों ने अपनी फैक्ट्रियाँ स्थापित कीं। अंग्रेजों ने 1757 ई. में सबसे पहले कलकत्ता में टकसाल स्थापित की और अपना सिक्का चलाया। कम्पनी के सभी बड़े कर्मचारियों और स्वयं क्लाइव को मीरजाफर ने बहुमूल्य उपहार भेंट-स्वरूप दिये। बंगाल उस समय भारत का एक सम्पन्न सूबा था। उसके व्यापार और सम्पत्ति पर अधिकार करके अंग्रेजों ने कर्नाटक के युद्धों में सफलता पायी और धीरे-धीरे भारत में अपनी राजनीतिक स्थिति को दृढ़ किया। बंगाल में फ्रान्सीसी कभी भी नहीं पनप सके और डचों ने अंग्रेजों के विरुद्ध जो भी प्रयत्न किये, वे उनमें असफल हुए।

राजनीतिक दृष्टि से यह युद्ध और भी अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। नवाब मीरजाफर नाममात्र का शासक था। वह अंग्रेजों की सहायता से नवाब बना था और उन्हीं की सहायता से अपनी शक्ति को स्थापित रख पा रहा था। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज ही बंगाल के मालिक बन गये थे। 6,000 सैनिकों की एक अंग्रेजी सेना नवाब की सहायता के लिए रहती थी। नवाब की असहायता इसी बात से स्पष्ट है कि वह अपने दीवान दुर्लभराय और बिहार के नाइब-दीवान रामनारायण को अंग्रेजों के हस्तक्षेप के कारण चाहते हुए भी दण्ड नहीं दे सका। अंग्रेजों की सहायता से कोई भी व्यक्ति राज्य में कैसा भी स्थान प्राप्त कर सकता था और नवाब असहाय था। अपनी असहाय स्थिति के कारण ही क्लाइव के बंगाल से जाते ही नवाब ने अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्त होने का प्रयत्न किया यद्यपि वह इसमें असफल हुआ। अंग्रेजों का राजनीतिक प्रभुत्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि मीरजाफर को गद्दी से हटाने के लिए उन्हें किसी रक्तपात अथवा युद्ध की आवश्यकता नहीं हुई। प्लासी के युद्ध के महत्त्व का वर्णन करते हुए इतिहासकार **जी.वी. मालेसन** ने लिखा है, “कोई ऐसा युद्ध नहीं हुआ है, जिसके तात्कालिक तथा स्थायी परिणाम इतने महत्वपूर्ण हुए हों।”

इस युद्ध का नैतिक प्रभाव भी महत्वपूर्ण था। एक व्यापारिक कम्पनी ने बंगाल के सूबेदार और वास्तविक शासक को युद्ध में परास्त कर दिया था। इससे अंग्रेज कम्पनी की प्रतिष्ठा स्थापित हुई और भारत की राजनीतिक दुर्बलता स्पष्ट हुई। यह भी स्पष्ट हो गया कि हिन्दू जमींदार और व्यापारी पतनोन्मुख मुसलमानी राज्यों को विदेशियों की सहायता से समाप्त करने के लिए तत्पर थे। अंग्रेजों की व्यापारिक और साम्राज्य-विस्तार की नीति प्लासी के युद्ध के पश्चात् आरम्भ हुई।

इस प्रकार प्लासी का युद्ध इतिहास में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने वाला सिद्ध हुआ।

15.7 सारांश (Summary)

- अनेक अंग्रेज इतिहासकारों ने नवाब सिराजुद्दौला की विलासिता, क्रूरता और शासन में अत्याचार को झगड़े का मुख्य कारण बताया है, परन्तु यह विचार मान्य नहीं है। नवाब का शासन भारत के उस समय के अन्य

नोट

शासकों के शासन से भिन्न था और न उसके अत्याचार ही अंग्रेजों द्वारा उसके विरोध का कारण थे। झगड़े के मुख्य कारण कुछ अन्य थे जो निम्नलिखित हैं—

1. राजनीतिक, 2. सिराजुद्दौला का प्रारम्भ से ही अंग्रेजों पर सन्देह करना, 3. नवाब के प्रति अंग्रेजों का दुर्व्यवहार, 4. व्यापारिक झगड़ा, 5. अंग्रेजों का कृष्णबल्लभ को नवाब के हाथों में देने से इन्कार करना, 6. अंग्रेजों द्वारा कलकत्ता के किले की किलेबन्दी करना और नवाब की आज्ञा का पालन न करना।
- 4 जून को नवाब ने अंग्रेजों की कासिमबाजार की कोठी पर आक्रमण कर कब्जा कर लिया। 20 जून को नवाब ने किले पर अधिकार कर लिया। उसने कलकत्ता का नाम अलीनगर रख दिया। यहीं पर ‘कालकोठरी की दुर्घटना’ (Black Hole Tragedy) का होना माना जाता है।
- कलकत्ता के पतन की सूचना जब मद्रास पहुँची तो कलकत्ता पर पुनः अधिकार करने के लिए एक सेना, जो अंग्रेजों ने फ्रान्सीसियों के विरुद्ध युद्ध के लिए गठित की थी, को समुद्री मार्ग से एडमिरल वाटसन (Watson) और स्थल-मार्ग से क्लाइव के अधीन भेजा गया।
- क्लाइव ने बिना किसी घमासान लड़ाई के 2 जनवरी, 1757 को कलकत्ता पर पुनः अधिकार कर लिया और हुगली तथा आसपास के प्रदेश को लूटा।
- दोनों पक्षों ने कुछ विशेष परिस्थितियों में अलीनगर की सन्धि स्वीकार की थी अन्यथा दोनों में से कोई भी पक्ष सद्भावना के पक्ष में न था। ऐसी स्थिति में युद्ध कभी भी हो सकता था और उस युद्ध में अधिक देर लगी भी नहीं। 23 जून, 1757 को ‘प्लासी का युद्ध’ आरम्भ हुआ।
- इस युद्ध का नैतिक प्रभाव भी महत्वपूर्ण था। एक व्यापारिक कम्पनी ने बंगाल के सूबेदार और वास्तविक शासक को युद्ध में परास्त कर दिया था। इससे अंग्रेज कम्पनी की प्रतिष्ठा स्थापित हुई और भारत की राजनीतिक दुर्बलता स्पष्ट हुई।

15.8 शब्दकोश (Keywords)

- **दस्तक (Free Pass)**—बिना कर दिये व्यापार, करमुक्त व्यापार का आज्ञा-पत्र।
- **अमानुषिक**—जो मनुष्य के योग्य न हो, क्रूर, अमानवीय कार्य।
- **सप्तवर्षीय युद्ध**—सात वर्षों तक चलने वाली लड़ाई।

15.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के अंग्रेजों के साथ झगड़े या विवाद के क्या कारण थे? स्पष्ट करें।
2. सिराजुद्दौला के कलकत्ता पर आक्रमण एवं कालकोठरी की घटना का वर्णन करें।
3. क्या कालकोठरी की घटना में नवाब दोषी था? अपने विचार व्यक्त करें।
4. कलकत्ता की कालकोठरी घटना को असत्य प्रमाणित किये जाने वाले तर्कों पर प्रकाश डालें।
5. अलीनगर (कलकत्ता) संधि एवं उसकी मुख्य शर्तों का उल्लेख करें।
6. प्लासी युद्ध एवं युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालें।
7. प्लासी युद्ध के क्या परिणाम हुए? उल्लेख करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

- | | | | |
|--------------|----------------|--------------|-------------------|
| 1. नवाब | 2. व्यावहारिक | 3. अंग्रेजों | 4. घसीटी |
| 5. (ख) 5 जून | 6. (क) कलकत्ता | 7. (ग) नवाब | 8. (ग) अलवर्दीखाँ |
| 9. सत्य | 10. असत्य | 11. सत्य | 12. सत्य। |

15.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

नोट



पुस्तकें

1. भारतीय शासन और राजनीति—वासुकीनाथ चौधरी, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान।
2. प्राचीन भारत का इतिहास—रामशंकर त्रिपाठी, साउथ एशियन बुक्स।
3. 18वीं सदी में भारत—रोमेश चन्द्र दत्त, नाबू प्रेस।
4. औपनिवेशिक काल में भारत—डगलस एम. पीयर्स, पीयर्सन एजुकेशनल प्रेस।
5. मध्यकालीन भारत—सतीश चन्द्र, हरआनन्द पब्लिकेशन्स।
6. सल्तनत काल में समाज और संस्कृति—अनिल सक्सेना, अनमोल प्रकाशन।
7. मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ. माणिकलाल गुप्त, अटलांटिक पब्लिकेशन्स।
8. भारत का वृहत् इतिहास : सल्तनत काल—खालिक अहमद निजामिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।